जैन विश्वभारती संस्थान

लाडनूँ – 341306 (राजस्थान)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

एम.ए. (पूर्वार्द्ध)

जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म तथा दर्शन

चतुर्थ पत्र

जैन ज्ञान मीमांसा एवं जैन न्याय

---

laoxZ-I	%	tSu Kku ,oa n'kZu
laoxZ-II	%	efrKku] JqrKku
laoxZ-III	%	vof/k] eu%i;kZ; ,oa dsoyKku
laoxZ-IV	%	tSu U;k; ,oa izR;{k izek.k
laoxZ-V	%	tSu ijks{k izek.k

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विशेषज्ञ समिति

प्रो. दयानन्द भार्गव
पूर्व विभागाध्यक्ष संस्कृत
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय
जोधपुर (राज.)

प्रो. अरूण मुखर्जी
पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शन
जादवपुर विश्वविद्यालय
कोलकाता

प्रो. कुसुम जैन
विभागाध्यक्ष, दर्शन विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

डॉ. विमला भण्डारी
पूर्व विभागाध्यक्ष दर्शन
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय
जोधपुर (राज.)

प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी
निदेशक, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय,
लाडनूं

प्रो. समणी चैतन्यप्रज्ञा
विभागाध्यक्ष, जैनविद्या विभाग
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं

प्रो. समणी ऋजुप्रज्ञा
विभागाध्यक्ष
प्राच्यविद्या एवं भाषा विभाग,
जैन विश्वभारती वि.वि., लाडनूँ

डॉ. समणी शुभ प्रज्ञा
सहायक आचार्य
दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं

लेखक दलः

प्रो. मुनि महेन्द्र कुमार
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय,
लाडनूं

डॉ. समणी स्थितप्रज्ञा
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय
लाडनूं

मुनिश्री चन्द्र 'कमल'
लाडनूं

साध्वी यशोधरा
साध्वी सिद्धप्रज्ञा

समणी जयन्तप्रज्ञा
समणी शारदाप्रज्ञा

समणी डॉ. हिमप्रज्ञा
सहा. प्रोफेसर, जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं

समणी चिन्मयप्रज्ञा
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय
लाडनूं

डॉ. अशोक कुमार जैन
सह–आचार्य, जैनविद्या
बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी

प्रो. जिनेन्द्र जैन
विभागाध्यक्ष, संस्कृत एवं प्राकृत
मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर

प्रो. जे.आर. भट्टाचार्य
विभागाध्यक्ष, संस्कृत एवं प्राकृत
जैन विश्वभारती वि.वि., लाडनूं

प्रो. हरिशंकर पाण्डेय
सह–आचार्य, संस्कृत एवं प्राकृत
डॉ. सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय
वाराणसी

प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी
निदेशक, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय लाडनूं

सम्पादक मण्डल– 1. प्रो. समणी चैतन्य प्रज्ञा
विभागाध्यक्ष – जैनविद्या विभाग,
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं

2. डॉ. समणी शुभप्रज्ञा
सहायक–आचार्य, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं

कॉपीराइट :
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूँ –341306 (राजस्थान)

संस्करण : 2016

मुद्रण संख्या : ...

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विषयानुक्रमणिका

संवर्ग	पाठ	पृष्ठ संख्या
संवर्ग–1	इकाई–1. जैन ज्ञान मीमांसा का उद्‌भव और विकास	1–7
	इकाई–2. ज्ञान और ज्ञेय	8–14
	इकाई–3. दर्शन का स्वरूप एवं उसके भेद	15–21
संवर्ग–2	इकाई–4. मतिज्ञान	22–28
	इकाई–5. श्रुतज्ञान	29–49
	इकाई–6. इन्द्रिय और मन	50–54
संवर्ग–3	इकाई–7. अवधिज्ञान	55–61
	इकाई–8. मनःपर्यवज्ञान	62–70
	इकाई–9. केवलज्ञान	71–79
संवर्ग–4	इकाई–10. जैन न्याय का उद्‌भव एवं विकास	80–91
	इकाई–11. भारतीय न्याय के विकास में जैन आचार्यों का योगदान	92–102
	इकाई–12. प्रमाण का लक्षण	103–109
	इकाई–13. प्रत्यक्ष प्रमाण	110–124
संवर्ग–5	इकाई–14. परोक्ष प्रमाण (स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, आगम)	125–132
	इकाई–15. प्रमेय, प्रमिति, प्रमाता	133–139
	इकाई–16. अनुमान प्रमाण, व्याप्ति, हेतु स्वरूप	140–150

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संवर्ग–1 : जैन ज्ञान एवं दर्शन

इकाई–1 : जैन ज्ञानमीमांसा का उद्‌भव और विकास

संरचना

1.0 प्रस्तावना
1.1 उद्देश्य
1.2 आगम पूर्ववर्ती ज्ञान चर्चा
1.3 आगमयुग में ज्ञान
1.4 ज्ञान चर्चा की स्वतंत्रता
1.5 जैन आगमों में प्रमाण चर्चा
1.6 सारांश
1.7 अभ्यास प्रश्नावली

1.0 प्रस्तावना

मानव संस्कृति के उदयकाल से ही ज्ञान विमर्श का विषय रहा है। हर सभ्यता, संस्कृति ने ज्ञान की महत्ता को निर्विवाद रूप से स्वीकृत किया है। धर्म–दर्शन के इतिहास के परिप्रेक्ष्य में ज्ञान के अस्तित्व का चिंतन सुदूर अतीत तक चला जाता है। जैन परम्परा में ज्ञान की विशद चर्चा उपलब्ध है। ज्ञान से संबंधित उपलब्ध साहित्य के आधार पर यह सप्रमाण कहा जा सकता है कि जैन दर्शन में मात्र ज्ञान मीमांसा पर नंदी आदि सूत्रों का प्रणयन हुआ है। अन्य दर्शनों में निखालिस ज्ञान की चर्चा करने वाला ग्रन्थ अद्यप्रभृति उपलब्ध नहीं है।

1.1 उद्देश्य– इसके अध्ययन से जैन मीमांसा के उद्‌भव एवं विकास का ज्ञान हो सकेगा।

1.2 आगम पूर्ववर्ती ज्ञान चर्चा

जैन धर्म में आगम का सर्वोच्च स्थान है। वर्तमान में उपलब्ध जैन साहित्य में आगम ग्रन्थ ही सबसे अधिक प्राचीन है। उन आगमों में तो ज्ञान सिद्धान्त का वर्णन प्राप्त है ही किन्तु आगम से पूर्ववर्ती पूर्व साहित्य में भी ज्ञान चर्चा का उल्लेख था, इसका भी प्रमाण उपलब्घ है। विशेषावश्यक भाष्य में ज्ञान चर्चा के संदर्भ में एक गाथा उध्दृत की गयी है। जिसको भाष्यकार एवं वृत्तिकार ने पूर्व गाथा के रूप में स्वीकृत किया है—

बुद्धि दिट्ठे अत्थे जे भासइ, तं सुयं मई सहियं।
इयरत्थ वि होज्ज सुयं, उवलद्धि समं जइ भणेज्जा॥

पूर्व श्रुत जो भगवान् महावीर से भी पूर्ववर्ती था तथा अब वह नष्ट हो गया है ऐसी मान्यता है। उस पूर्व श्रुत में ज्ञान प्रवाद नाम का पूर्व था जिसमें पंचविधज्ञान की चर्चा थी दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों परम्पराएं इस तथ्य को स्वीकार करती है। कर्म संबंधी अति प्राचीन माने जाने वाले ग्रन्थों में भी पञ्चविध ज्ञान के आधार पर ही ज्ञानावरणीय कर्म की प्रकृतियों का विभाजन है। कर्म संबंधी अवधारणा निश्चित रूप से लुप्त हुए कर्म प्रवाह पूर्व की अवशिष्ट परम्परा मात्र है। उपलब्ध श्रुत में प्राचीन माने जाने वाले आगमों में भी पंचविध ज्ञान की स्पष्ट चर्चा है। उत्तराध्ययन जैसे प्राचीन मूलसूत्र में भी उनका वर्णन है। नंदीसूत्र में तो केवल पञ्चज्ञान की ही चर्चा है। आवश्यक निर्युक्ति जैसे प्राचीन व्याख्या ग्रन्थ का मंगलाचरण पंचज्ञान के द्वारा ही किया गया है। पंच ज्ञान की भगवान् महावीर से भी पूर्ववर्ती राजप्रश्नीय सूत्र के द्वारा ज्ञात होती है। शास्त्रकार ने भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्य केशीकुमार के मुख से ये वाक्य कहलवाये हैं—

एवं खु पएसी अम्हं समणाणं निग्गंथाणं पंचविहे नाणे पण्णत्ते,
तं जहा आभिणिबोहियनाणे, सुयनाणे, ओहिणाणे मणपज्जवणाणे केवलणाणे ॥

इस उद्धरण से स्पष्ट फलित होता है कि इस आगम के संकलनकर्त्ता के मत से भगवान् महावीर से पहले भी श्रमणों में पांच ज्ञान की मान्यता थी। उनकी यह मान्यता निर्मूल भी नहीं है। उत्तराध्ययन के 23वें अध्ययन के केशी–गौतम–संवाद से स्पष्ट है कि भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा में प्रचलित आचार विषयक संशोधन महावीर ने किया है किन्तु पार्श्वनाथ परम्परा के तत्त्व चिन्तन में विशेष संशोधन नहीं किया है। इस

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संपूर्ण चर्चा से फलित होता है कि भगवान् महावीर ने पांच ज्ञान की नवीन चर्चा प्रारंभ नहीं की है किन्तु पूर्व परम्परा से जो चली आ रही थी उसको ही स्वीकार कर उसे आगे बढ़ाया है।

1.3 आगम युग में ज्ञान

आगम साहित्य के आलोक में ज्ञान चर्चा के विकास क्रम का अवलोकन करने से उसकी तीन भूमिकाओं का स्पष्ट आभास होता है।

1. प्रथम भूमिका में ज्ञान को पांच भेदों में ही विभक्त किया गया है।
2. द्वितीय भूमिका में ज्ञान को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष इन दो भेदों में विभक्त किया गया है। पांच ज्ञान में प्रथम दो मति एवं श्रुत को परोक्ष एवं अवधि मन:पर्यव एवं केवल ज्ञान को प्रत्यक्ष के अंतर्गत स्वीकार किया गया है। इस भूमिका में केवल आत्म सापेक्ष ज्ञान को ही प्रत्यक्ष स्वीकार किया है। इंद्रियों से उत्पन्न ज्ञान को परोक्ष माना गया है। जिस इंद्रिय ज्ञान को अन्य सभी दार्शनिक प्रत्यक्ष स्वीकार करते थे, वह इंद्रिय ज्ञान जैन आगमिक परम्परा में परोक्ष ही रहा।
3. तृतीय भूमिका में इंद्रिय-जन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों के अंतर्गत स्वीकार किया है। इस भूमिका में लोकानुसरण स्पष्ट है।

प्रथम भूमिकागत ज्ञान का वर्णन हमें भगवतीसूत्र में उपलब्ध होता है। वहां पर ज्ञान को पांच भागों में विभक्त किया है। जो निम्न सारिणी से समझा जा सकता है—

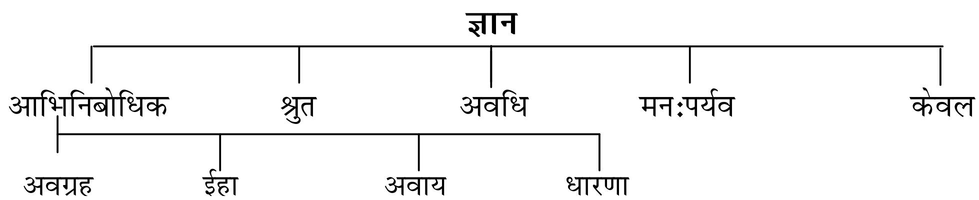

भगवतीसूत्र में ज्ञान संबंधी इससे आगे के वर्णन का राजप्रश्नीय सूत्र से पूरा करने का निर्देश दिया गया है तथा राजप्रश्नीय में पूर्वोक्त भेदों के अतिरिक्त अवग्रह के दो भेदों का कथन करके शेष की नंदीसूत्र से पूर्ति करने की सूचना दी गई है। इस वर्णन का तात्पर्यार्थ यही है कि शेष वर्णन नंदी के अनुसार होने पर भी यह अंतर है कि इस भूमिका में नंदीसूत्र के प्रारंभ में कथित प्रत्यक्ष और परोक्ष भेदों का कथन नहीं है तथा नंदी में आगत श्रुतनिश्रित एवं अश्रुतनिश्रित का भी इस भूमिका में उल्लेख नहीं है। इसी आधार पर कहा जा सकता है कि यह वर्णन प्राचीन भूमिका का है। स्थानांगगत ज्ञान चर्चा द्वितीय भूमिका की प्रतिनिधि है। स्थानांग में ज्ञान के प्रत्यक्ष एवं परोक्ष ये दो भेद किये गये हैं तथा पांच ज्ञानों का समाहार इन दो भेदों में हुआ है। इस सूत्र में मुख्यत: ज्ञान के दो भेदों का उल्लेख है, पांच का नहीं। यह स्पष्ट ही प्रथम भूमिका का विकास है।

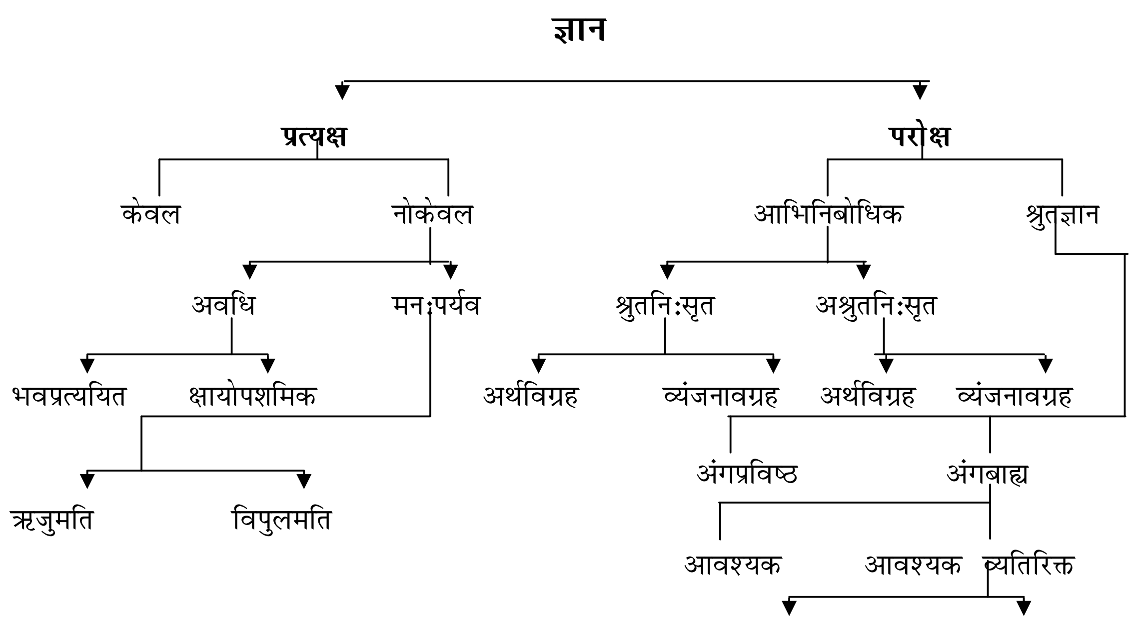

इसी वर्गीकरण के आधार पर आचार्य उमास्वाति ने भी प्रमाण को प्रत्यक्ष, परोक्ष में विभक्त करके उन्हीं दो भेदों में पंचज्ञानों का समावेश किया है तथा पश्चात्वर्ती जैन तार्किकों ने प्रत्यक्ष के सकल एवं विकल के भेद से दो विभाग किये। इस वर्गीकरण का आधार भी स्थानांग में आगत प्रत्यक्ष के केवल एवं नोकेवल ये दो भेद हैं। ज्ञान चर्चा विकास क्रम की तृतीय आगमिक भूमिका का आधार नंदीसूत्र में उपलब्ध ज्ञान चर्चा है।

ज्ञान				
(1. आभिनिबोधिक 2. श्रुत 3. अवधि 4. मनःपर्यव ज्ञान 5. केवल)				
प्रत्यक्ष		**परोक्ष**		
इन्द्रिय प्रत्यक्ष	**नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष**	**आभिनिबोधिक**		**श्रुत**
1. श्रोत्रेन्द्रिय प्रत्यक्ष 2. चक्षुरिन्द्रिय प्रत्यक्ष 3. घ्राणेन्द्रिय प्रत्यक्ष 4. जिह्वेन्द्रिय प्रत्यक्ष 5. स्पर्शनेन्द्रिय प्रत्यक्ष	1. अवधि 2. मनःपर्यव 3. केवल	**श्रुतनिःश्रुत** 1. अवग्रहः (1) व्यंजनावग्रह (2) अर्थावग्रह 2. ईहा 3. अवाय 4. धारणा	**अश्रुतनिःश्रुत** 1. औत्पत्तिकी 2. वैनयिकी 3. कार्मिक 4. पारिणामिकी	

नंदी में सर्वप्रथम ज्ञान को पांच भागों में विभक्त करके फिर उन पांच का समावेश प्रत्यक्ष एवं परोक्ष इन दो भेदों में किया गया है। प्रत्यक्ष एवं इन्द्रिय एवं नोइन्द्रिय ये दो भेद किये गये हैं। इन्द्रिय प्रत्यक्ष में पांच इन्द्रियों से उत्पन्न ज्ञान का एवं नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष में अवधि, मनःपर्यव एवं केवलज्ञान का उल्लेख है। अभिनिबोध एवं श्रुतज्ञान को परोक्षान्तर्गत स्वीकार किया गया है। परोक्ष आभिनिबोध के श्रुतनिश्रित एवं अश्रुतनिश्रित ये दो भेद हैं। श्रुतनिश्रित के अवग्रह आदि चार भेद हैं। अश्रुतनिश्रित औत्पत्तिकी आदि चार बुद्धियों को माना है। इस विभाजन की यह विशेषता है कि इसमें इन्द्रियजन्य मतिज्ञान को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों भेदों के अंतर्गत स्वीकार किया गया है। ऐसा भेद उपर्युक्त दो भूमिकाओं में नहीं है। जैनेतर सभी दर्शनों ने इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष माना है अतः जैन जिनभद्र ने इस समन्वय को ही लक्ष्य में रखकर स्पष्टीकरण किया है कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहना चाहिए। तात्पर्यार्थ यही है कि इन्द्रिय ज्ञान वस्तुतः तो परोक्ष ही है किन्तु लोक व्यवहार के कारण उसको प्रत्यक्ष कहा गया है। वास्तविक प्रत्यक्ष तो अवधि मनःपर्यव और केवलाान ही है। परमार्थ रूप से जो ज्ञान केवल आत्मसापेक्ष है वही प्रत्यक्ष है। उपर्युक्त विवेचन से ये तथ्य स्पष्ट हो जाते हैं कि—

1. अवधि मनःपर्यव और केवल ये ज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं।
2. श्रुत परोक्ष ही है।
3. इन्द्रियजन्य मतिज्ञान पारमार्थिक दृष्टि से परोक्ष है और व्यावहारिक दृष्टि से प्रत्यक्ष है।
4. मनोजन्य मतिज्ञान परोक्ष ही है।

1.4 ज्ञान चर्चा की स्वतंत्रता

पंच ज्ञान चर्चा के क्रमिक विकास की इन तीनों आगमिक भूमिकाओं की विशिष्टता यह है कि इनमें ज्ञान चर्चा के साथ अन्य दर्शनों में प्रसिद्ध प्रमाण-चर्चा के साथ कोई समन्वय स्थापित नहीं किया। ज्ञान को अधिकारी की अपेक्षा से, सम्यक् (सही) एवं मिथ्या (गलत) माना गया। इस सम्यक् एवं मिथ्या विशेषण रूप ज्ञान के द्वारा ही आगमिक युग में प्रमाण एवं अप्रमाण के प्रयोजन को सिद्ध किया गया। आगम युग में प्रमाण, अप्रमाण ऐसे विशेषण नहीं दिये गये हैं किन्तु प्रथम तीन मति, श्रुत, अवधि को ज्ञाता की अपेक्षा मिथ्या तथा सम्यक् स्वीकार किया गया है तथा अंतिम दो को सम्यक् ही माना है। अतः ज्ञान को साक्षात् प्रमाण, अप्रमाण न कहकर भी भिन्न प्रकार से उस प्रयोजन को निष्पादित कर लिया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1.4.1 ज्ञानविचार विकास

जैन परम्परा में ज्ञान संबंधी विचारों का विकास दो अलग-अलग दिशाओं से हुआ है: स्वदर्शनाभ्यास और दर्शनान्तराभ्यास। स्वदर्शन अभ्यासजनित ज्ञान विचार विकास के अंतर्गत अन्य दर्शनों की परिभाषाओं को अपनाने का प्रयत्न देखा नहीं जाता तथा परमत खण्डन प्राप्त नहीं है। दर्शनान्तर अभ्यासक्रम में ज्ञान विकास में अन्य दर्शनों की परिभाषाओं को आत्मसात् करने का प्रयत्न है तथा परमत खण्डन के साथ-साथ कभी जल्पकथा का भी अवलम्बन देखा जाता है। ज्ञान संबंधी जैन विचार विकास का जब हम अध्ययन करते हैं तब उसकी अनेक ऐतिहासिक भूमिकाएं जैन साहित्य में उपलब्ध होती है।

आगम युग से लेकर जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण तक ज्ञान विकास की भूमिकाओं को छह भागों में विभक्त कर सकते हैं। सातवीं उनके उत्तरवर्ती आचार्यों की हो सकती है।

भूमिका क्रम : 1. कर्मशास्त्रीय तथा आगमिक युग, 2. निर्युक्तिगत, 3. अनुयोगगत, 4. तत्त्वार्थगत, 5. सिद्धसेनीय, 6. जिनभद्रीय एवं 7. उत्तरवर्ती आचार्य परम्परा

1.4.2 कर्मशास्त्रीय तथा आगमिक युग

कर्म शास्त्रीय तथा आगमिक भूमिका में मति या अभिनिबोध आदि पांच ज्ञानों के नाम मिलते हैं तथा इन्हीं नामों के आस-पास में स्वदर्शन अभ्यास जनित ज्ञान के भेदों-प्रभेदों का विचार दृष्टिगोचर होता है।

1.4.3 निर्युक्तिगत ज्ञानमीमांसा

निर्युक्तियों को आगमों की प्रथम व्याख्या माना गया है। निर्युक्ति का वह भाग जो विक्रम की दूसरी शताब्दी का माना जाता है उसमें पंचविधज्ञान चर्चा है तथा निर्युक्ति में मति और अभिनिबोध शब्द के अतिरिक्त संज्ञा, स्मृति आदि पर्यायवाची शब्दों की वृद्धि देखी जाती है तथा उसमें ज्ञान के प्रत्यक्ष एवं परोक्ष ये दो विभाग भी उपलब्ध हैं। यह वर्गीकरण न्यूनाधिक रूप से अन्य दर्शनों के अभ्यास का सूचक है।

1.4.4 अनुयोगगत

अनुयोगद्वार सूत्र जिसको विक्रम की दूसरी शताब्दी का माना जाता है उसमें अक्षपादीय न्यायसूत्र के चार प्रमाणों का तथा उसी के अनुमान संबंधी भेद-प्रभेदों का संग्रह है जो दर्शनानन्तरीय अभ्यास का असंदिग्ध प्रमाण है आर्यरक्षित ने अनुयोगद्वार में पंचविध ज्ञान को सम्मुख रखते हुए भी न्यायदर्शन के प्रसिद्ध प्रमाण विभाग को तथा उसकी परिभाषाओं को जैन विचार क्षेत्र में लाने का सर्वप्रथम प्रयत्न किया है। अनुयोगद्वार के प्रारंभ में ही ज्ञान के पांच भेद बताए गये हैं। ज्ञान प्रमाण के विवेचन के प्रसंग में ही अनुयोगद्वार के कर्त्ता पंचज्ञान को ज्ञान प्रमाण के भेदरूप में बता देते किन्तु ऐसा न करके उन्होंने नैयायिकों में प्रसिद्ध चार प्रमाणों को ही ज्ञान प्रमाण के भेदरूप में सूचित किया है।

1.4.5 तत्त्वार्थगत

ज्ञान विकास की चतुर्थ भूमिका तत्त्वार्थ सूत्र एवं उसके स्वोपज्ञ (स्वरचित) भाष्य में उपलब्ध है। यह विक्रम की तीसरी शताब्दी की कृति है। वाचक ने निर्युक्ति प्रतिपादित प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रमाण का उल्लेख किया है तथा अनुयोगद्वार में स्वीकृत न्यायदर्शनीय चतुर्विध प्रमाण विभाग की ओर उदासीनता व्यक्त की है। वाचक के इस विचार का यह प्रभाव पड़ा कि उनके उत्तरवर्ती किसी भी तार्किक ने चतुर्विध प्रमाण को कोई स्थान नहीं दिया यद्यपि आर्यरक्षितसूरि जैसे प्रतिष्ठित अनुयोगधर के द्वारा एक बार जैन श्रुत में स्थान पाने के कारण न्यायदर्शनीय चतुर्विध प्रमाण भगवती आदि परम प्रमाणभूत माने जाने वाले आगमों में हमेशा के लिए संगृहीत हो गया। वाचक ने मीमांसा आदि दर्शनान्तर में प्रसिद्ध अनुमान, अर्थापत्ति आदि प्रमाणों का समावेश भी मतिश्रुत में किया है। ऐसा प्रयत्न वाचक से पूर्व किसी के द्वारा नहीं हुआ है।

1.4.6 सिद्धसेनीय ज्ञान विचारणा

सिद्धसेन दिवाकर दार्शनिक तार्किक जगत् के देदीप्यमान उज्ज्वल नक्षत्र हैं। उन्होंने अपनी तार्किक प्रतिभा के द्वारा ज्ञान के क्षेत्र में विभिन्न विचारणीय मुद्दों को प्रस्तुत किया है। ये विक्रम की पांचवी शताब्दी के विद्वान माने जाते हैं। ज्ञान विचारणा के क्षेत्र में उन्होंने अपूर्व बातें प्रस्तुत की। जैन परम्परा में उनसे पूर्व किसी ने शायद ऐसा सोचा भी नहीं होगा। सिद्धसेन दिवाकर के ज्ञान मीमांसा के मुख्य मुद्दों को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. मति एवं श्रुतज्ञान का वास्तविक ऐक्य। इनके अनुसार मति एवं श्रुतज्ञान अलग-अलग नहीं है। इन्हें दो पृथक् ज्ञान स्वीकार करने की कोई अपेक्षा नहीं है।
2. अवधिज्ञान एवं मनःपर्यवज्ञान में तत्वतः अभेद है। दिवाकरजी के अनुसार इन दो ज्ञानों को पृथक् स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। एक ज्ञान के स्वीकार से भी प्रयोजन सिद्धि हो जाती है।
3. केवलज्ञान एवं केवल दर्शन में अभेद—जैन परम्परा में मान्य केवलज्ञान एवं केवलदर्शन रूप उपयोग को इन्होंने पृथक् स्वीकृति नहीं दी तथा उनके अभेद समर्थन में अपनी महत्त्वपूर्ण तार्किक युक्तियों को प्रस्तुत किया।
4. सिद्धसेन दिवाकर ने श्रद्धान रूप दर्शन एवं ज्ञान में अभेद को भी स्वीकार किया है। इन चार नवीन मुद्दों को प्रस्तुत करके सिद्धसेन दिवाकर ने ज्ञान के भेद-प्रभेद की प्राचीन रेखा पर तार्किक विचार का नया प्रकाश डाला है। इन नवीन विचारों पर जैन परम्परा में काफी ऊहापोह हुआ। दिवाकर श्री ने इन चार मुद्दों पर अपने स्वोपज्ञ विचार सन्मति तर्क प्रकरण एवं निश्चय द्वात्रिंशिका में व्यक्त किए हैं। न्यायावतार की रचना करके प्रमाण के क्षेत्र में भी अभिनव उपक्रम प्रस्तुत किया है।

1.4.7 जिनभद्रीय ज्ञान मीमांसा

आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने ज्ञान विचार विकास के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। आगम परम्परा से लेकर उनके समय तक ज्ञान मीमांसा का जो स्वरूप उपलब्ध था उसी का आश्रय लेकर क्षमाश्रमण जी ने अपने विशालकाय ग्रंथ, विशेषावश्यक भाष्य में ज्ञान की विशद मीमांसा की है। विशेषावश्यक भाष्य में ज्ञान पञ्चक की ही 840 गाथाएं हैं। इस भाष्य में जिनभद्रगणि ने पंचविध ज्ञान की आगम आश्रित तर्कानुसारिणी सांगोपांग चर्चा प्रस्तुत की है। क्षमाश्रमणजी की इस विकास भूमिका को तर्क उपजीवी आगम भूमिका कहना अधिक युक्ति संगत है। उनका पूरा तर्क-बल आगम सीमा में आबद्ध देखा जाता है, विशेषावश्यक भाष्य में ज्ञान से सम्बन्धित सामग्री अत्यन्त व्यवस्थित रूप से गुम्फित कर दी है जो सभी श्वेताम्बर ग्रंथ प्रणेताओं के लिए आभारभूत बनी हुई है।

1.4.8 जिनभद्र से उत्तरवर्ती आचार्यों की ज्ञान मीमांसा

श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के उत्तरवर्ती कुछ विशिष्ट आचार्यों का योगदान ज्ञान के क्षेत्र में रहा है। आचार्य अकलंक विद्यानंद, हेमचन्द्र और उपाध्याय यशोविजयजी उनमें प्रमुख हैं। ज्ञान विचार के विकास क्षेत्र में भट्ट अकलंक का प्रयत्न बहुमुखी है। ज्ञान सम्बन्धी उनके तीन प्रयत्न विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रथम तत्त्वार्थसूत्रानुसरी तथा दूसरा सिद्धसेन दिवाकर के न्यायवतार सूत्र का प्रतिबिम्बग्राही कहा जा सकता है। तीसरा प्रयत्न लघीयस्त्रयी और विशेषतः प्रमाण संग्रह में है, वह उनकी अपनी महत्त्वपूर्ण चिन्तमा है। उनके अष्टसहस्री, प्रमाण-मीमांसा आदि ग्रंथों में भी ज्ञान एवं प्रमाण सम्बन्धी विशद चर्चा उपलब्ध है। उपाध्याय यशोविजयजी ने ज्ञान बिन्दु प्रकरण में सम्पूर्ण अद्य-प्रभूति ज्ञान मीमांसा का सार तत्त्व प्रस्तुत कर दिया। नयदृष्टि से अनेकों विचारणीय मुद्दों का समाधान भी उपाध्यायजी के ग्रंथों में परिलक्षित है। इसके अतिरिक्त ज्ञान सम्बन्धी अनेक नए विचार भी ज्ञान बिन्दु में सन्निविष्ट हैं जो उनके पूर्व के ग्रंथों में प्राप्त नहीं है। जैसे अवग्रह आदि की तुलना न्याय आदि दर्शनों में आगत कारणांश, व्यापारांश आदि से की है। ज्ञान मीमांसा के परिवर्तन, परिशोधन में अनेक आचार्यों का योगदान रहा है। विशेष बात यह है कि ज्ञान के आगमिक मौलिक स्वरूप एवं भेद आदि का कहीं भी अतिक्रमण नहीं हुआ है।

1.5 जैन आगमों में प्रमाण चर्चा

ज्ञान मीमांसा का उद्‌भव, विकास जैन परम्परा में स्वदर्शन के अभ्यास से हुआ। आगमिक उल्लेख से यह तथ्य स्पष्ट है कि ज्ञान के साथ प्रमाण को संमिश्रित नहीं किया गया। यद्यपि ऐसा तो नहीं कहा जा सकता कि जैन आचार्य अपने परिपार्श्व में होने वाली प्रमाण चर्चा से अनभिज्ञ थे किन्तु इतना तो निश्चित है कि प्रमाण के क्षेत्र में उनका आगमन देरी से हुआ। अन्य जैनेतर परम्पराओं में जब प्रमाण का स्वरूप स्थिर एवं निश्चित हो गया तो जैन तार्किकों के समक्ष भी प्रमाण सम्बन्धी समस्या का उद्‌भव हुआ कि जैन परम्परा में प्रमाण किसको माना जाये। इस समस्या के समाधान में ज्ञान ने ही प्रमाण का रूप धारण कर लिया आचार्य आर्यरक्षित ने अनुयोगद्वार में प्रमाण की सर्वप्रथम चर्चा की है। वहां पर उन्होंने प्रमाणों को

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ज्ञानगुण प्रमाण के भेद के रूप में ही व्याख्यायित किया है। अन्य दार्शनिक प्रत्यक्ष आदि चार प्रमाणों को मानते थे। आर्यरक्षित ने स्पष्ट किया ये प्रमाण ज्ञानात्मक है। इस विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जैन परम्परा में अज्ञान रूप इन्द्रिय सन्निकर्ष, कारक साकल्य, इन्द्रियवृत्ति आदि प्रमाण नहीं हो सकते। सिद्धसेन से लेकर सभी जैन दार्शनिकों ने प्रमाण के लक्षण में ज्ञान पद को अवश्यमेव स्थान दिया है।

जैन आगमों में प्रमाणचर्चा, ज्ञानचर्चा स्वतंत्र रूप से प्राप्त है। यद्यपि आगमों में प्रमाणचर्चा के प्रसंग में नैयायिक आदि सम्मत चार प्रमाणों का उल्लेख आता है। कहीं-कहीं तीन प्रमाणों का भी उल्लेख है। भगवतीसूत्र में गौतम गणधर और भगवान् महावीर के संवाद में भी प्रमाणचर्चा का अवतरण हुआ है। इससे संभव लगता है कि शास्त्रकार स्वसम्मत ज्ञान की तरह प्रमाण को भी ज्ञप्ति में स्वतंत्र साधन मानते थे। स्थानांगसूत्र में प्रमाण शब्द के स्थान में हेतु शब्द का प्रयोग भी मिलता है। इतनी चर्चा से स्पष्ट है कि जैन शास्त्रकारों ने आगम काल में जैन दृष्टि से प्रमाण विभाग में स्वतंत्र विचार नहीं किया है किन्तु इस काल में प्रसिद्ध अन्य दार्शनिकों के विचारों का संग्रह मात्र उनमें परिलक्षित है। यद्यपि उमास्वाति तक आते आते जैन प्रमाण परम्परा का पृथक् स्वरूप प्रतिपादित हो जाता है। तत्पश्चात्वर्ती आचार्यों के ग्रंथों में प्रमाणचर्चा प्रमुख विचारणीय विषय रहा है।

जैन दर्शन में पदार्थ ज्ञप्ति में नयवाद का मौलिक स्थान है। आगम साहित्य में अनेक बार द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक नय के द्वारा तत्त्व की विवेचना हुई है।गौतम भगवान् से जिज्ञासा करते हैं—भंते! जीव शाश्वत है या अशाश्वत? भगवान् गौतम को संबोधित करते हुए कहते हैं—गौतम! द्रव्य की अपेक्षा जीव शाश्वत है तथा भाव (पर्याय) की अपेक्षा अशाश्वत है।जैनदर्शन के अनुसार वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। उसी को ही प्रमाण का विषय भी स्वीकार किया गया है।वस्तु की अनन्त धर्मात्मकता का साक्षात् तो मात्र केवल ज्ञान रूप क्षायिक ज्ञान से ही हो सकता है। छद्मस्थ के ज्ञान को भी आगम एवं दर्शन दोनों परम्परा में सम्यक् माना गया है। ऐसी स्थिति में स्याद्वाद, सप्तभंगी आदि के द्वारा ज्ञेय व्यवस्था स्थापित की गयी है। दर्शन जगत में जब प्रमाण की चर्चा होने लगी तब संभव लगता है कि जैन दार्शनिकों को भी प्रमाण के क्षेत्र में प्रवेश करना पड़ा तथा प्रमाण को स्वीकार करते हुए भी नय को विस्मृत नहीं किया अपितु कहना चाहिए नय व्यवस्था को नवीनीकरण के साथ प्रस्तुत किया गया। किन्तु यह स्पष्ट है ज्ञेय-ज्ञप्ति में नय व्यवस्था जैनों की प्राचीन एवं मौलिक है तथा प्रमाण व्यवस्था परिस्थिति सापेक्ष उद्भूत हुई है। विद्वानों का मंतव्य है कि जैन विचार सरणी में ज्ञान की प्रमुखता से स्वीकृति है किन्तु तत्कालीन प्रमाण परिचर्चा के वातावरण ने जैन विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया, फलस्वरूप कुछ नये प्रस्थानों का विकास हुआ। आचार्य उमास्वाति ने सर्वप्रथम स्वतंत्र जैन प्रमाण की चर्चा की। ज्ञान ही प्रमाण रूप में परिणत हो गया। तत्पश्चात् ज्ञान प्रमाण की परम्परा निरन्तर विकसित होती गयी। आचार्य उमास्वाति ने ज्ञेय पदार्थ के अवबोध के संदर्भ में प्रचलित नय व्यवस्था को विस्मृत नहीं किया अपितु पदार्थ अधिगम के साधन रूप में प्रमाण एवं नय दोनों को स्वीकार किया।

आगम युग तक जैन साहित्य में ज्ञान मीमांसा का ही प्राधान्य रहा। प्रमाण का प्रवेश दर्शन युग में हुआ है। उसका प्रवेश करवाने वालों में दो प्रमुख आचार्य हैं—आर्यरक्षित और उमास्वाति। आर्यरक्षित ने अनुयोग का प्रारंभ पंचविध ज्ञान के सूत्र से किया है। उन्होंने प्रमाण की चर्चा ज्ञान गुण प्रमाण के अंतर्गत की है। इसका निष्कर्ष है कि प्रमाणमीमांसा का मौलिक आधार ज्ञानमीमांसा ही है। उमास्वाति ने पहले पांच ज्ञान की चर्चा की है फिर ज्ञान प्रमाण है इस सूत्र की रचना की है।

1.6 सारांश

यह निर्विवाद सत्य है कि ज्ञान मीमांसा का जितना विशद निरूपण जैन दर्शन में हुआ है उतना अन्य दर्शनों में नहीं हुआ। नंदी, विशेषावश्यकभाष्य, आवश्यकनिर्युक्ति, षटखण्डागम, कषायपाहुड, ज्ञानबिंदु प्रकरण आदि ग्रंथों में जैन ज्ञानमीमांसा का विशद निरूपण हुआ है।

जैन ज्ञान मीमांसा में ज्ञान के प्रत्यक्ष एवं परोक्ष ये दो विभाग प्रचलित हैं। ये विभाग उत्तरकालीन है। प्राचीन काल में ज्ञान के पांच प्रकार ही किए गये। उनका प्रत्यक्ष, परोक्ष जैसा कोई विभाग नहीं है। प्रमाण के साथ प्रत्यक्ष का प्रयोग प्रायः सभी भारतीय दर्शनों में मिलता है। परोक्ष शब्द का प्रयोग जैन ज्ञान मीमांसा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अथवा जैन प्रमाण मीमांसा के अतिरिक्त किसी अन्य दर्शन में नहीं मिलता है। ज्ञान मीमांसा के संदर्भ में 'परोक्ष' शब्द का प्रयोग जैन आगम युग की विशिष्ट देन है।

आभिनिबोधिक ज्ञान और श्रुतज्ञान ये दोनों ज्ञेय को साक्षात् नहीं जानते इसलिए इन्हें परोक्ष माना गया है। दार्शनिक युग अथवा प्रमाण मीमांसा के युग में परोक्ष शब्द का प्रयोग अस्पष्ट ज्ञान के अर्थ में हुआ है। आगम युग में प्रयुक्त परोक्ष के अर्थ में दार्शनिक युग में विस्तार हुआ है।

1.7 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. जैन ज्ञानमीमांसा के उद्भव एवं विकास की चर्चा के साथ प्रत्यक्ष एवं परोक्ष ज्ञान की अवधारणा को स्पष्ट करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. ज्ञान विचार विकास की कितनी भूमिकाएं हैं? किसी एक भूमिका का निरूपण अपने शब्दों में कीजिए। **अथवा** जैन ज्ञानमीमांसा की प्राचीनता को संक्षेप में विवेचित कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. "महावीर से पहले भी श्रमणों में पांच ज्ञान की मान्यता प्रचलित थी"—यह बात किस आगम ग्रंथ के उद्धरण से फलित होती है—क. आचारांग ख. राजप्रश्नीय ग. समवायांग घ. उत्तराध्ययन
2. ज्ञान सिद्धान्त का विवेचन करने वाला प्राचीनतम साहित्य है—
   क. आगम साहित्य ख. भाष्य साहित्य ग. निर्युक्ति साहित्य घ. पूर्व साहित्य
3. पारमार्थिक प्रत्यक्ष ज्ञान का भेद है—क. मतिज्ञान ख. श्रुतज्ञान ग. केवलज्ञान घ. श्रुतनिःश्रितज्ञान
4. आगम साहित्य भेद है—क. मतिज्ञान का ख. श्रुतज्ञान का ग. अवधिज्ञान का घ. केवलज्ञान का
5. परोक्ष ज्ञान के भेद हैं—क. मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ख. मतिज्ञान और अवधिज्ञान
   ग. श्रुतज्ञान और मनःपर्यवज्ञान घ. अवधिज्ञान और केवलज्ञान
6. पारमार्थिक प्रत्यक्ष ज्ञान हैं—क. मतिज्ञान, श्रुतज्ञान अवधिज्ञान ख. श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, केवलज्ञान
   ग. अवधिज्ञान, मनःपर्यव, केवलज्ञान घ. मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यव
7. अध्ययन हेतु ज्ञान विचार विकास की भूमिकाओं को विभक्त किया है—
   क. सात भागों में ख. आठ भागों में ग. नौ भागों में घ. दश भागों में
8. जैन दर्शनानुसार अनेकान्त का अर्थ है—
9. क. वस्तु का अनेक होना ख. वस्तु का अनन्तधर्मात्मक होना
   ग. अनेक वस्तुओं का समवाय होना घ. प्रमाणयुक्त वस्तु का अस्तित्व होना
10. प्रमाण की सर्वप्रथम चर्चा की थी—
    क. जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यक भाष्य में ख. आचार्य आर्यरक्षित ने अनुयोद्वार में
    ग. उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में घ. उपाध्याय यशोविजय ने ज्ञान बिन्दु प्रकरण में
11. प्रमाण शास्त्रीय चर्चा का प्रतिपादन करने वाली सिद्धसेन दिवाकर की रचना है—
    क. ज्ञान बिन्दुप्रकरण ख. विशेषावश्यक भाष्य ग. लघीयस्त्रयी घ. न्यायावतारसूत्र।

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–2 : ज्ञान और ज्ञेय

संरचना

2.0 प्रस्तावना
2.1 उद्देश्य
2.2 ज्ञान की स्वपरप्रकाशकता और ज्ञेय
2.3 ज्ञेय का स्वरूप और प्रकार
2.4 ज्ञान और ज्ञेय का सम्बन्ध
2.5 ज्ञेय सीमा
2.6 ज्ञान ज्ञेय को कैसे जानता है?
2.7 सारांश
2.8 अभ्यास प्रश्नावली

2.0 प्रस्तावना

मानव सभ्यता एवं संस्कृति के विकास का प्रथम अध्याय है जिज्ञासा। बच्चे में जानने की इच्छा सबसे अधिक होती है; फलतः बचपन में विकास की गति तीव्रतर होती है। जानना अथवा ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में विचार करें, तो उसके मुख्यतः तीन कोण बनते हैं—जानना क्या? जानना क्यों? और जानना कैसे? इन्हीं प्रश्नों के आधार पर दर्शनशास्त्र के तीन स्तम्भ खड़े हैं—तत्त्वमीमांसा (ज्ञेयमीमांसा), मूल्यमीमांसा और ज्ञानमीमांसा।

मनुष्य सत्य को जानना चाहता है, उपलब्ध करना चाहता है; अतः सत्य ज्ञेय है। जो जो साधन सत्य को जानने में सहायक बनते हैं, वे ज्ञान की परिधि में आते हैं। दार्शनिक परिभाषा में इन्हें क्रमशः प्रमेय और प्रमाण भी कहते हैं। इस प्रकार—

ज्ञान = जानने का साधन (करण या साधकतम)
ज्ञेय = ज्ञान का विषय

ज्ञान जब भी होता है, किसी-न-किसी विषय का होता है। निर्विषयक ज्ञान अथवा शून्य ज्ञान वस्तुतः ज्ञान नहीं। ज्ञान का व्यापार जिस विषय पर फलित होता है (जो विषय गृहीत या उपलब्ध होता है), वह ज्ञेय कहलाता है। घट, पट आदि इन्द्रिय ग्राह्य पदार्थ तथा परमाणु, आकाश आदि सूक्ष्म और अतीन्द्रिय सभी पदार्थ जो हमारे ज्ञान के विषय (Object of cognition) बनते हैं, प्रमेय की कोटि में आते हैं। ज्ञेय विद्यमान है, पर यदि ज्ञान न हो, तो वस्तु को जाना नहीं जा सकता। जैसे—सामने घट, पट आदि पदार्थ हैं, पर कोई दृष्टिहीन व्यक्ति देख नहीं सकता अथवा दृष्टि होते भी उसकी ओर ध्यान न दे, जो जान नहीं सकता। अतः यहां ज्ञान और ज्ञेय के सम्बन्ध के विषय में विचार करना अभीष्ट है।

2.1 उद्देश्य–सत्य ज्ञेय है और उसे जानने का साधन है ज्ञान। सत्य का अस्तित्व अपने आप में है। वह ज्ञाता के ज्ञान पर निर्भर है या नहीं? क्या ज्ञेय ज्ञाता के ज्ञान की उपज है? किस ज्ञान के द्वारा ज्ञाता क्या-क्या जान सकता है? ज्ञान अपने ज्ञेय को साक्षात् जानता है अथवा उसे उसकी उपलब्धि में किसी अन्य माध्यम (करण) का सहारा लेना पड़ता है? ज्ञेय का स्वरूप क्या है? उसके कितने भेद-प्रभेद हैं? ज्ञान और ज्ञेय में क्या सम्बन्ध हैं? इत्यादि विषयों की चर्चा इस अध्याय का विषय है।

2.2 ज्ञान की स्वपरप्रकाशकता और ज्ञेय

ज्ञान सूर्य के समान होता है। सूर्य घट, पट आदि जगत् के विभिन्न पदार्थों को प्रकाशित करता है यह जितना सत्य है उतना ही यह भी सत्य है कि सूर्य स्वयं भी प्रकाशित करता है। क्या सूर्य को देखने के लिए कभी किसी दूसरे सूर्य, दीपक या मोमबत्ती की आवश्यकता होती है? क्या सूर्य के रहते कभी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अन्य प्रकाश की अपेक्षा होती है? ठीक उसी प्रकार ज्ञान भी स्वयं को तथा ज्ञेय को प्रकाशित करता है। कुछ दार्शनिक ऐसा मानते हैं कि जैसे तलवार चाहे कितनी ही धारवाली हो, स्वयं को नहीं काट सकती वैसे ही ज्ञान भी स्वयं को नहीं जान सकता। पर यह मत समीचीन नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर एक ज्ञान को जानने के लिए दूसरा, दूसरे को जानने के लिए तीसरा ज्ञान चाहिए। परिणामतः कभी भी उसे नहीं जाना जा सकता। और जो ज्ञान स्वयं को ही नहीं जानता, वह पदार्थ को क्या प्रकाशित करेगा?

कुछ अन्य दार्शनिक मुख्यतः योगाचार विज्ञानवादी बौद्ध ऐसा मानते हैं कि संसार में ज्ञान ही एकमात्र सत्य है। बाह्य पदार्थ वस्तुतः सत्य नहीं हैं। जो पदार्थ हमें ज्ञान के द्वारा अवभासित होते हैं वे सब ज्ञानमात्र हैं। जिस प्रकार बाह्य आलम्बन के बिना आकाश में केश का ज्ञान होता है उसी तरह अनादिकालीन अविद्या की वासना से बाह्य पदार्थों के अवलम्बन के बिना घट, पट आदि पदार्थों का ज्ञान होता है। इस मत के अनुसार ज्ञान और ज्ञेय वस्तुतः दो नहीं, एक ही है। पर यह अभिमत ठीक नहीं है क्योंकि यदि वस्तुतः कोई पदार्थ बाहरी जगत् मे न हो तो ज्ञान मात्र से पदार्थ का अवभास संभव नहीं। यदि कहीं पर घट न हो और कोई वहां घट का ज्ञान करे तो वह प्रमाण नहीं, जैसे मृग-मरीचिका में होने वाला जलज्ञान। उसी प्रकार विषय अर्थात् ज्ञेय के बिना ज्ञान अप्रमाण हो जाएगा। यदि केवल वासना के आधार पर ही पदार्थ की प्रतीति हो, तो उसमें प्रतिनियत स्थान और प्रतिनियत समय का निश्चय कैसे होगा? अतः समीचीन नहीं कि बाह्य पदार्थ का कोई अस्तित्व नहीं। इस प्रकार जैनदर्शन बौद्ध एवं अद्वैतवाद के समान प्रत्ययवादी नहीं, वस्तुवादी या यथार्थवादी है और इसीलिए वह ज्ञान को स्व और पर का प्रकाशक मानता है। ज्ञान की पर प्रकाशकता का स्वीकार ज्ञेय की वस्तुवादी अवधारणा से ही संभव है।

2.3 ज्ञेय का स्वरूप और प्रकार

भिन्न-भिन्न दर्शनों में ज्ञान के विषय में भिन्न-भिन्न मान्यताएं हैं; अतः ज्ञेय के विषय में उनमें मतभेद दृष्टिगोचर होता है। यदि प्रमाण अथवा ज्ञान के विषय में सभी दर्शनों में ऐकमत्य होता, तो ज्ञेय के विषय में भी एकरूपता होती।

जैनदर्शन के अनुसार सत् उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है। वस्तु प्रतिक्षण उत्पन्न और विनष्ट होती है, यह जितना सत्य है, उतना ही यह भी सत्य है कि वस्तु ध्रुव है। बौद्धदर्शन के समान वह केवल उत्पादव्यय में विश्वास नहीं करता। वेदान्त दर्शन में सत्य कूटस्थ नित्य, अपरिवर्तनशील है। न्यायवैशेषिक दर्शन भी आकाश, आत्मा आदि कुछ ज्ञेय तत्त्वों को एकान्त नित्य मानता है, पर जैनदर्शन के मतानुसार ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं हो सकता, जो सर्वथा नित्य या अपरिवर्तनशील हो। इसी प्रकार जैनदर्शन न केवल सामान्यवादी है और न केवल विशेषवादी। प्रत्येक वस्तु सामान्य विशेषात्मक होती है। एक कलम अन्य कलमों के समान भी है, उसकी सदृशता के कारण ही हमें उसमें कलमत्व (कलम होने) की अनुभूति होती है, फिर भी उनसे कुछ विसदृशता भी है जिससे हम उसे अन्य से भिन्न जान सकते हैं। ज्ञेय का यही स्वरूप ज्ञान के द्वारा निश्चित होता है और प्रत्येक व्यक्ति अपना व्यवहार भी इसी आधार पर संचालित करता है।

पदार्थ में ज्ञान का विषय बनने की क्षमता है; अतः वह ज्ञेय बनता है। सांख्यदर्शन के अनुसार ज्ञेय तत्त्व के पच्चीस प्रकार हैं प्रकृति, पुरुष, महत्, अहंकार, ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां आदि। बौद्धदर्शन के अनुसार दुःख, दुःखसमुदय आदि चार आर्यसत्य ही ज्ञेय हैं, क्योंकि महात्मा बुद्ध ने लोक, आत्मा, पुनर्जन्म आदि से सम्बद्ध प्रश्नों को अव्याकृत कहकर मुमुक्षु के लिए अनुपादेय माना था। न्यायदर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम ने ज्ञेयतत्त्वों की सूची में सोलह नाम गिनाये थे—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय आदि। वैशेषिक दर्शनकार महर्षि कणाद के अनुसार द्रव्य, गुण, क्रिया, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव—ये सात तत्त्व ज्ञेय हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जैनदर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है। ज्ञान के समान ज्ञेय के विषय में भी उसने एक विशाल दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। संग्रहनय से विचार किया जाए तो सारे ज्ञेय तत्त्व का एक नाम है सत्। चाहे सामान्य-विशेष के रूप में देखें, नित्य और अनित्य के रूप में व्याख्या करें या द्रव्य, गुण, पर्याय की दृष्टि से विचार करें, 'सत्' एक ऐसा संग्राहक पद है जो समस्त वस्तु-जगत को व्याप्त करता है। जो ज्ञेय है वह सत् है इस व्याप्ति को उलट कर भी देखा जा सकता है जो सत् है, वही ज्ञेय है। जैनदर्शन के अनुसार जब लोक-व्यवस्था के दृष्टिकोण से विचार किया जाता है, तो इसी सत् को षड्द्रव्य (धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और काल) अथवा काल को छोड़कर पञ्चास्तिकाय के रूप में देखा जाता है। वस्तुतः सत् उत्पादव्यय-ध्रौव्यात्मक द्रव्य है। पर्याय इसके द्रव्यत्व का आधार है। इस द्रव्य और पर्याय (भाव) रूप पदार्थ को व्यक्ति क्षेत्र एवं काल के परिप्रेक्ष्य में ही जान सकता है अतः ज्ञेयतत्त्व के चार भेद करते हुए आचार्य संघदासगणि कहते हैं—'सव्वं नेयं चउहा'। (बृहत्कल्पभाष्य गा. 962)

कुछ दार्शनिक ज्ञान का एकमात्र साधन इन्द्रिय प्रत्यक्ष को मानते हैं। उनके अनुसार हमारी इन्द्रियानुभूति ही सत्यशोध का एकमात्र उपाय है अतः जो इन्द्रियों से जाना जाए वही यथार्थ है। इन्द्रियातीत किसी भी ज्ञेय को स्वीकार करना मात्र कल्पना है। भारतीय दर्शनों में चार्वाक तथा पाश्चात्य जगत में फ्रांसिस बेकन, लॉक आदि दार्शनिकों को इन्द्रिय प्रत्यक्षवादी दार्शनिक कहा जा सकता है। कुछ अन्य दार्शनिकों ने मन, बुद्धि और प्रज्ञा को भी ज्ञान का साधन माना अतः उन्होंने इन्द्रियगम्य स्थूल पदार्थों—घट, पट आदि के साथ इन्द्रियातीत ज्ञेय तत्त्वों—आत्मा, आकाश, परमाणु आदि को भी अपनी तत्त्वमीमांसा में स्वीकार किया। कुछ दार्शनिकों ने बुद्धि एवं तर्क को ही ज्ञान की अंतिम नियामत सत्ता माना और इन्द्रिय ग्राह्य स्थूल पदार्थों को काल्पनिक, संवृतिसत् या माया कहकर पुकारा। जैनदर्शन की स्थिति इससे भिन्न है। उसके अनुसार ज्ञेय मूर्त्त भी होता है, अमूर्त्त भी होता है; स्थूल भी होता है, सूक्ष्म भी होता है, इन्द्रिय-ग्राह्य भी होता है, इन्द्रियातीत भी होता है। इसके अनुसार आत्मा असंख्य ज्ञानमय अवयवों (प्रदेशों) की अविभाज्य संहति है। जब तक वह पूर्णतः अनावृत नहीं होती, उसे ज्ञेय को जानने के लिए इन्द्रियज्ञान, मानसज्ञान एवं अन्यान्य परोक्ष साधनों पर निर्भर रहना पड़ता है, फिर भी वह सम्पूर्ण ज्ञेय को नहीं जान सकती। जब चेतना पर पड़ा हुआ ज्ञान का आवरण सर्वथा विनष्ट हो जाता है, उसका निरन्वय विनाश होने के बाद आत्मा को ज्ञान के लिए बाह्य साधनों पर निर्भर नहीं रहना पड़ता। उसकी ज्ञेयसीमा समाप्त हो जाती है। समाप्त आत्मप्रदेशों की पूर्ण अनावृत अवस्था में वह सकलज्ञ होती है—उसका ज्ञान भी अनन्त होता है और ज्ञेय भी अनन्त।

2.4 ज्ञान और ज्ञेय का सम्बन्ध

जैनदर्शन के अनुसार ज्ञान और ज्ञेय—दोनों स्वतंत्र हैं। ज्ञेय हैं—द्रव्य, गुण और पर्याय। ज्ञान है आत्मा का गुण, उसका स्वभाव या धर्म। न तो ज्ञेय से ज्ञान उत्पन्न होता है और न ज्ञान से ज्ञेय। हमारा ज्ञान जाने या न जाने, फिर भी पदार्थ अपने रूप में अवस्थित है, वह अपनी अर्थक्रिया करता है, करता रहता है।यदि ज्ञेय हमारे ज्ञान की उपज हो, जैसा कि विज्ञानवादी बौद्ध, पाश्चात्य दार्शनिक बर्कले आदि ज्ञानाद्वैतवादी या अद्वैतवादी ह्यूम आदि आदर्शवादी मानते हैं, तो उनकी असत्ता (पदार्थ के अभाव) में उन्हें जानने का प्रयत्न ही क्यों? जो वस्तु है ही नहीं, उसे कैसे जाना जाए, देखा जाए या तर्क के द्वारा सिद्ध किया जाए? दूसरी ओर पदार्थ हमारे ज्ञान के विषय (ज्ञेय) बनें या न बनें, हमारा ज्ञान हमारी आत्मा में अवस्थित है, रहेगा। भूतकाल में कोई ऐसा क्षण आया नहीं और भविष्यत्काल में ऐसा क्षण आ सकता नहीं जब निमेषमात्र के लिए भी ज्ञान और आत्मा एक दूसरे से अलग हुए हों। यदि ज्ञान और आत्मा का अविनाभाव न माना जाए, तादात्म्य सम्बन्ध न हो, तो यह कहना कैसे युक्तियुक्त होगा कि जो जानता है वह आत्मा है और जो आत्मा है वही जानता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वस्तुस्थिति यह है कि हम जब पदार्थ को जानते हैं तब हमारा ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, किन्तु वह तो उस ज्ञान का प्रयोग है। ज्ञान या जानने की क्षमता हममें विद्यमान रहती है किन्तु ज्ञान की आवृतदशा में हम पदार्थ को माध्यम के बिना जान नहीं सकते। हमारी ज्ञानेन्द्रियां—आंख, कान, नाक आदि तथा मन अचेतन हैं। इनसे जब पदार्थ का सामीप्य या सम्बन्ध होता है, तब वे हमारे ज्ञान को प्रवृत्त करते हैं, ज्ञान के माध्यम बनते हैं और ज्ञेय जान लिया जाता है अथवा हमारे अपने संस्कार किसी पदार्थ को जानने के ज्ञान को प्रेरित करते हैं तब वह जाना जाता है। यह ज्ञान की उत्पत्ति नहीं, प्रवृत्ति है। मान लीजिए कोई व्यक्ति हाथ में बन्दूक लिए खड़ा है। अचानक उसे शेर की दहाड़ सुनाई देती है। वह बन्दूक ऊपर करता है और शेर की दिशा में गोली दाग देता है। क्या शेर की दहाड़ ने उसमें शक्ति उत्पन्न की? उसने पहले बन्दूक का प्रयोग नहीं किया, बाद में किया क्यों? विश्लेषण करें तो पता चलेगा—यह शक्ति की उत्पत्ति नहीं, उसका प्रयोग है। एक व्यक्ति ने अपने मित्र को देखा, किसी प्रियजन से मिला, उसका प्रेम उमड़ आया—यह प्रेम की उत्पत्ति नहीं, उसका प्रयोग है क्योंकि प्रेम तो उसमें पहले से था, मात्र अभिव्यक्त हुआ है। यही स्थिति ज्ञान की है। विषय के सामने आने पर वह उसे ग्रहण कर लेता है, वह उसकी प्रवृत्ति है, उत्पत्ति नहीं। जिनती ज्ञान की क्षमता होती है, उसके अनुसार ही वह जानने में सफल हो जाता है। जैनदृष्टि के अनुसार—

1. ज्ञान अर्थ में प्रविष्ट नहीं होता, अर्थ ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होता।
2. ज्ञान अर्थाकार नहीं है।
3. ज्ञान अर्थ से उत्पन्न नहीं होता।
4. ज्ञान अर्थ-रूप नहीं है।

तात्पर्य यह है कि ज्ञान और ज्ञेय में पूर्ण अभेद नहीं है। प्रमाता ज्ञानस्वभाव होता है, इसलिए वह विषयी है। अर्थ ज्ञेय-स्वभाव है; अतः वह विषय है। ज्ञान और ज्ञेय में विषयी-विषय भाव सम्बन्ध है। दोनों स्वतंत्र हैं।कुछ दार्शनिकों का ऐसा अभिमत है कि जब हम किसी पदार्थ को जानते हैं तब हमारी बुद्धि इन्द्रियों के माध्यम से निकलकर पदार्थ के आकार को धारण करती है और तब उस पदार्थ का ज्ञान होता है। जैसे राम ने घट को जाना, इसका अभिप्राय हुआ कि राम की बुद्धि घटाकारता को प्राप्त हुई। सांख्य दार्शनिकों ने इस विषय में खेत की क्यारियों का दृष्टान्त दिया है कि प्रणालिकाओं के माध्यम से बुद्धि रूपी जल पदार्थ रूपी क्यारियों का आकार ग्रहण कर लेता है। सौत्रान्तिक बौद्ध भी ज्ञान की विषयाकारता को ही ज्ञान और ज्ञेय की व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक भाव का नियामक मानते हैं। उनके अनुसार जिस समय ज्ञाता को ज्ञान में जिस पदार्थ के आकार का अनुभव होता है, उसी समय उस पदार्थ का ज्ञान होता है। यदि ज्ञान ने नील घट का आकार धारण नहीं किया तो ज्ञाता नील घट को ही क्यों जाने, अन्य वस्तुओं का ज्ञान भी उस समय क्यों न हो जाए? ज्ञान की ज्ञेयाकारता ही उसके व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक भाव की नियामिका है। जैनदर्शन के अनुसार यह मत उचित नहीं क्योंकि ज्ञेय जड़ है, बाह्य पदार्थ है। यदि ज्ञान को भी ज्ञेय के आकार का माना जाए तो ज्ञान को भी ज्ञेय के समान जड़ मानना होगा। आकाशचन्द्र से आकाश होता है, उसी आकार का होता है, फिर भी जलचन्द्र से आकाशचन्द्र का ज्ञान होता है, वह मानना ठीक नहीं; अतः ज्ञान की ज्ञेयाकारता का मत समालोचनीय है।

वैभाषिक बौद्ध आदि कुछ दार्शनिकों के मतानुसार जो ज्ञान जिस पदार्थ से उत्पन्न होता है, वह उसी को जानता है। अतएव पदार्थ अर्थात् ज्ञेय कारण है और ज्ञान कार्य। जैसे अग्नि धूम का कारण है, क्योंकि अग्नि और धूम में अविनाभाव सम्बन्ध है अर्थात् धूम हो तो अग्नि होती है और अग्नि न हो तो धूम नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञान का कारण भी ज्ञेय है। जो ज्ञान घड़े से उत्पन्न हुआ है, वही घड़े को जानता है। यदि ऐसा न जाना जाए, तो किसी वस्तु से उत्पन्न होने वाला ज्ञान किसी भी अन्य वस्तु का ज्ञापक हो जाएगा। पर यह तदुत्पत्ति का मत भी समीचीन नहीं क्योंकि ज्ञान प्रकाशक है और ज्ञेय प्रकाश्य। जैसे दीपक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

घट से पैदा नहीं होता, फिर भी उसे प्रकाशित कर देता है वैसे ही ज्ञान ज्ञेय से उत्पन्न न होने पर भी उसे प्रकाशित कर देता है। ज्ञान चेतन है, ज्ञेय जड़। जड़ से चेतन की उत्पत्ति कभी संभव नहीं। ज्ञान और ज्ञेय में अग्नि धूम के समान अविनाभाव सम्बन्ध नहीं बनता। स्मृति आदि परोक्ष ज्ञान तथा अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, केवलज्ञान आदि अतीन्द्रिय ज्ञानों में उन पदार्थों का भी ज्ञान हो जाता है जो उस समय वहां विद्यमान नहीं है। यदि ऐसा न माना जाए, तो ज्ञान को त्रैकालिक मानने का कोई आधार नहीं रहता। कपाल घट से उत्पन्न होता है, पर उसे घट-ज्ञान का कारण नहीं माना जा सकता, अतः तदुत्पत्ति का मत ठीक नहीं। वस्तुतः ज्ञान और ज्ञेय दोनों भिन्न ही नहीं, विरोधी भी हैं। ज्ञान अंतरंग है, ज्ञेय बाह्य। ज्ञान ज्ञेय के पश्चात उत्पन्न होता है, ज्ञेय ज्ञान से पूर्व। ज्ञान आत्मा में उत्पन्न होता है, ज्ञेय अपने भिन्न कारणों से। ज्ञान प्रकाशक है, ज्ञेय जड़ होने से प्रकाश्य। अतः ज्ञान और ज्ञेय में तदुत्पत्ति, तदाकारता अथवा तदात्मकता का सम्बन्ध नहीं, अपितु प्रकाशक प्रकाश्य रूप विषयी-विषय सम्बन्ध है।

2.5 ज्ञेय सीमा (कौन सा ज्ञान कितना जानता है?)

जैनदर्शन सर्वज्ञता का समर्थक है। उसके अनुसार ज्ञानावरण का विलय होने पर आत्मा के स्वभाव का प्रकाश होता है, उसके पूर्ण विलय होने पर ज्ञान निरावरण हो जाता है। उसकी सीमा समाप्त हो जाती है, वह अनंत अपरिमेय हो जाता है। अतः सर्वज्ञ के लिए सब कुछ ज्ञेय होता है। ज्ञेय अनंत है, निरावरण ज्ञान अनंतानंत है। अनंत ज्ञान के द्वारा अनंत ज्ञेय को जानने में कोई विरोध नहीं। केवलज्ञान के द्वारा एक साथ सभी द्रव्य एवं सभी पर्याय जाने जा सकते हैं क्योंकि ज्ञान के अनंत पर्यायों के द्वारा अनंत ज्ञेय को जानने में कोई बाधा नहीं आती। शेष चारों ज्ञान—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान पूर्ण ज्ञान नहीं हैं। इसलिए असर्वज्ञ के लिए कुछ ज्ञेय होता है और कुछ अज्ञेय।

जैनदर्शन के अनुसार ज्ञेय के दो प्रकार हैं—1. मूर्त्त—जो वर्ण, गंध, रस और स्पर्शयुक्त होते हैं। 2. अमूर्त्त—आत्मा आदि ज्ञेय जो वर्ण, गंध आदि गुणों से रहित होते हैं। मूर्त्त पदार्थ भी दो प्रकार के होते हैं—कुछ पदार्थ स्थूल होते हैं जिन्हें हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा जान सकते हैं, जैसे मेज, कुर्सी आदि। कुछ पदार्थ सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम होते हैं जिन्हें ज्ञानेन्द्रियों या सामान्य वैज्ञानिक उपकरणों के द्वारा जानना संभव नहीं, जैसे चिन्तन के अणु, कर्म के परमाणु समुदाय, परमाणु आदि। विशिष्ट ज्ञानी—परमावधि तथा विपुलमति मनःपर्यवज्ञानी सूक्ष्म मूर्त्त पदार्थों को जान सकते हैं, पर अमूर्त्त पदार्थों को नहीं। मतिज्ञान के द्वारा सूक्ष्म पदार्थों को जानना संभव नहीं। श्रुतज्ञान परोपदेशज शास्त्रज्ञान है। सर्वज्ञभाषित ग्रन्थों को पढ़कर उसके द्वारा परोक्ष रूप से अमूर्त्त पदार्थों को भी जाना जा सकता है।

पर्याय की दृष्टि से विचार किया जाए तो कहा जा सकता है कि तीनों कालों के सभी पर्याय छद्मस्थ (सर्वज्ञ बनने से पूर्व की अवस्था) के लिए अज्ञेय हैं। त्रैकालिक कुछ पदार्थों को छद्मस्थ भी जान सकता है। इस प्रकार ज्ञेय की मीमांसा के कुछ निष्कर्ष निम्नांकित हैं—

1. द्रव्य की दृष्टि से—

- मतिज्ञान (इन्द्रियानुभूति तथा श्रुतनिश्रित अर्थात् शास्त्रसापेक्ष)से सामान्य रूप से सब द्रव्य जाने जा सकते हैं।
- श्रुतज्ञान से परोक्ष रूप से सब द्रव्य जाने जा सकते हैं।
- अवधिज्ञान के द्वारा सब मूर्त्त द्रव्यों को जाना जा सकता है।
- मनःपर्यवज्ञान केवल चिन्तन में काम आने वाले मनोवर्गणा के द्रव्यों को जानता है।
- केवलज्ञान सब द्रव्यों को साक्षात् जानता है।

2. क्षेत्र की दृष्टि से—

- मतिज्ञान सामान्य रूप से सब क्षेत्रों को जान सकता है।
- श्रुतज्ञान परोक्ष रूप से सब क्षेत्रों को जान सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

- अवधिज्ञान सम्पूर्ण लोक को जान सकता है।
- मन:पर्यवज्ञान मनुष्यक्षेत्रवर्ती (45 लाख योजन वर्ती) मनुष्यों के विचारों को जान सकता है।
- केवलज्ञान लोक-अलोक सबको साक्षात् जानता है।

3. काल की दृष्टि से—

- मतिज्ञान सामान्य रूप से सर्वकाल (तीनों कालों) को जान सकता है।
- श्रुतज्ञान परोक्षत: तीनों कालों को जानता है।
- अवधिज्ञान असंख्य उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी परिमित अतीत और भविष्य को जान सकता है। (अनगिनत कालचक्रों को जान सकता है)
- मन:पर्यवज्ञान पल्योपम (कालगणना का एक माप—जिसमें काफी लम्बा समय होता है) के असंख्यातवें भाग जितने भूत भविष्य को जान सकता है।
- केवलज्ञान सर्वकाल (अनंत कालचक्रों) को साक्षात् जानता है।

4. भाव की दृष्टि से—

- मतिज्ञान सामान्यत: सब भावों (पर्यायों) को जान सकता है।
- श्रुतज्ञान परोक्षत: सब भावों का ज्ञाता है।
- अवधिज्ञान के द्वारा अनंत पर्यायों को (सब पर्यायों का अनंतवा भाग) जाना जा सकता है।
- मन:पर्यवज्ञान के द्वारा मनोवर्गणा के अनंत पर्याय जाने जा सकते हैं, सब द्रव्यों के नहीं।
- केवलज्ञान सब द्रव्यों के सब भावों (अनंतानंत पर्यायों) को जानता है।

ज्ञान और ज्ञेय की इस मीमांसा से यह स्पष्ट है कि ज्ञान और ज्ञेय एक दूसरे से आबद्ध नहीं हैं। ज्ञान की असीमता का हेतु उसका निरावरणभाव है। ज्ञेय की असीमता उसकी सहज स्थिति है।

2.6 ज्ञान ज्ञेय को कैसे जानता है?

ज्ञेय को जानने की पद्धति के आधार पर ज्ञान के मुख्यत: दो वर्ग होते हैं: एक वर्ग में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान आते हैं, दूसरे वर्ग में अवधिज्ञान, मन:पर्यवज्ञान और केवलज्ञान आते हैं।

पहले वर्ग के ज्ञान अपने ज्ञेय को इन्द्रियों के माध्यम से जानते हैं जबकि दूसरे वर्ग के ज्ञान अपने ज्ञेय को जानने के लिए किसी अन्य माध्यम की जरूरत नहीं पड़ती। वे ज्ञेय को सीधे (व्यवधान-रहित) जानते हैं; अत: पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहलाते हैं।

जैनदर्शन के अनुसार केवलज्ञान पूर्ण प्रत्यक्ष है। वह एक साथ सभी पदार्थों को जानता है। सहज तर्क हो सकता है कि एक साथ सभी को जानने का अर्थ होगा किसी को भी न जानना। जिसे जानना है उसे ही न जाना जाए और सब के सब जाने जाएं तो व्यवहार कैसे संभव है? यह ज्ञान का सांकर्य है। जैनदर्शन के अनुसार इसका समाधान यह है कि पदार्थ अपने-अपने रूप में अवस्थित हैं, उनका संकर नहीं होता। अनंत पदार्थ हैं और ज्ञान के पर्याय अनंत हैं; अत: अनंत के द्वारा अनंत का ग्रहण करने में यह दोष नहीं आता है। जैसे कोई कुशल चित्रकार एक पट्टिका पर एक तरफ 500 वर्ष पुरानी किसी घटना को चित्रित कर दे और उसी की दूसरी तरफ वर्तमान की किसी घटना का चित्र बना दे तो दर्शक दोनों को एक साथ देखेंगे, पर उनकी कालगणना में उन्हें कोई भ्रम नहीं होगा, कोई सांकर्य नहीं होगा। यही स्थिति सम्पूर्ण ज्ञान में स्थित ज्ञेय की है। मन:पर्यवज्ञान पहले मनोवर्गणा के पुद्गलों की आकृतियों को देखता है, फिर उन आकृतियों से दूसरे के द्वारा चिन्तित, कल्पित वस्तु का अनुमान लगाता है कि 'इस प्रकार की आकृति नहीं बनी होती, यदि अमुक ने घट का चिन्तन न किया होता।' अवधिज्ञानी अवधिदर्शन के द्वारा मूर्त्त द्रव्यों को देखता है और अवधिज्ञान के द्वारा उन्हें जानता है; अत: दीवार, छत, टाटी आदि व्यवधान उसमें बाधक नहीं बनते।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मतिज्ञान अपने ज्ञेय को इन्द्रियों एवं मन के माध्यम से जानता है। चाक्षुष प्रत्यक्ष के अतिरिक्त प्रत्येक इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में इन्द्रिय अपने विषय से साक्षात् सम्पर्क करती है। जैसे आम मीठा है या खट्टा—यह जानने के लिए आवश्यक है कि आम को जीभ पर रखें। जीभ और आम का यह सम्पर्क जैनदर्शन की भाषा में रसनेन्द्रिय व्यंजनावग्रह कहलाता है। आंख के अलावा चारों ही इन्द्रियां प्राप्यकारी कहलाती है, क्योंकि उनका व्यंजनावग्रह होना जरूरी है। चक्षुरिन्द्रिय अप्राप्यकारी है; वह दूर से ही वस्तु को देख लेती है। व्यंजनावग्रह का अंतिम क्षण अर्थावग्रह कहलाता है, जिसमें ज्ञाता का ज्ञान इतना अव्यक्त होता है कि वह वस्तु के गुण, क्रिया आदि को नहीं जान पाता। घट को देखने का वह क्षण, जिसमें 'घट होना चाहिए' ऐसा ज्ञान होता है, ईहा कहलाता है। 'घट है'—यह निश्चय अवस्था अवाय है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इन्द्रियों द्वारा ज्ञेय का ज्ञान क्रमशः होता है, एक साथ नहीं।

2.7 सारांश

ज्ञेय को जानने का एक प्रकार है—किसी व्यक्ति के शब्द को सुनकर, किसी ग्रन्थ में वस्तु के स्वरूप को पढ़कर अथवा संकेत आदि के द्वारा पदार्थ का ज्ञान। जैसे घट शब्द लिखा हुआ है। उसे पढ़ते ही पाठक के मन में एक प्रत्यय उभरता है कि घट उस वस्तु का नाम है जिसका अमुक आकार होता है, मिट्टी का बनता है, पानी लाने के काम आता है, आदि। 'घट' इन दो अक्षरों वाले शब्द को पढ़कर घट नामक वस्तु के विषय में होने वाला यह ज्ञान जैनदर्शन में श्रुतज्ञान के नाम से जाना जाता है। श्रुतज्ञान शब्द के माध्यम से होता है; अतः शब्द को द्रव्यश्रुत अर्थात् श्रुतज्ञान का कारण कहा जाता है। शब्द को पढ़कर या सुनकर श्रुतज्ञान होता है, पढ़ने अथवा सुनने की क्रिया में चक्षु इन्द्रिय अथवा श्रोत्रेन्द्रिय के अवग्रह, ईहा आदि की अपेक्षा होती है; इसीलिए श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है। इस प्रकार श्रुतज्ञान के द्वारा ज्ञेय को जानने में ज्ञाता को निम्नलिखित प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है—शब्द मतिज्ञान श्रुतज्ञान। इस प्रकार श्रुतज्ञान में ज्ञेय को प्रत्यक्ष नहीं जाना जाता, परोक्षतः जाना जाता है।

2.8 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. जैनदर्शन के अनुसार ज्ञान-ज्ञेय की अवधारणा पर प्रकाश डालें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. ज्ञान की स्वपर-प्रकाशकता से क्या अभिप्राय है?
2. ज्ञान और ज्ञेय के सम्बन्ध में विभिन्न दर्शनों की मान्यताओं पर संक्षेप में प्रकाश डालें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. जानने के साधन को ...... कहते हैं।
2. जैनदर्शन में ज्ञान को ...... माना गया है।
3. महर्षि गौतम ने ज्ञेय तत्त्वों की संख्या दस/बारह/सोलह मानी है।
4. जैनदर्शन में .... को अस्तिकाय नहीं माना गया है।
5. ज्ञान और ज्ञेय में .... भाव सम्बन्ध है।
6. केवलज्ञान के द्वारा त्रैकालिक ..... जाने जाते हैं।
7. जैनदर्शन के अनुसार केवलज्ञान ...... हैं।
8. मतिज्ञान अपने ज्ञेय को ...... माध्यम से जानता है।
9. अवधिज्ञानी केवल ...... द्रव्यों को जानता है।
10. जैन दर्शन में सत् .... है।☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–3 : दर्शन का स्वरूप और उसके भेद

संरचना

3.0 प्रस्तावना
3.1 उद्देश्य
3.2 दर्शन: स्वरूप और प्रकार
3.3 दर्शन और ज्ञान का सम्बन्ध
3.4 श्रुतदर्शन और मन:पर्यवदर्शन विचारणा
3.5 सारांश
3.6 अभ्यास प्रश्नावली

3.0 प्रस्तावना

जैन तत्त्व मीमांसा के अनुसार वह द्रव्य जो चेतन स्वभाव वाला है, जीव कहलाता है। चेतना के मुख्यत: दो रूप है—ज्ञान और दर्शन। इन्हीं को क्रमश: साकार और अनाकार उपयोग कहा जाता है। चेतना के व्यापार (प्रवृत्ति या प्रयोग) को उपयोग कहते हैं। आचार्य श्री तुलसी ने चेतना और उपयोग की परिभाषा करते हुए लिखा है कि 'चेतना—ज्ञानदर्शनात्मिका तस्या व्यापार: प्रवृत्ति: उपयोग:।' 'जब दर्शन की प्रवृत्ति होती है तो ज्ञाता (Subject) को ज्ञेय (Object) के विषय में यह कुछ है इतना सा बोध होता है किन्तु जब ज्ञान की प्रवृत्ति होती है, तो वह उसे विशेष रूप से तथा विस्तार से जानता है जैसे; यह पुस्तक है, षड्दर्शन है, अमुक लेखक की है इत्यादि। इस प्रकार जिसमें आकाररहित केवल 'है' अर्थात् सत्तामात्र का बोध होता है, वह दर्शन की प्रवृत्ति अनाकार उपयोग कहलाती है और जिसमें वस्तु के विशेष अंशों का बोध होता है वह ज्ञान की प्रवृत्ति साकार उपयोग कहलाती है।' प्रकारान्तर से कहें तो जीव की ज्ञानात्मक प्रवृत्ति सविकल्प बोध है तथा दर्शनात्मक प्रवृत्ति निर्विकल्प बोध है।

3.1 उद्देश्य– वस्तु में निहित सामान्य एवं विशेष धर्मों के अवबोध के लिए दर्शन और ज्ञान की अपनी-अपनी अलग उपयोगिता है।

3.2 दर्शन : स्वरूप और प्रकार

3.2.1 दर्शन का स्वरूप

जब हम किसी वस्तु को जानना चाहते हैं तो सर्वप्रथम 'है' इतना मात्र ज्ञान होता है अर्थात् उसके अस्तित्व मात्र का पता चलता है। उस के स्वरूप, जाति, गुण, क्रिया आदि विशेषों को नहीं जान पाते। इन सब विशेषों से रहित केवल अस्तित्व सामान्य को जानने वाला बोध ही दर्शन है। ज्ञान की प्रक्रिया का यह प्रथम और अनिवार्य अंग है।

दर्शन का शाब्दिक अर्थ है—देखना। यह दृशि धातु के साथ ल्युट् प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है। पूज्यपाद, अकलंक आदि आचार्यों ने दर्शन पद का व्युत्पत्ति पूर्वक अर्थ करते हुए कहा—जो देखता है, जिसके द्वारा देखा जाता है वह दर्शन है। देखना मात्र दर्शन है। यहां दर्शन पद चाक्षुष ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त है। इसी तरह आत्मसाक्षात्कार व परम्परा विशेष के अर्थ में भी दर्शन शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैन परम्परा में दर्शन शब्द का प्रयोग मुख्यरूप से दो अर्थों में किया जाता है—सामान्य अवबोध व तत्त्वार्थ-श्रद्धान।

जैन कर्मशास्त्र के अनुसार कर्म के आठ प्रकार हैं। उनमें दो कर्म दर्शनावरणीय और मोहनीय है। मोहनीय कर्म के पुन: दो प्रकार हैं—दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय कर्म तत्त्वश्रद्धा रूप

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

दर्श्नन को विकृत करता है जबकि दर्शनावरणीय कर्म सामान्य बोध रूप दर्शन को आवृत करता है। यहां सामान्य अवबोधरूप दर्शन के विषय में विस्तार से विचार किया जा रहा है।

3.2.2 दर्शन और निर्विकल्पक बोध

वस्तु के निर्विशेषण स्वरूप का बोध दर्शन कहलाता है। इसमें वस्तु की सत्ता मात्र ग्रहण होती है। भारतीय वाड्मय में न्याय, वैशेषिक, सांख्य और बौद्ध परम्परा में सामान्य-बोध के लिए निर्विकल्पक शब्द मिलता है। इन सभी परम्पराओं के अनुसार ज्ञानोत्पत्ति के क्रम में सर्वप्रथम सत्तामात्र का ग्राहक बोध अपरिहार्य है। यद्यपि सत्ता के स्वरूप के विषय में वे एकमत नहीं है। भर्तृहरि, मध्व, वल्लभ आदि आचार्यों का मन्तव्य भिन्न है। इनके अभिमत से ऐसा कोई बोध संभव ही नहीं जो वस्तु के किसी न किसी वैशिष्ट्य को उजागर न करे। ज्ञानमात्र सविकल्पक है। निर्विकल्पक ज्ञान कहने का तात्पर्य इतना ही है कि अन्य ज्ञानों की अपेक्षा इसमें विशेष अंशों का प्रकाशन अल्प होता है।

3.2.3 दर्शन—सामान्यग्राही अवबोध

दर्शन वस्तु के सामान्य अंश का ग्राहक है। सिद्धसेन दिवाकर ने दर्शन को सामान्यग्राही मानते हुए लिखा है—जं सामण्णग्गहणं दसणं। सिद्धसेन का यह विचार उत्तरकाल में मान्य हुआ। पञ्चसंग्रहकार के मत से सामान्य-विशेषात्मक पदार्थों में आकार विशेष को ग्रहण न कर जो सामान्य अंश का ग्रहण होता है उसे दर्शन कहा जाता है। पूज्यपाद और अकंलक के अनुसार विषय और विषयी का सन्निपात (योग) होने पर दर्शन होता है। धवलाकार का मन्तव्य कुछ भिन्न है। उनके अनुसार विषय-विषयी के सन्निपात से पूर्ववर्ती अवस्था दर्शन है। प्रमाणनयतत्त्वलोकालंकार में वादिदेव ने भी दर्शन को विषय-विषयी सन्निपात के पश्चात् होने वाली अवस्था माना है। उनके अनुसार दर्शन की परिभाषा इस तरह है—विषयविषयी-सन्निपातान्तर-समुद्भूत-सत्तामात्र गोचरदर्शनात्—विषय और विषयी के सम्बन्ध के अनन्तर सत्तामात्र को जानना दर्शन है। वीरसेन ने षट्खण्डागम की वृत्ति में दर्शन के लिए प्रकाशवृत्ति, आलोकवृत्ति, अन्तरंग उपयोग, स्वसंवेदन, अन्तश्चित्प्रकाश आदि अनेक शब्दों का प्रयोग किया है। इनके आधार पर दर्शन की अनेक परिभाषाएं की जा सकती हैं और साथ ही उसका व्यापक स्वरूप भी उजागर किया जा सकता है।

(क) प्रकाशवृत्ति

प्रकाश का तात्पर्य—ज्ञान के लिए आत्मा का जो व्यापार होता है वह प्रकाशवृत्ति है। वही दर्शन है।

(ख) आलोकनवृत्ति

आलोकन पद आत्मा का वाचक है। आत्मा की वृत्ति (व्यापार) को आलोकन वृत्ति कहते हैं। तात्पर्यार्थ की भाषा में कहें तो आत्मा का जानना रूप व्यापार अथवा स्वसंवेदन ही दर्शन है। यह आलोकन का ही समानार्थक पद है। अकलंक ने दर्शनावरण के पूर्ण विलय (क्षय) और आंशिक विलय (क्षयोपशम) से होने वाले आलोकन को दर्शन कहा है।

(ग) अन्तरंग उपयोग

अन्तरंग उपयोग दर्शन कहलाता है। दूसरे शब्दों में, बाह्यार्थ का ग्रहण होने के साथ विशिष्ट आत्मस्वरूप का अनुभव अन्तरंग उपयोग है, वही दर्शन है। जयधवलाकार ने इस परिभाषा के आधार पर ही दर्शन के लिए प्रयुक्त अनाकार-पद की सार्थकता सिद्ध की है।

(घ) अन्तश्चित्प्रकाश

अपने से भिन्न बाह्य पदार्थों का ज्ञान प्रकाश कहलाता है, अत: अन्तर्मुख चैतन्य के द्वारा जब जीव अपने स्वरूप को जानता है तो उसे दर्शन कहा जाता है। यद्यपि ज्ञान में बहिर्मुख प्रकाश और अन्तश्चित्

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रकाश दोनों का योग रहता है तथापि दोनों में भेद है। जिस तरह ज्ञान के द्वारा बाह्य रूप में यह कुर्सी है—इत्यादि रूप से व्यवस्था होती है उस तरह दर्शन में नहीं होती।

(ङ) स्वसंवेदन

उत्तरज्ञान की उत्पत्ति में निमित्तभूत स्वसंवेदन दर्शन कहलाता है। आत्मा के इस स्वसंवेदन रूप व्यापार को प्रकाशवृत्ति, आलोकनवृत्ति, अन्तरंग उपयोग, अन्तश्चित्प्रकाश भी कहा जा सकता है। यहां वीरसेन द्वारा प्रयुक्त ये सभी विशेषण एकार्थक हो जाते हैं। आगम साहित्य में दर्शन के लिए प्राय: अनाकार पद ही प्रयुक्त हुआ है। विशेषावश्यक भाष्य में भाष्यकार जिनभद्रगणि ने अनाकार उपयोग को निर्विशेष बोध कहा है। यहां हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि अनाकारोपयोग कहें या प्रकाशवृत्ति, आलोकवृत्ति आदि तात्पर्यार्थ में सब समान हैं। उपर्युक्त सभी पद 'दर्शन' के सामान्यग्राही स्वरूप से सम्बद्ध हैं। सभी पद ज्ञान की पूर्ववर्ती अवस्था के द्योतक हैं।

जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु में सामान्य और विशेष दोनों धर्म अपृथग् भाव से रहते हैं। दर्शन में वस्तु के विशेष धर्म अप्रधान रहते हैं। विशेष धर्मों को गौण कर सामान्य धर्म को मुख्यता से जानने की प्रक्रिया दर्शन कहलाती है। द्रष्टा जब किसी भी वस्तु को देखता है तो वह सर्वप्रथम वस्तु की सत्ता का बोध करता है। वह सत्पदार्थ क्या है, क्या नहीं है इत्यादि विकल्प बाद में उत्पन्न होते हैं। अत: विकल्पों से पूर्व सामान्य रूप से सत्तामात्र का ग्रहण दर्शन है।

दर्शन को केवल सामान्यग्राही मानने से द्रव्य का अवबोध ही अशक्य हो जाएगा। क्योंकि विशेष रहित सामान्य की सत्ता उसी प्रकार असंभव है, जिस प्रकार सामान्य रहित विशेष। अत: यह मानना ही युक्ति संगत है कि दर्शन में वस्तु की सामान्य सत्ता मुख्य रूप से कही जाती है और उसकी विशेष अवस्थाएं गौण रूप से कही जाती है। इस सापेक्ष दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखकर ही दर्शन की सामान्य ग्राहकता का कथन यथार्थता की कसौटी पर खरा उतर सकता है। निष्कर्षत: कहा जा सकता है—उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक (सामान्यविशेषात्मक) द्रव्य के उत्पाद-व्यय रूप पर्याय (विशेष अंश) को गौण कर ध्रौव्य धर्म (सामान्य) को ग्रहण करने वाला ज्ञानात्मक प्रयत्न दर्शन (अनाकार उपयोग) कहलाता है। पण्डित सुखलाल जी ने दर्शन के सन्दर्भ में अनेक दृष्टियों से विचार किया है।

3.2.4 दर्शन के प्रकार

अनाकार उपयोग अथवा दर्शन के चार प्रकार हैं।

3.2.4.1 चक्षुदर्शन

चक्षु (आंख) के द्वारा होने वाला सामान्य अवबोध चक्षु दर्शन कहलाता है। पञ्चास्तिकाय की तत्त्वप्रदीपिका वृत्ति में चक्षुदर्शन को परिभाषित करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है—चक्षुदर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से तथा चक्षुइन्द्रिय के आलम्बन से जो मूर्त्त द्रव्यों का अंशरूप में सामान्य अवबोध होता है वह चक्षु दर्शन है। धवलाकार के अनुसार जो चक्षु को देखता है अथवा चक्षु के द्वारा देखा जाता है वह चक्षुदर्शन है। तात्पर्यार्थ की भाषा में जो चक्षु इन्द्रिय ज्ञान से पूर्व सामान्य अंश का अनुभव होता है, जो चक्षुज्ञान की उत्पत्ति में निमित्तभूत है, वह चक्षु दर्शन है।

3.2.4.2 अचक्षुदर्शन

अचक्षु दर्शन का सम्बन्ध चक्षु को छोड़कर शेष चार इन्द्रिय और मन के साथ है। अचक्षुदर्शनावरण के क्षयोपशम से तथा स्पर्शन, रसन, घ्राण, श्रोत्र—इन चारों इन्द्रियों व मन के अवलम्बन से जो मूर्त्त और अमूर्त्त द्रव्यों का अंशरूप में सामान्य बोध होता है वह अचक्षुदर्शन कहलाता है। यहां प्रश्न होता है कि चक्षुदर्शन को अन्य इन्द्रियों से भिन्न क्यों रखा गया है? यद्यपि चक्षुदर्शन भी सामान्य अवबोध ही है, पर चक्षु का अन्य इन्द्रियों से वैशिष्ट्य है। इसलिए अन्य इन्द्रियों से चक्षुदर्शन का स्वतंत्र कथन किया गया है। वीरसेन ने

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

चक्षुदर्शन की तरह अन्य इन्द्रियों के दर्शन पृथक् रूप से कथन न करने का कारण इनकी परस्पर में निकटता बतलाया है। आंख के अतिरिक्त शेष सभी इन्द्रियां अपने विषय के साथ जुड़कर ही उनका सामान्य सा विशेष अवबोध करती हैं। इस प्रत्यासत्ति के कारण ही उनका एक साथ अचक्षुदर्शन में ग्रहण किया गया है।

3.2.4.3 अवधि दर्शन

अवधि दर्शन प्रत्यक्ष दर्शन है। यह इन्द्रिय सापेक्ष नहीं है। यह सर्वसूक्ष्म द्रव्य परमाणु से लेकर सर्वस्थूल स्कन्ध पर्यन्त जितने भी मूर्त्तद्रव्य हैं उन्हें प्रत्यक्ष ग्रहण करता है। पञ्चास्तिकाय की वृत्ति में अवधि दर्शन की परिभाषा करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है—अवधिदर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से बिना किसी इन्द्रिय सहायता के जो मूर्त्तद्रव्य का अंशरूप में सामान्य अवबोधन करता है वह अवधिदर्शन है। यह अवधिज्ञान की उत्पत्ति में निमित्त बनता है।

3.2.4.4 केवलदर्शन

दर्शन के चार प्रकारों में अन्तिम प्रकार है—केवलदर्शन। केवलदर्शन केवलदर्शनावरण कर्म के क्षय (पूर्ण विलय) से निष्पन्न होता है, अतः यह मूर्त्तामूर्त्त समस्त द्रव्यों का समग्र रूप से सामान्य अवबोध करता है। केवलदर्शन सर्वोत्कृष्ट उद्योत है। चन्द्र, सूर्य आदि के उद्योत परिमित क्षेत्र में होते हैं और परिमित पदार्थों को ही प्रकाशित करते हैं। केवलदर्शन रूपी उद्योत समस्त लोक और अलोक को प्रकाशित करता है। सम्पूर्ण चराचर जगत् इसका साक्षात् विषय है।

3.3 दर्शन और ज्ञान का सम्बन्ध

ज्ञान प्राप्ति का प्रथम सोपान है—दर्शन। उसका अगला चरण है ज्ञान। दर्शन में वस्तु की सत्तामात्र का ग्रहण होता है। ज्ञान वस्तु के विशेषों—पर्यायों को ग्रहण करता है। दर्शन और ज्ञान इन दोनों स्तरों को क्रमशः परिचय ज्ञान और विशिष्ट ज्ञान कहा जा सकता है। प्रथम स्तर में वस्तु का सम्पर्क मात्र होता है जबकि दूसरे स्तर में वस्तु का व्यापक स्वरूप जाना जाता है।

दर्शन को अनाकार उपयोग कहा जाता है। आकार का अभिप्राय है विकल्प। जिसमें विकल्पों का ज्ञान न हो वही अवबोध अनाकार उपयोग है। जिसमें आकार का ग्रहण हो जैसे; यह पुस्तक है इत्यादि सविकल्पक अवबोध साकार उपयोग कहलाता है।

प्राचीन वाङ्मय के अवलोकन से हमें दर्शन और ज्ञान में विभिन्न भेद रेखाएं स्पष्ट होती हैं—

1. दर्शन अन्तर्मुख चित्प्रकाश है और ज्ञान बहिर्मुख चित्प्रकाश।
2. दर्शन व ज्ञान भिन्न-भिन्न हैं क्योंकि ज्ञान से यह घट है, यह पट है—इत्यादि रूप में वस्तु की प्रतिनियत (सुनिश्चित) व्यवस्था होती है जबकि दर्शन से इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं होती क्योंकि वह सत्तामात्र को ग्रहण करता है। सत्ता सब वस्तुओं में पाई जाती है अतः 'है' इतने मात्र से वस्तु विशेष का ग्रहण नहीं हो सकता।
3. ज्ञान भेदग्राही है जबकि दर्शन अभेदग्राही। अतः दर्शन से व्यवहार नहीं चलता। व्यवहार का आधार है भेद-ज्ञान।
4. दर्शन की उत्पत्ति का कारण है दर्शनावरणीय कर्म का पूर्ण विलय अथवा आंशिक विलय। ज्ञान की उत्पत्ति का हेतु है—ज्ञानावरणीय कर्म का पूर्ण अथवा आंशिक विलय। अतः उत्पादक कारण की अपेक्षा भी दोनों में भेद है।
5. दर्शन स्वप्रतिभास है जबकि ज्ञान परप्रतिभास।
6. दर्शन में प्रतिनियत आकार का ग्रहण नहीं होता अतः उसका विपर्यय भी नहीं होता। जबकि ज्ञान में वस्तु के प्रतिनियत स्वरूप का ग्रहण होना आवश्यक है अतः जब ज्ञाता उस स्वरूप के विषय में संशय करता है, विपरीत ग्रहण करता है अथवा अपूर्ण ग्रहण करता है तब वह ज्ञान क्रमशः संशय, विपर्यय और

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अनध्यवसाय कहलाता है। इस प्रकार का ज्ञान ज्ञान न होकर अज्ञान कहा जाता है। किन्तु दर्शन कभी अदर्शन नहीं बनता।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह आसानी से समझा जा सकता है कि दर्शन और ज्ञान दो भिन्न-भिन्न अवस्थाएं हैं। फिर भी जहां तक जैनदर्शन का प्रश्न है— जैनदर्शन के अनुसार कोई भी द्रव्य ऐसा नहीं जो पर्याय रहित हो और न कोई पर्याय ऐसा है जो द्रव्य से स्वतन्त्र रह सके। जैसे पानी के बिना लहर और लहर के बिना पानी नहीं हो सकता वैसे ही द्रव्य और पर्याय, सामान्य और विशेष, ध्रौव्य और उत्पाद-विनाश सदा साथ ही रहते हैं। अतः कोई भी ज्ञाता केवल द्रव्य अथवा केवल पर्याय को ग्रहण करे—ये कैसे सम्भव है?

प्रस्तुत जिज्ञासा का समाधान यह है कि यद्यपि निर्विशेष (विशेष रहित) सामान्य भी उसी प्रकार से असत् है जैसे सामान्य-रहित विशेष। फिर भी ज्ञाता जब किसी वस्तु को ग्रहण करता है तब उसके सामान्य और विशेष दोनों में से एक को मुख्य रूप से ग्रहण करता है और दूसरे को गौण रूप से। जब अवबोध में सामान्य धर्म की प्रधानता होती है और विशेष धर्म गौण हो जाते हैं तब उसे दर्शन कहते हैं। जब विशेष धर्म मुख्य होते हैं और सामान्य धर्म गौण हो जाते हैं तब वही ज्ञान कहलाता है। दर्शन में भी वस्तु के स्वरूप का प्रतिभास होता है अतः वीरसेन आदि आचार्यों ने उसे प्रमाण के अन्तर्गत लिया है।

इसी प्रकार दर्शन स्वप्रतिभास है और ज्ञान परप्रतिभास, दर्शन अन्तश्चित्प्रकाश है और ज्ञान बहिर्मुख चित्प्रकाश—ये कथन भी ऐकान्तिक सत्य नहीं हैं। यदि अभेदनय से विचार किया जाए तो ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की तरह द्रष्टा, दर्शन और दृश्य भी सर्वथा भिन्न नहीं है अतः जितना दर्शन स्वप्रकाशक है, ज्ञान भी उतना ही स्वप्रकाशक है। यदि भेदपरक दृष्टिकोण से विचार किया जाए तो जितना ज्ञान परप्रकाशक है दर्शन भी उतना ही परप्रकाशक है अतः दर्शन और ज्ञान को एकान्ततः स्वप्रकाशक और परप्रकाशक कहने की अपेक्षा यह कहना ज्यादा उपयुक्त होगा कि दर्शन में स्वप्रतिभास की मुख्यता होने से उसमें वस्तु के विशेष धर्म गौण हो जाते हैं अतः वह परप्रकाशक नहीं कहलाता और ज्ञान में परप्रतिभास की मुख्यता होने से सामान्य धर्म गौण हो जाते हैं अतः वह परप्रकाशक कहलाता है। दर्शन में 'यह कुर्सी है'—ऐसा प्रत्यय भी नहीं होता और 'यह मेज नहीं है', पुस्तक नहीं है—आदि व्यावृत्ति प्रत्यय भी नहीं होता। जबकि ज्ञान में अनुवृत्ति और व्यावृत्ति प्रत्यय स्पष्टतया अवभासित होते हैं अतः हम जान पाते हैं कि अमुक वस्तु कुर्सी है, मेज नहीं।

आचार्य महाप्रज्ञ ने दर्शन और ज्ञान की सम्बन्ध समायोजना के सन्दर्भ में अनेकान्त परक दृष्टिकोण से विचार किया है। उनके अनुसार—जैन परम्परा में ज्ञान का स्वरूप स्वपरप्रकाशक है इसलिए स्वप्रकाशक (स्वसंवेदन) ज्ञानमात्र में होता है, वह मात्र दर्शन का स्वरूप नहीं बन सकता। यद्यपि दार्शनिक युग में दर्शन का अर्थ सामान्यग्राही उपयोग और ज्ञान का अर्थ विशेषग्राही उपयोग किया गया है किन्तु यह विमर्शनीय नहीं है— ऐसा नहीं कहा जा सकता। द्रव्य सामान्यविशेषात्मक है तब केवल विशेष को जानने वाला ज्ञान (साकार या सविकल्पक उपयोग) प्रमाण कैसे हो सकता है और केवल सामान्य को जानने वाला दर्शन (अनाकार या निर्विकल्पक उपयोग) अप्रमाण कैसे हो सकता है? उक्त व्याख्या में केवलज्ञान और केवलदर्शन का अर्थ भी घटित नहीं हो सकता। उन्हें युगपत् माना जाए तो प्रस्तुत व्याख्या के अनुसार वे दोनों मिलकर प्रमाण बनते हैं अकेला कोई प्रमाण नहीं बन सकता। यदि उन्हें क्रमशः माना जाए तो केवलज्ञान विशेषग्राही होने के कारण सम्पूर्ण अर्थग्राही नहीं होता अतः वह प्रमाण नहीं हो सकता।

3.4 श्रुतदर्शन और मनःपर्यवदर्शन विचारणा

जैनदर्शन के अनुसार ज्ञान के पांच प्रकार हैं जबकि दर्शन चार ही हैं। इनमें भी चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन का सम्बन्ध मुख्यतः मतिज्ञान से है और श्रुतज्ञान तथा मनःपर्यवज्ञान से सम्बन्धित कोई स्वतन्त्र दर्शन दिखाई नहीं देते हैं—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ज्ञान	दर्शन
मतिज्ञान	चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन
श्रुतज्ञान	–
अवधिज्ञान	अवधिदर्शन
मन:पर्यवज्ञान	–
केवलज्ञान	केवलदर्शन

श्रुतज्ञान एवं मन:पर्यवज्ञान का दर्शन नहीं होता इस सम्बन्ध में विविध विचारणाएं उपलब्ध होती हैं— श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार श्रुतज्ञान तथा मन:पर्यवज्ञान विशेषग्राही होते हैं। श्रुतज्ञान मतिज्ञान द्वारा ज्ञात विषय में ही वाच्य-वाचक सम्बन्ध की समायोजना करता है तथा पदार्थ को विशिष्ट रूप से जानता है। मन:पर्यवज्ञान भी पर्याय का ग्राहक है। अत: श्रुतदर्शन और मन:पर्यवदर्शन नहीं होता।

सिद्धसेन दिवाकर के अनुसार

जं पच्चक्खग्गहणं ण इन्ति सुयणाणसम्मिया अत्था।
तम्हा दंसणसद्दो ण होइ सयले वि सुयमाणे।। (सन्मति. 2/28)

अर्थात् श्रुतदर्शन नहीं होता क्योंकि दर्शन प्रत्यक्षग्राही विषयों का होता है जबकि श्रुतज्ञान परोक्ष है।

जब सिद्धसेन दिवाकर के सम्मुख यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि मन:पर्यवज्ञान तो प्रत्यक्ष है फिर मन:पर्यवदर्शन क्यों नहीं होता? उन्होंने समाधान देते हुए कहा—मन:पर्यवज्ञान का विषय स्पृष्ट पदार्थ है। वह बाह्य घट, पट आदि पदार्थों को साक्षात् नहीं जानता, अनुमान से जानता है। उसका विषय है दूसरे व्यक्ति के द्वारा ग्रहण किए हुए मनोवर्गणा के पुद्‌गल द्रव्य। ये पुद्‌गल मन:पर्यवज्ञानी की आत्मा से स्पृष्ट मनोवर्गणा के सजातीय होने से स्पृष्ट जैसे हैं। अत: मन:पर्यवदर्शन नहीं होता क्योंकि दर्शन अपने विषय का अस्पृष्ट अवबोध है।

दिगम्बर परम्परा में श्रुतदर्शन के विषय में निम्नलिखित विचारणाएं उपलब्ध होती हैं—

1. श्रुतज्ञान का कोई स्वतन्त्र दर्शन नहीं है क्योंकि श्रुतज्ञान सदैव मतिपूर्वक होता है।
2. श्रुतज्ञान का विषय बाह्य पदार्थ है जबकि दर्शन अन्तरंग उपयोग है अत: श्रुतज्ञान के पूर्व दर्शन नहीं होता।
3. श्रुतज्ञान अवग्रहपूर्वक होता है अत: मतिज्ञान ही उपचार से उसका दर्शन है।

मन:पर्यवदर्शन नहीं होता—इस विषय में दिगम्बर साहित्य में निम्नलिखित विचार उपलब्ध होते हैं—

1. मन:पर्यवज्ञान भी श्रुतज्ञान के समान मति पूर्वक होता है।
2. सूत्रों में मन:पर्यवदर्शन का उल्लेख उपलब्ध नहीं मिलता।
3. वह अवधिज्ञान के समान विषयों को साक्षात् नहीं जानता, किन्तु परकीय मन:प्रणाली से जानता है।
4. जिस प्रकार मन अतीत व अनागत अर्थों का विचार, चिन्तन तो करता है पर देखता नहीं है उसी प्रकार मन:पर्यवज्ञानी भी भूत भविष्य को जानता है, देखता नहीं। वह वर्तमान के विषय को भी विशेष रूप से जानता है, सामान्य रूप से नहीं अत: मन:पर्यव दर्शन नहीं होता।
5. मन:पर्यवज्ञान ईहा पूर्वक होता है अत: ईहा-मतिज्ञान ही उपचार से उसका दर्शन है।

मन:पर्यवज्ञान के विषय में दो अन्य मान्यताएं भी मिलती हैं—

1. मन:पर्यवज्ञानी अचक्षुदर्शन से देखता है। इसका तात्पर्य यह है कि कोई व्यक्ति कुर्सी के विषय में चिन्तन कर रहा है। मन:पर्यवज्ञानी उसके मनोद्रव्यों को साक्षात् जानता है और मानस अचक्षुदर्शन से कुर्सी का विकल्प करता है। इस प्रकार वह ज्ञान से मनोद्रव्यों को जानता है और मानस-अचक्षुदर्शन से कुर्सी देखता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने इस मत की समीक्षा की है। उनके अनुसार अचक्षुदर्शन का सम्बन्ध परोक्षज्ञान— मतिज्ञान से है जबकि मन:पर्यवज्ञान प्रत्यक्ष है अत: यह मत ठीक नहीं।

3. मन:पर्यवज्ञानी अवधिदर्शन से देखता है। यह मत भी ठीक नहीं क्योंकि सभी मन:पर्यवज्ञानी अवधिज्ञानी ही हो—यह जरूरी नहीं। कुछ ऐसे मन:पर्यवज्ञानी होते हैं जिनके पास मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और मन:पर्यवज्ञान—ये तीन ज्ञान ही होते हैं। ये मन:पर्यवज्ञानी अवधिदर्शन युक्त नहीं होते।

3.5 सारांश–अन्य दर्शनों में भी प्रत्यक्ष के विषय में कुछ ऐसी मान्यताएं हैं जिनकी तुलना जैनदर्शन सम्मत दर्शन से की जा सकती है। बौद्ध दर्शन के अनुसार जब किसी इन्द्रिय के द्वारा उसका विषय जाना जाता है तब उसमें चित्त की क्रमश: दस अवस्थाएं होती हैं। उनमें पांचवीं अवस्था है—चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान आदि। इनकी तुलना क्रमश: चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन से की जा सकती है क्योंकि इस अवस्था में रूप, शब्द आदि का निर्विकल्पक बोध होता है। न्यायदर्शन के अनुसार जब कोई विषय उससे सम्बद्ध इन्द्रिय के सम्पर्क में आता है तब सर्वप्रथम निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है जिसमें वस्तु की सत्तामात्र का आभास होता है। उसकी जाति, गुण, क्रिया, संज्ञा आदि धर्मों का अवबोध नहीं होता। सांख्यदर्शन के अनुसार इन्द्रियों द्वारा प्रथम क्षण में प्राप्त ज्ञान अव्यवस्थित, अव्यपदेश्य एवं अस्पष्ट होता है। सांख्य और योग दर्शन में भी इस सामान्यग्राही बोध को निर्विकल्पक प्रत्यक्ष माना गया है। वेदान्तदर्शन के अनुसार भी बुद्धि जब किसी वस्तु को जानती है तब वह उसमें व्याप्त होती है। बुद्धि की व्याप्ति से अज्ञान का नाश होता है। वस्तु की स्फुरणा उसके अगले क्षण में होती है। अज्ञान नाश का यह क्षण निर्विकल्पक बोध होने से दर्शन से तुलनीय है। मनोविज्ञान की भाषा में इसे A sudden flash of insight कहा जा सकता है।

3.6 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. जैनदर्शन में दर्शन के स्वरूप और भेद पर प्रकाश डालें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. श्रुतदर्शन और मन:पर्यवदर्शन पर अपने विचार व्यक्त करें।
2. दर्शन और ज्ञान के सम्बन्ध की विवेचना करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. दर्शन के .... प्रकार हैं।
2. श्रुतज्ञान .... होता है।
3. दर्शन के चार प्रकारों में अंतिम प्रकार है .... ।
4. चेतना के दो रूप हैं ....।
5. दर्शन ..... का संग्राहक है।
6. किसकी चेतना पूर्णत: अनावृत होती है?
7. दर्शन शब्द किन अर्थों में प्रचलित है?
8. दर्शन को किस प्रकार का उपयोग कहा जाता है?
9. किसके अनुसार विषय और विषयी का सन्निपात होने पर दर्शन होता है?
10. नैयायिक प्रारम्भिक प्रत्यक्ष को क्या कहते हैं?

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संवर्ग–2 : मतिज्ञान, श्रुतज्ञान

इकाई–4 : मतिज्ञान

संरचना

4.0 प्रस्तावना
4.1 उद्देश्य
4.2 ज्ञान
4.3 प्रत्यक्ष ज्ञान
4.4 परोक्ष ज्ञान
4.5 मतिज्ञान
4.6 सारांश
4.7 अभ्यास प्रश्नावली

4.0 प्रस्तावना

ज्ञान का अर्थ है जानना। जानना आत्मा का गुण है। जीव और अजीव का विभाजक तत्त्व है ज्ञान। ज्ञानचेतना को प्रभावित (आवृत) करने वाले कर्म का नाम है ज्ञानावरणीय कर्म। यद्यपि आत्मा का एक-एक प्रदेश ज्ञानावरणीय कर्म के अनन्त पुद्गल स्कन्धों से आवेष्टित-परिवेष्टित है, फिर भी ज्ञान का अनन्तवां भाग सदा उद्घाटित उसी प्रकार रहता है जैसे यदि वह भी आवृत हो जाए तो जीव अजीव हो जाए। जिस प्रकार सघन मेघों के होने पर भी सूर्य और चन्द्र की प्रभा पूर्ण आवृत्त न होकर न्यूनाधिक रूप में बनी रहती है।

पृथ्वीकायिक जीवों में ज्ञानचेतना का विकास न्यूनतम होता है और अनुत्तरोपपातिक देवलोक में देवों में उनकी तुलना में बहुत अधिक विकास होता है। इस विकास की न्यूनता और अधिकता में कर्मों का न्यूनाधिक विलय (क्षयोपशम) निमित्त बनता है। जितना अधिक क्षयोपशम अथवा कर्मों की अल्पता, उतना अधिक ज्ञान। ज्ञानावरण कर्म के पूर्ण विलय (क्षय) से केवलज्ञान उत्पन्न होता है, जो ज्ञानचेतना का सर्वोच्च विकास है तथा जिसे केवल मनुष्य ही प्राप्त कर सकते हैं।

4.1 उद्देश्य–इसके अध्ययन से मतिज्ञान की सम्यक् जानकारी हो सकेगी।

4.2 ज्ञान–ज्ञानमीमांसा के अनुसार ज्ञान पांच हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, केवलज्ञान। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का सम्बन्ध सीधा आत्मा से नहीं होता, वे इन्द्रिय और मन के माध्यम से होते हैं, इसलिए उन्हें परोक्ष ज्ञान, सहायसापेक्ष ज्ञान, अविशद ज्ञान और व्यवहित ज्ञान कहा जाता है। अवधि, मनःपर्यव और केवल— ये तीनों प्रत्यक्ष ज्ञान हैं। ये सहायनिरपेक्ष हैं, इसलिए इन्हें विशद, अव्यवहित और आत्मसमुत्थ कहा जाता है।

4.3 प्रत्यक्ष ज्ञान

यह बिना माध्यम के होने वाला साक्षात् ज्ञान है। प्रस्तुत सन्दर्भ में अक्ष शब्द के दो अर्थ हैं— 1. आत्मा और 2. इन्द्रिय। नन्दीसूत्र में प्रत्यक्ष ज्ञान के दो प्रकार बतलाये गये हैं—

1. **इन्द्रिय प्रत्यक्ष**—श्रोत्र आदि इन्द्रियों से साक्षात्कार होने पर किसी अन्य माध्यम के बिना होने वाला ज्ञान।
2. **नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष**— बिना किसी माध्यम के सीधा आत्मसाक्षात्कार से होने वाला अतीन्द्रिय ज्ञान।

4.3.1 इन्द्रिय प्रत्यक्षः संव्यवहार प्रत्यक्ष

आंख, कान आदि की बाह्य व आन्तरिक आकार-रचना द्रव्येन्द्रिय कहलाती है। द्रव्येन्द्रिय के माध्यम से जानने का कार्य करने वाली चेतना भावेन्द्रिय कहलाती है। इन्द्रिय का पदार्थ के साथ सम्पर्क होने पर जो ज्ञान

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

होता है वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहलाता है। आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य (गाथा 95) में इसे संव्यवहार प्रत्यक्ष कहा है। वस्तुतः यह परोक्ष है क्योंकि आत्मा और ज्ञेय पदार्थ के मध्य में आंख, कान आदि का व्यवधान है। फिर भी लोकदृष्टि में यह प्रत्यक्ष जैसा ही लगता है, इसलिए इसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा गया है।

4.3.2 नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष

जो इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं है, वह नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष है। यहाँ नो शब्द सर्वथा निषेधवाचक है। मन भी किसी अपेक्षा से इन्द्रिय रूप में स्वीकृत है, अतः उसके माध्यम से होने वाला ज्ञान नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं है। नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष के तीन प्रकार हैं—अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान। इन्हें पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा गया है।

4.4 परोक्ष ज्ञान

अक्ष का अर्थ है जीव। जो उससे पर है, वह परोक्ष है। जो ज्ञान साक्षात् आत्मा से नहीं होता, 'पर' से होता है अर्थात् इन्द्रिय और मन के निमित्त से होता है, वह परोक्ष ज्ञान है। हेतु शब्द, सादृश्य आदि अन्य माध्यमों से होने वाला अनुमान इत्यादि ज्ञान एकांत परोक्ष हैं। इन्द्रिय और मन से होने वाले ज्ञान सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहे गये हैं किन्तु जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया गया है वस्तुतः ये परोक्ष हैं। पांच ज्ञानों में मति और श्रुत परोक्ष हैं। प्रस्तुत पाठ का विवेच्य विषय है—मतिज्ञान।

4.5 मतिज्ञान

इन्द्रिय और मन के माध्यम से होने वाला ज्ञान मतिज्ञान कहलाता है। जैन आगमों में इसके लिए 'आभिनिबोधिक' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। प्रतिनियत अर्थ को ग्रहण करने वाला अर्थाभिमुखी ज्ञान आभिनिबोधिक है। यह उचित क्षेत्र में अवस्थित वस्तु को ग्रहण करने वाला स्पष्ट अवबोध है। इसे एक दृष्टांत से समझा जा सकता है— रात्रि में मंद प्रकाश के कारण पुरुषप्रमाण स्थाणु को देखकर व्यक्ति सोचता है—यह पुरुष है अथवा स्थाणु? वल्लियों से परिवेष्टित अथवा पक्षियों से आकीर्ण स्थाणु को देखकर उसे यह ज्ञात हो जाता है कि यह स्थाणु है। जो इस अभिमुख अर्थ—सामने दिखाई देने वाले पदार्थ को यथार्थ रूप में जानता है, वह आभिनिबोधिक ज्ञान है। यह मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से निष्पन्न होता है।

मतिज्ञान के दो प्रकार हैं—1. श्रुतनिश्रित मति और 2. अश्रुतनिश्रित मति।

4.5.1 (1) श्रुतनिश्रित मति

जिसकी मति श्रुत के अध्ययन से परिकर्मित/संस्कारित है उस व्यक्ति को किसी विषय का ज्ञान करते समय श्रुत का सहारा लिये बिना उस विषय में जो मतिज्ञान उत्पन्न होता है, वह श्रुतनिश्रित मति है। श्रुतनिश्रित मतिज्ञान उभयात्मक है। इन्द्रियजन्य होने के कारण वह मतिज्ञान अथवा आभिनिबोधिक है तथा श्रुत से संस्कारित होने के कारण वह श्रुतज्ञान है। उसे केवल मतिज्ञान अथवा केवल श्रुतज्ञान नहीं कहा जा सकता। इसलिए नन्दीसूत्रकार ने उसे श्रुतनिश्रित आभिनिबोधिक ज्ञान कहा है। उसके चार प्रकार हैं—1. अवग्रह, 2. ईहा, 3. अवाय, 4. धारणा।

(1) अवग्रह—इन्द्रिय और पदार्थ के संयोग अथवा उचित सामीप्य से होने वाला सामान्य अवबोध। वस्तु का प्राथमिक बोध अथवा सामान्य मात्र का ग्रहण अवग्रह है। उसके दो प्रकार हैं—

1. व्यञ्जनावग्रह—शब्द आदि विषयों के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होना व्यंजन है। उसके द्वारा जो शब्द आदि का अस्पष्ट बोध होता है, उसे व्यञ्जनावग्रह कहते हैं। यह अव्यक्त ज्ञान सुप्त, मत्त और मूर्च्छित पुरुष के ज्ञान जैसा होता है।

2. अर्थावग्रह—पदार्थ का जाति, द्रव्य, गुण आदि की कल्पना से रहित अवबोध। इसमें व्यञ्जनावग्रह की अपेक्षा कुछ स्पष्ट किन्तु अनिर्देश्य सामान्य रूप में अर्थ का ग्रहण होता है। जब व्यञ्जनावग्रह में श्रोत्र आदि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इन्द्रियाँ शब्द आदि द्रव्यों से आपूरित होती हैं, तब द्रव्य और इन्द्रिय का परस्पर संसर्ग होता है। तत्पश्चात् सामान्य, अनिर्देश्य तथा स्वरूप, नाम, जाति आदि की स्पष्टता से रहित अर्थ का ग्रहण होता है, वह अर्थावग्रह है।

नन्दी में अवग्रह के पांच एकार्थक निर्दिष्ट हैं, जो अवग्रहात्मक ज्ञान के उत्तरोत्तर विकास को सूचित करते हैं—

1. अवग्रहण—अवग्रह की प्रथम अवस्था है अवग्रहण, जिसमें इन्द्रिय और पदार्थ का योग होने पर पदार्थ का ज्ञान कालसापेक्ष होता है। यह प्रथम समय में उत्पन्न नहीं होता, अपितु असंख्य समय के पश्चात् है इसे 'प्रतिबोधक' दृष्टांत से समझाया गया है।
2. उपधारण—यह अवग्रह की दूसरी अवस्था है। इसमें दूसरे समय से लेकर असंख्यात समय तक अर्थ का प्रस्फुटित रूप बनता है।
3. श्रवण—इस तीसरी अवस्था में एक समय की अवधि वाला सामान्य अर्थ का अवग्रहण होता है।
4. अवलंबन—इस चतुर्थ अवस्था में विशेष सामान्य अर्थ का अवग्रहण होता है।
5. मेधा—अवग्रह की इस पांचवीं अवस्था में उत्तरोत्तर विशेष सामान्य अर्थ का अवग्रहण होता है।

चक्षुइन्द्रिय और मन का व्यञ्जनावग्रह नहीं होता। अतः श्रवण आदि अंतिम तीन पद अर्थावग्रह के एकार्थक होते हैं। प्रथम दो पद व्यञ्जनावग्रह की अवस्थाएँ हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार का ज्ञान होने पर भी पांचों विकल्पों में अवग्रह के स्वरूप का ही निदर्शन है, अतः इन्हें एकार्थक कहा गया है।

(2) ईहा

ईहा वितर्कमूलक अवधारणा है। सामान्य रूप में गृहीत पदार्थ के विशेष स्वरूप का विमर्श या मीमांसा करना ईहा है। इसमें अन्वयधर्मों (वस्तु में पाये जाने वाले धर्मों) के स्वीकरण तथा व्यतिरेक धर्मों (नहीं पाये जाने वाले धर्मों) के निराकरण द्वारा जो निश्चयाभिमुखी बोध होता है। अवग्रह में शब्द सामान्य का बोध होता है। किन्तु यह शब्द किसका है? कैसा है? इत्यादि का ज्ञान नहीं होता है। यह शब्द शंख का है अथवा व्यक्ति का है? इसमें शंख जैसा माधुर्य है, इसमें व्यक्ति की तरह स्पष्टता नहीं है। अतः यह शंख का होना चाहिए। इस प्रकार के ऊहापोह रूप ज्ञान को ईहा कहते हैं।

निश्चय के अभिमुख होने के कारण ईहा संशय नहीं है और निश्चय के निकट होने मात्र से यह निश्चय भी नहीं है। आभोगनता, मार्गणा, गवेषणा, चिन्ता और विमर्श—ये ईहा के पर्याय हैं।

(3) अवाय

निर्णायक ज्ञान। यह शब्द स्निग्ध और मधुर है, अतः यह शंख का ही शब्द है, श्रृंग का नहीं—इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक धर्मों के आधार पर किया जाने वाला निश्चयात्मक ज्ञान अवाय है।

निश्चय नय के अनुसार विषय का परिच्छेद हो जाने पर अंतिम विशेष का निर्णय होने तक सभी विषयों में पुनः पुनः ईहा और अवाय तो होते रहते हैं किन्तु अर्थावग्रह नहीं होता।

व्यवहार नय के अनुसार ज्ञात वस्तु के अन्यान्य विशिष्ट पक्षों से सम्बन्धित ईहा और अवाय की अपेक्षा तथा भावी विशेष बोध की अपेक्षा अवाय को भी औपचारिक अर्थावग्रह कहा जा सकता है।

आवर्तनता, प्रत्यावर्तनता, अपाय, बुद्धि और विज्ञान—ये अवाय के पर्याय हैं।

(4) धारणा

अवाय द्वारा निर्णीत अर्थ को धारण करना धारणा है। उसके तीन रूप हैं—

1. अविच्युति—उपयोग (ज्ञान की प्रवृत्ति) की धारा का अविच्छिन्न रहना अविच्युति है। इसका कालमान अन्तर्मुहूर्त्त है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2. वासना—अविच्युति के द्वारा आहित/स्थापित संस्कार का नाम है वासना। यह उपयोग के आवारक कर्म के क्षयोपशम से निष्पन्न है। इसका कालमान संख्येय या असंख्येय काल है।
3. स्मृति—कालान्तर में संस्कार जागृत होने पर 'यह वही है, जिसे मैंने पहले जाना था' ऐसा ज्ञान उदित होता है, यही स्मृति है।

उत्तरवर्ती दार्शनिकों के अनुसार धारणा प्रत्यक्ष ज्ञान के अन्तर्गत है और स्मृति परोक्ष प्रमाण का एक अंग है।

धारणा की तुलना न्यायवैशेषिक दर्शन सम्मत धारावाहिक ज्ञान तथा संस्कार-स्मरण एवं हीनयान-बौद्धदर्शन सम्मत जवन, जवनानुबंध और तदारम्भणपाक से की जा सकती है।

मनोविज्ञान में स्मृति की प्रक्रिया को तीन भागों में बांटा गया है—

1. कूट संकेतन (Encoding), 2. भण्डारण/संकलन (Storage), 3. पुनरुत्पादन (Retrieval)

धरणा, धारणा, स्थापना, प्रतिष्ठा और कोष्ठ—ये धारणा के एकार्थक और उसकी क्रमिक विकसित अवस्थाओं के सूचक हैं। इनमें कूट संकेतन की तुलना स्थाापना और भण्डारण की तुलना कोष्ठ से की जा सकती है।

नन्दीसूत्रकार ने व्यञ्जनावग्रह को प्रतिबोधक और मल्लक—इन दो दृष्टांतों द्वारा निरूपित किया है, जिनका सारांश इस प्रकार है—

1. प्रतिबोधक दृष्टांत

सुप्त पुरुष को जगाने के लिए कोई व्यक्ति संबोधित करता है। उस व्यक्ति के शब्द के पुद्गल सुप्त पुरुष के कानों में प्रविष्ट होते हैं। असंख्येय समय से पहले वह उन पुद्गलों को जान नहीं पाता। प्रथम समय से लेकर प्रतिसमय प्रविष्ट होने वाले शब्द पुद्गल असंख्यातवें समय में शब्द आदि के विज्ञान को उत्पन्न करते हैं। अंतिम समय से पूर्व प्रविष्ट पुद्गल इन्द्रिय क्षयोपशम के उपकारी हैं।

2. मल्लक दृष्टांत

आवा से शराव निकाला। वह गर्म शराव जल की एक-एक बूंद डालते-डालते भींग गया और जल से भर गया। इसी प्रकार अनन्त पुद्गलों का प्रक्षेप होते-होते जब व्यंजन पूर्ण हो जाता है, तब श्रोता को शब्द का बोध होता है। उसके पश्चात् ईहा, अवाय और धारणा की प्रक्रिया चलती है।

व्यंजन के तीन अर्थ हैं—1. शब्द आदि पुद्गल द्रव्य 2. द्रव्येन्द्रिय (उपकरणेन्द्रिय) 3. शब्द आदि पुद्गल द्रव्य और द्रव्येन्द्रिय का सम्बन्ध।

इस प्रकार पुद्गल और इन्द्रिय दोनों के सामर्थ्य से विज्ञान उत्पन्न होता है। प्रतिबोधकाल से पूर्व व्यंजनावग्रह होता है। प्रतिबोध के समय सुप्त व्यक्ति जब 'हुं' की ध्वनि करता है, तब एक समय का अर्थावग्रह होता है। यह 'कुछ है'—इस रूप में शब्द का अव्यक्त बोध होता है।

मन के अवग्रह आदि को स्वप्न के निदर्शन से स्पष्ट किया गया है। किसी व्यक्ति ने निद्रा के समय स्वप्न देखा। जागने के प्रथम समय में यह स्मृति होती है—मैंने स्वप्न देखा—यह अर्थावग्रह है। मन के व्यञ्जनावग्रह नहीं होता।

वस्तुबोध में पूरा क्रम इस प्रकार बनता है—

- इन्द्रिय और अर्थ का उचित देश में अवस्थान
- दर्शन—सत्ता मात्र का ग्रहण। जैसे—है।
- ग्राह्य वस्तु का सत्तात्मक निश्चय। जैसे—यह कुछ है।
- आलोचनात्मक निश्चय। जैसे—यह शब्द होना चाहिये।
- अपायात्मक निश्चय। जैसे—यह शब्द ही है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

▪ निश्चय की धारणा। जैसे—ऐसा शब्द ही होता है।

अवग्रह से अगृहीत वस्तु में ईहा प्रवृत्त नहीं होती। अनीहित (अविचारित) का अवाय (निश्चय) नहीं होता। अनिश्चित अथवा अज्ञात अर्थ की धारणा नहीं होती। अवग्रह आदि के क्रम में परिवर्तन भी नहीं होता। ये चारों समकालीन नहीं होते, उत्तरोत्तर वस्तु के विशेष पर्याय को ग्रहण करते हैं।

अवग्रह के पश्चात् संशय ज्ञान होता है। यह क्या है—शब्द अथवा स्पर्श? ईहा संशय के द्वारा उत्पन्न विकल्पों को पृथक् करती है। ईहा के द्वारा ज्ञात अर्थ का अवाय (निर्णय) होता है।

संशय, ईहा और अवाय का क्रम न्यायदर्शन के प्रवर्तक अक्षपाद गौतम द्वारा प्रणीत सोलह पदार्थ के अन्तर्गत संशय, तर्क और निर्णय के साथ तुलनीय है। (न्यायसूत्र, 1/1/23, 40, 41)

मतिज्ञान के 28 भेद (प्राप्यकारी-अप्राप्यकारी)

स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्र ग्राह्य वस्तु से सम्पृक्त होने पर उसे जानते हैं, इसलिए वे पटु हैं। चक्षु ग्राह्य वस्तु को उचित सामीप्य से ही जान लेता है, इसलिए वह पटुतर है। पटु इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं, इसलिए उनका व्यञ्जनावग्रह होता है। मन भी चक्षु की बिना सम्पर्क के पदार्थ को जान लेता है, अतः उसे भी व्यञ्जनावग्रह की अपेक्षा नहीं होती।

व्यञ्जनावग्रह में विषय और इन्द्रिय का सम्पर्क होता है—इसमें कोई मतभेद नहीं है, किन्तु उनके सम्पर्क के स्वरूप में जो मतभेद है वह निम्नांकित तालिका में निर्दिष्ट है—

इन्द्रियां	**प्राप्यकारी**	**अप्राप्यकारी**
श्रोत्रेन्द्रिय	बौद्ध के अतिरिक्त सभी दर्शन	बौद्ध
चक्षुरिन्द्रिय	सांख्य, न्याय, वैशेषिक, मीमांसक	जैन, बौद्ध
घ्राणेन्द्रिय	सभी दर्शन	--
रसनेन्द्रिय	सभी दर्शन	--
स्पर्शनेन्द्रिय	सभी दर्शन	--
नोइन्द्रिय (मन)	सांख्य और वेदान्त	शेष सभी दर्शन

ध्वनि-पुद्गल जब तक तरंगों के माध्यम से श्रोत्र इन्द्रिय में नहीं पहुँचते, तब तक ध्वनि का ज्ञान संभव नहीं, अतः श्रोत्र को अप्राप्यकारी नहीं माना जा सकता। चक्षु में दृश्य वस्तु का तदाकार प्रतिबिम्ब पड़ता है। उससे चक्षु को अपने विषय का बोध होता है। अतः उसे प्राप्यकारी नहीं कहा जा सकता किन्तु नैयायिक चक्षु को प्राप्यकारी मानते हैं। उनके अभिमत से चक्षु की सूक्ष्म रश्मियों का पदार्थ से सम्पर्क होता है। विज्ञान के अनुसार भी चक्षु का पदार्थ के साथ सम्पर्क नहीं होता। कैमरे की भांति उसमें दूरस्थ वस्तु का चित्र अंकित हो जाता है। कांच में पड़ने वाला वस्तु का प्रतिबिम्ब और वस्तु एक नहीं होते, इसलिए कांच उस वस्तु से सम्पृक्त नहीं कहलाता। आंख की वस्तुबोध की प्रक्रिया भी यही है।

अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के छह-छह (पांच इन्द्रिय और मन) भेद हैं। व्यञ्जनावग्रह के चार(चक्षु और मन को छोड़कर) भेद हैं। इस प्रकार श्रुतनिश्रित मति के अट्ठाईस भेद हैं—

व्यञ्जनावग्रह—श्रोत्रेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, स्पर्शनेन्द्रिय।

अर्थावग्रह—श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, स्पर्शनेन्द्रिय, मन।

ईहा—श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, स्पर्शनेन्द्रिय, मन।

अवाय—श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, स्पर्शनेन्द्रिय, मन।

धारणा—श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, स्पर्शनेन्द्रिय, मन।

मतिज्ञान के 336 भेद

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मतिज्ञान के उल्लिखित अट्ठाईस भेदों को बहु, अल्प, बहुविध, अल्पविध, क्षिप्र, अक्षिप्र, अनिश्रित, निश्रित, निश्चित, अनिश्चित, ध्रुव और अध्रुव—इन बारह भेदों से गुणन करने पर श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के तीन सौ छत्तीस (28 x 12 = 336) भेद होते हैं।

अवग्रह आदि का कालमान—

व्यञ्जनावग्रह का कालमान असंख्य समय, अर्थावग्रह का एक समय, ईहा का अन्तर्मुहूर्त्त, अवाय का अन्तर्मुहूर्त्त तथा धारणा का संख्येय काल अथवा असंख्येय काल है।

4.5.2 अश्रुतनिश्रित मति

शास्त्र-संस्पर्श से सर्वथा रहित श्रुतसंस्कार से निरपेक्ष, तथाविध क्षयोपशम से जो यथार्थ वस्तुसंस्पर्शी सहज बोध होता है, वह अश्रुतनिश्रित मति है। यह स्वतंत्ररूप से अर्थ-निर्णय करती है। इस मति से सम्पन्न व्यक्ति बुद्धिसिद्ध कहलाता है। इसके चार प्रकार हैं—1. औत्पत्तिकी बुद्धि, 2. वैनयिकी बुद्धि, 3. कर्मजा बुद्धि, 4. पारिणामिकी बुद्धि। नन्दीसूत्र में इस बुद्धि चतुष्टयी की स्पष्टता के लिए अस्सी कथाएँ और ऐतिहासिक वृत्त निर्दिष्ट हैं।

4.5.2.1 औत्पत्तिकी बुद्धि

उत्पत्ति ही है प्रयोजन अथवा कारण जिसका, वह औत्पत्तिकी बुद्धि है। विनय, अभ्यास आदि कारणों से शून्य, सहसा उत्पन्न होने के कारण इसकी संज्ञा औत्पत्तिकी है। प्रातिभ ज्ञान, प्रतिभा और प्रत्युत्पन्न मति इसके पर्यायवाची नाम हैं।

पहले जिस पदार्थ को देखा नहीं, सुना नहीं, जाना नहीं ऐसे पदार्थ को भी तत्काल यथार्थतः ग्रहण करने वाली मति औत्पत्तिकी बुद्धि कहलाती है। ज्ञानावरणीय कर्म के विलय से चेतना इतनी पारदर्शी बन जाती है कि शास्त्र अध्ययन, कर्माभ्यास अथवा अनुमान आदि के बिना ही इस बुद्धि वाला व्यक्ति किसी भी विषय के यथार्थ बोध की दक्षता प्राप्त कर लेता है। इसका अंतरंग कारण तो मति ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम ही है। औत्पत्तिकी बुद्धि में संशय, विपर्यय आदि दूषण नहीं होते।

4.5.2.2 वैनयिकी बुद्धि

विनय अथवा शिक्षा से उत्पन्न बुद्धि वैनयिकी बुद्धि है। इससे धर्म, अर्थ और काम के अर्जन के रहस्य ज्ञान होते हैं।

4.5.2.3 कर्मजा बुद्धि

सतत कर्म या अभ्यास से उत्पन्न बुद्धि कर्मजा बुद्धि है। दत्तचित्त होने पर इससे क्रिया के रहस्य को जाना जाता है। इस बुद्धि से सम्पन्न व्यक्ति कार्यकुशल बनता है।

4.5.2.4 पारिणामिकी बुद्धि

दीर्घकालीक पूर्वापर विमर्श से उत्पन्न बुद्धि पारिणामिकी बुद्धि है। यह अनुमान, हेतु और दृष्टांत से साध्य को सिद्ध करने वाली, उम्र विकास के साथ परिपक्व होने वाली, अभ्युदय और निःश्रेयस फल वाली है।

अश्रुतनिश्रित का सिद्धान्त ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में एक क्रांतिकारी प्रकल्प है। हमारे ज्ञान का माध्यम केवल इन्द्रियाँ या ग्रंथ ही नहीं है। उनकी सहायता के बिना भी ज्ञान उत्पन्न होता है। मस्तिष्क के अनेक खण्ड हैं। एक खण्ड का विकास श्रुतग्रंथों के अध्ययन से होता है, उसका नाम ग्रहण-शिक्षा है। शिक्षा के क्षेत्र में उसी प्रणाली का उपयोग होता है। अश्रुतनिश्रित ज्ञान शिक्षा की कोई प्रणाली नहीं है। वह मस्तिष्क के उस खण्ड से विकसित होता है, जिसमें ज्ञान पहले से संचित रहता है और जो अभिव्यक्त होने में किसी बाह्य निमित्त की अपेक्षा नहीं रखता। अनेक वैज्ञानिक आविष्कार स्वप्न-अवस्था अथवा निर्विचार अवस्था में उत्पन्न होते हैं, उनकी व्याख्या अश्रुतनिश्रित ज्ञान के द्वारा ही की जा सकती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उत्पत्ति के निमित्त के आधार पर मतिज्ञान के चार विकल्प बनते हैं—1. इन्द्रियों से उत्पन्न, 2. मन से उत्पन्न, 3. इन्द्रिय और मन दोनों से उत्पन्न, 4. ओघज्ञान— इन्द्रिय और मन के माध्यम के बिना उत्पन्न।

ज्ञेय के चार रूप हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। इस ज्ञेय (विषय) के आधार पर मतिज्ञान के चार प्रकार हैं—

1. द्रव्यतः—द्रव्य की दृष्टि से मतिज्ञानी सामान्य रूप से सब द्रव्यों को जानता है।
2. क्षेत्रतः—क्षेत्र की दृष्टि से मतिज्ञानी सामान्य रूप से सर्व क्षेत्र को जानता है।
3. कालतः—काल की दृष्टि से मतिज्ञानी सामान्य रूप से सर्व काल को जानता है।
4. भावतः—भाव की दृष्टि से मतिज्ञानी सामान्य रूप से सब भावों (पर्यायों) को जानता है।

मतिज्ञान के नौ पर्यायवाची नाम हैं—

1. ईहा—अन्वयी और व्यतिरेकी दोनों धर्मों के पर्यालोचन की चेष्टा।
2. अपोह—निश्चय।
3. विमर्श—ईहा और अवाय का मध्यवर्ती प्रत्यय। जैसे सिर को खुजलाते हुए देखकर यह प्रत्यय होता है कि खुजलाना पुरुष में घटित होता है, खंभे में नहीं।
4. मार्गणा—अन्वय धर्म की अन्वेषणा।
5. गवेषणा—व्यतिरेक धर्म का आलोचन।
6. संज्ञा—व्यंजनावग्रह के उत्तरकाल में होने वाली मति विशेष। (तत्त्वार्थभाष्यानुसारिणी, पृ. 78 में संज्ञा का अर्थ प्रत्यभिज्ञा किया गया है)
7. स्मृति—पूर्वानुभूत अर्थ के आलम्बन से होने वाला प्रत्यय।
8. मति—अर्थ का परिच्छेद होने पर भी सूक्ष्म धर्म का आलोचन करने वाली बुद्धि।
9. प्रज्ञा—वस्तु के अनेक यथार्थ धर्मों का आलोचन करने वाली बुद्धि। इसकी उपलब्धि मतिज्ञानावरण के विशिष्ट क्षयोपशम से होती है।

4.6 सारांश

शब्द, संकेत अथवा श्रुतनिरपेक्ष मति शुद्ध मतिज्ञान है। शब्द, संकेत अथवा श्रुतसापेक्ष श्रुतज्ञान है। जहां मतिज्ञान है, वहां श्रुतज्ञान है। जहां श्रुतज्ञान है, वहां मतिज्ञान है। ये दोनों परस्पर अनुगत हैं, फिर भी उनमें भिन्नता है। इनके परस्पर भेद और अभेद की चर्चा 'श्रुतज्ञान' पाठ में पढ़ें।

4.7 अभ्यास प्रश्नावली

निबंधात्मक प्रश्न

1. मतिज्ञान का स्वरूप क्या है?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. मतिज्ञान की प्रत्यक्षता और परोक्षता को समझायें।
2. मतिज्ञान आभिनिबोधिक ज्ञान है—इसे सोदाहरण प्रतिपादित करें।
3. श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित मति से क्या तात्पर्य है?
4. टिप्पणी लिखें— अवग्रह, ईहा, औत्पत्तिकी बुद्धि।
5. मतिज्ञान के पर्यायवाची नामों का उल्लेख करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. …….. जीवों में ज्ञान का विकास न्यूनतम होता है।
2. ज्ञानावरण कर्म के पूर्ण विलय से …….. उत्पन्न होता है।
3. आचार्य जिनभद्रगणि ने इन्द्रिय प्रत्यक्ष को …….. प्रत्यक्ष कहा है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4. वितर्कमूलक अवधारण .... है।
5. .... के तीन सौ छत्तीस भेद होते हैं।
6. .... बुद्धि सतत अभ्यास से उत्पन्न होती है।

कार्यनिर्देश—तत्त्वार्थसूत्र I (13-20) (सटीक) का अध्ययन करें।

हिन्दी व्याख्या—पंडित सुखलाल संघवी, प्रकाशक—पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1985.

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–5 : श्रुतज्ञान

संरचना

5.0 प्रस्तावना
5.1 उद्देश्य
5.2 श्रुतज्ञान का स्वरूप
5.3 श्रुतज्ञान की प्रमाणता
5.4 श्रुत के भेद
5.5 आचार्यो द्वारा निबद्ध श्रुत परम्परा का प्रारंभ
5.6 अक्षरश्रुत
5.7 उत्कालिक की सूची में उन्तीस आगमों का उल्लेख है-
5.8 कालिक सूत्र की सूची में 30 आगमों का उल्लेख है
5.9 आगम प्रामाण्य
5.10 सारांश
5.11 अभ्यास प्रश्नावली

5.0 प्रस्तावना

चक्षु आदि इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले मतिज्ञान पूर्वक श्रुतज्ञान होता है। राजवार्तिक में बताया है[1]—श्रुतावरणक्षयोपशमाद्यन्तरङ्ग.बहिरङ्ग.हेतुसन्निधाने सति श्रूयते स्मेति श्रुतम्। कर्तरि श्रुतपरिणत आत्मैव शृणोतीति श्रुतम्। भेदविवक्षायां श्रूयतेऽनेनेति श्रुतम्, श्रवणमात्रं वा।' अर्थात् कर्म के क्षयोपशम होने पर जो सुना जाय वह श्रुत है। कर्तृसाधन में श्रुतपरिणत आत्मा श्रुत है। करणविवक्षा में जिससे सुना जाय, वह श्रुत है। भावसाधना में श्रवण-क्रिया श्रुत है।

5.1 उद्देश्य– इसके अध्ययन से श्रुतज्ञान का ज्ञान हो सकेगा।

5.2 श्रुतज्ञान का स्वरूप

आचार्य विद्यानन्द ने श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विगमविशेष से श्रवण करना श्रुत कहा है। इनके मत से जो वाच्य अर्थ आप्तवाक्य द्वारा सुना जा चुका है, वह अपने और वाच्यार्थ को जानने वाला आगमज्ञानरूप श्रुतज्ञान है। श्रुत शब्द के अनेक अर्थ होने पर भी श्रुतज्ञान के अर्थ में निहित है। यथा—

श्रुतेऽनेकार्थतासिद्धे ज्ञानमित्यनुवर्तनात्।
श्रवणं हि श्रुतज्ञानं न पुनः शब्दमात्रकम्॥ —तत्त्वार्थ श्लो. 1/20/1

आशय यह है कि श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष की अपेक्षा से उत्पन्न हुआ और अविनाभावी अनेक अर्थान्तरों का निरूपण करने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है।

यह श्रुतज्ञान अमृत के समान हितकारी है, विषय-वेदना से सन्तप्त प्राणी के लिए परम औषधि है। आचार्य कुन्दकुन्द ने बताया है—

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूयं।
जरमरणवाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं॥ —दंसणपाहुड गाथा 17

5.3 श्रुतज्ञान की प्रमाणता

भारत के सभी धर्म और दर्शन श्रुत—आगम ज्ञान को प्रमाण मानते हैं। वैदिक परम्परा में अपौरुषेय वेद ही सर्वोपरि प्रमाणभूत हैं और श्रमण परम्परा में सर्वज्ञ, वीतरागी एवं हितोपदेशी व्यक्ति के वचनों से उत्पन्न ज्ञान को प्रमाण माना है। व्यक्ति के निर्दोष और पूर्ण ज्ञानी होने से उसके द्वारा प्रतिपादित वचनों में किसी भी प्रकार की त्रुटि या भूल नहीं हो सकती। अतः प्रत्यक्ष के समान आगम अथवा श्रुतज्ञान को भी प्रमाण माना गया है।[2] आगम में बताया है—

---

[1] तत्त्वार्थराजवार्तिक, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण, 1/9/2, पृ. 44

[2] श्रुतस्याज्ञानतामिच्छस्तद्वाचैव निराकृतः।
स्वार्थेक्षमतिवत्तस्य संविदित्वेन निर्णयात्॥

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सुद केवलं च णाणं दोण्णवि सरिसाणि होंति बोहादो।
सुदणाणं तु परोक्खं पच्चक्खं केवलं णाणं॥

—गोम्मटसार जीवकाण्ड गा. 368

समस्त द्रव्य और पर्यायों को जानने की अपेक्षा श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों ही समान हैं। अंतर इतना है कि केवलज्ञान प्रत्यक्ष रूप से जानता है और श्रुतज्ञान परोक्ष रूप से। अतएव श्रुतज्ञान की प्रमाणता असंदिग्ध है।

स्वामी समंतभद्र ने भी केवलज्ञान से स्याद्वाद रूप आगम की उत्पत्ति होती है और स्याद्वाद रूप आगम के अभ्यास से केवलज्ञान की। श्रुतज्ञान का इतना बड़ा महत्त्व है कि द्वादशांङ्ग. श्रुत का पाठी श्रुतकेवली कहलाता है।

5.4 श्रुत के भेद

श्रुत के मूल दो भेद हैं—द्रव्यश्रुत और भावश्रुत। आप्त के उपदेश द्वादशांगवाणी को द्रव्यश्रुत और उससे होने वाले ज्ञान को भावश्रुत कहते हैं। दूसरे शब्दों को द्रव्यश्रुत और उससे होने वाले ज्ञान को भावश्रुत कहा जाता है। इसी कारण द्रव्यश्रुत को ग्रंथरूप श्रुत और भावश्रुत को ज्ञानरूप श्रुत भी कहते हैं। ग्रंथरूप द्रव्यश्रुत के मूल दो भेद हैं—अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। अंगबाह्य के बारह भेद हैं—1. आचारांग 2. सूत्रकृतांग 3. स्थानांग 4. समवायांग 5. व्याख्याप्रज्ञप्ति 6. ज्ञातधर्मकथा 7. उपासकाध्ययनांग 8. अंतकृद्दशांग 9. अनुत्तरोपपादिक 10. प्रश्नव्याकरणांग 11. विपाकश्रुतांग और 12. दृष्टिवादांग। जैसे पुरुष के शरीर में दो पैर, दो जांघ, दो उरू, दो हाथ, एक पीठ, एक उदर, एक छाती और एक मस्तक ये बारह अंग होते हैं, उसी प्रकार श्रुतज्ञान रूपी पुरुष के भी बारह अंग हैं। सर्वज्ञ, वीतरागी, अर्हन्त तीर्थंकर के मुखारबिन्द से सुना हुआ ज्ञान होने के कारण ही यह श्रुतज्ञान कहलाता है। तीर्थंकर अपने दिव्यज्ञान द्वारा पदार्थों का साक्षात्कार करके बीजपदों के द्वारा उपदेश देते हैं, इसे ही द्रव्यश्रुत कहा जाता है। इस द्रव्यश्रुत के अर्थकर्त्ता तीर्थंकर और ग्रंथकर्त्ता गणधर माने जाते हैं। श्रुतज्ञान की यह परम्परा अनादि अनवच्छिन्न रूप से चली आ रही है। ऋषभदेव भगवान् के तीर्थंकर काल में जो श्रुतज्ञान की परम्परा आरंभ हुई थी, वही पार्श्वनाथ और महावीर के तीर्थंकर काल में गतिशील हुई है।

इस युग में श्रावणकृष्णा प्रतिपदा को[1] ब्रह्म मुहूर्त्त में तीर्थंकर महावीर की देशना प्रादुर्भूत हुई और गौतम गणधर ने उसे द्वादशांग रूप में निबद्ध किया। यही निबद्ध ज्ञान श्रुतज्ञान कहा जाता है।

5.5 आचार्यों द्वारा निबद्ध श्रुत परम्परा का प्रारंभ

कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि के पिछले भाग में महावीर भगवान् के मुक्त हो जाने पर गौतम स्वामी केवलज्ञानी हुए। इन्होंने बारह वर्षों तक जैन संघ का संचालन किया। इनके मुक्त होने पर लोहार्य उपनाम सुधर्माचार्य केवलज्ञानी हुए। बारह वर्ष तक विहार करने पर उन्होंने भी मुक्तिलाभ प्राप्त किया। अनन्तर जम्बूस्वामी अंतिम केवली हुए। इन्होंने अड़तीस वर्षों तक विहार किया और धर्मसभाओं में उपदेश दिया। उनके निर्वाण प्राप्त करने पर केवज्ञानियों की परम्परा समाप्त हो गई। इस प्रकार बासठ वर्षों तक धर्मोपदेश के रूप में श्रुतपरम्परा चलती रही। केवलियों का सम्पर्क प्राप्त होने से जैनसंघ में द्वादशांगरूप श्रुतज्ञान कण्ठ में विद्यमान रहा।

जम्बूस्वामी के निर्वाण के पश्चात् सौ वर्ष में पांच श्रुतकेवली हुए, जो समस्त द्वादशांगवाणी के ज्ञाता थे। इनमें अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। इन भद्रबाहु के समय में मगध में बारह वर्ष का दुर्भिक्ष पड़ा। इन दिनों मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त का मगध में साम्राज्य विद्यमान था। दुर्भिक्ष के कारण आचार्य भद्रबाहु एक बड़े मुनिसंघ के साथ दक्षिणापत्र को विहार कर गये और वहीं श्रवणवेलगोल (मैसूर राज्य) नामक स्थान में उन्होंने

न हि श्रुतज्ञानप्रमाणं क्वचिद्विसंवादादिति ब्रुवाणः स्वस्थः प्रत्यक्षादेरप्यप्रमाणत्वापत्तेः। संवादकत्वात्तस्य प्रमाणत्वे तत एव श्रुतं प्रमाणमस्तु।

न हि ततोऽर्थ परिच्छिद्य प्रवर्तमानोऽर्थक्रियायां विसंवाद्यते प्रत्यक्षानुमानत इव श्रुतस्याप्रमाणतामिच्छन्नेव श्रुतवचनेन निराकृतो द्रष्टव्यः।

—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, मुम्बई, 1918 ई. 1/9/20, पृ. 164

[1] वासस्स पढममासे पढमे पक्खम्मि सावणे बहुले।
पाडिवदपुव्वदिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजिम्मि ॥—जयधवला 1, पृ. 84 352: गुरु गोपालदास वरैया स्मृति-ग्रंथ से

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

समाधि प्राप्त कर ली। भद्रबाहु को समस्त जैनसंघ श्वेताम्बर और दिगम्बर अपना गुरु मानता था, उनके दिवंगत होने पर संघव्यवस्था में कठिनाई उपस्थित हुई ही, साथ ही श्रुतपरम्परा में बहुत बड़ा व्यवधान उत्पन्न हुआ।

नोटः श्रुतज्ञान—टिप्पणी के साथ नंदी सूत्र के आधार पर विस्तार से प्राकृत मूल पाठ के साथ निम्न प्रकार समझा जा सकता है। नंदीसूत्र, 55-80 (सटिप्पण)।

सुयनाण-पदं

55. से किं तं सुयनाणपरोक्खं? सुयनाणपरोक्खं चोद्दसविहं पण्णत्तं, तं जहा—1. अक्खरसुयं 2. अणक्खरसुयं 3. सण्णिसुयं 4. असण्णिसुयं 5. सम्मसुयं 6. मिच्छसुयं 7. साइयं 8. अणाइयं 9. सपज्जवसियं 10. अपज्जवसियं 11. गमियं 12. अगमियं 13. अंगपविट्ठं 14. अणंगपविट्ठं।

हिन्दीः श्रुतज्ञान पद—वह श्रुतज्ञान परोक्ष क्या है? श्रुतज्ञान चौदह प्रकार का प्रज्ञप्त है—1. अक्षरश्रुत 2. अनक्षरश्रुत 3. संज्ञीश्रुत 4. असंज्ञीश्रुत 5. सम्यक्श्रुत 6. मिथ्याश्रुत 7. सादि 8. अनादि 9. सपर्यवसित 10. अपर्यवसित 11. गमिक 12. अगमिक 13. अंगप्रविष्ट 14. अनंगप्रविष्ट।

टिप्पण

प्रस्तुत सूत्र में श्रुतज्ञान के चौदह प्रकार बतलाए हैं। षट्खण्डागम, कर्मग्रन्थ (कर्म विपाक) में श्रुतज्ञान के बीस प्रकार बतलाए गए हैं। ये दोनों वर्गीकरण भिन्न-भिन्न अभिप्राय से किये गए हैं। प्रस्तुत वर्गीकरण छह हेतु सापेक्ष है। अक्षरश्रुत और अनक्षरश्रुत यह वर्ग अक्षर तथा संकेत के आधार पर होने वाले ज्ञान की अपेक्षा से किया गया है। संज्ञीश्रुत और असंज्ञीश्रुत—यह वर्ग मानसिक विकास और अविकसित मन के आधार पर किया गया है। सम्यग्श्रुत और मिथ्याश्रुत का वर्गीकरण प्रवचनकार और ज्ञाता इन दोनों के आधार पर किया गया है। सादि, अनादि, सपर्यवसित, अपर्यवसित—यह वर्गीकरण कालावधि के आधार पर किया गया है। गमिक और अगमिक—यह वर्गीकरण ग्रन्थ की रचना शैली के आधार पर किया गया है। अंग और अनंग यह वर्गीकरण ग्रन्थकार की दृष्टि से किया गया है। षट्खण्डागम में श्रुतज्ञान के बीस भेद श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम के आधार पर किया गया हैं।

श्रुतज्ञान के चौदह भेदों की अवधारणा आवश्यक निर्युक्ति और नंदी सूत्र में उपलब्ध होती हैं। देवेन्द्रसूरि कृत कर्म विपाक में श्रुतज्ञान के चौदह और बीस दोनों प्रकार उपलब्ध हैं। इससे पूर्ववर्ती किसी भी आगम ग्रन्थ में उनका उल्लेख नहीं है। श्रुतज्ञान के बीस भेदों की अवधारणा कर्मशास्त्रीय है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं के कर्मशास्त्र में बीस भेदों का उल्लेख है। षट्खण्डागम में कर्मशास्त्रीय परंपरा का अनुसरण किया गया है। नंदी में प्राप्त चतुर्दश भेद कर्मशास्त्रीय परम्परा से भिन्न हैं। प्रतीत होता है देवेन्द्रसूरि ने अपने कर्म विपाक में नंदी और कर्मशास्त्र दोनों परम्पराओं का समावेश किया है। उमास्वाति ने श्रुत के चौदह अथवा बीस भेदों का उल्लेख किया है। उन्होंने अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य इन दोनों का उल्लेख किया है। सिद्धसेनगणि और अकलंक ने सूत्रस्पर्शी व्याख्या की है। चौदह भेद की परम्परा का मूल आधार अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य आगम ही प्रतीत होता है।

56. से किं तं अक्खरसुयं? अक्खरसुयं तिविहं पण्णत्तं, तं जहा—1. सण्णक्खरं 2. वंजणक्खरं 3. लद्धिअक्खरं।।

हिन्दीः वह अक्षरश्रुत क्या है? अक्षरश्रुत तीन प्रकार का प्रज्ञप्त है, जैसे—1. संज्ञा अक्षर 2. व्यञ्जन अक्षर 3. लब्धिअक्षर।

57. से किं तं सण्णक्खरं? सण्णक्खरं— अक्खरस्स संठाणागिई। से त्तं सण्णक्खरं।।

हिन्दीः वह संज्ञा अक्षर क्या है? संज्ञा अक्षर--अक्षर का संस्थान, आकृति। वह संज्ञा अक्षर है।

58. से किं तं वंजणक्खरं? वंजणक्खरं— अक्खरस्स वंजणाभिलावो। से त्तं वंजणक्खरं।।

हिन्दीः वह व्यञ्जन अक्षर क्या है? व्यञ्जन अक्षर-अक्षर का व्यक्त उच्चारण। वह व्यञ्जन अक्षर है।

59. से किं तं लद्धिअक्खरं? लद्धिअक्खरं—अक्खरलद्धियस्स लद्धिअक्खरं समुपपज्जइ, तं जहा—सोइंदियलद्धिअक्खरं, चक्खिदियलद्धिअक्खरं,घाणिंदियलद्धिअक्खरं, रसणिंदियलद्धिअक्खरं, फलिंदियलद्धिअक्खरं, नोइंदियलद्धिअक्खरं। सेत्तं लद्धिअक्खरं। सेत्तं अक्खरसुयं।।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

हिन्दी: वह लब्धि अक्षर क्या है? लब्धि अक्षर—जिसे अक्षर ज्ञान की योग्यता प्राप्त होती है। उस जीव के लब्धि अक्षर का विकास होता है, जैसे—श्रोत्र इन्द्रिय लब्धि अक्षर, चक्षुरिन्द्रिय लब्धि अक्षर, घ्राणइन्द्रिय लब्धि अक्षर, रसनइन्द्रिय लब्धि अक्षर, सपर्शनइन्द्रिय लब्धि अक्षर, नोइन्द्रिय लब्धि अक्षर। वह लब्धि अक्षर है। वह अक्षरश्रुत है।

टिप्पण

5.6 अक्षरश्रुत

जिसका कभी क्षरण नहीं होता वह अक्षर है। ज्ञान अनुपयोग अवस्था में (विषय के प्रति दत्तचित्तता न होने पर) भी प्रच्युत नहीं होता, इसलिए वह अक्षर है। जिनभद्रगणि ने नयदृष्टि से ज्ञान के क्षर और अक्षर इस उभयात्मक स्वरूप की चर्चा की है। नैगम आदि अविशुद्ध नयों की दृष्टि में ज्ञान अक्षर है उसका प्रच्यवन नहीं होता। ऋजुसूत्र आदि नयों में दृष्टि में ज्ञान क्षर है। अनुपयोग अवस्था में उसका प्रच्यवन होता है। घट आदि अभिलाप्य पदार्थ द्रव्यार्थिक दृष्टि से नित्य हैं, अक्षर हैं। पर्यायार्थिक दृष्टि से अनित्य हैं, क्षर हैं। यद्यपि सकल ज्ञान अक्षर है फिर भी रूढिवशात् वर्ण को अक्षर कहा जाता है। अक्षर के तीन रूप हैं—1. संज्ञाक्षर 2. व्यञ्जननाक्षर 3. लब्ध्यक्षर।

चूर्णिकार ने अक्षर के तीन प्रकार भिन्न रूप से बतलाए हैं—1. ज्ञानाक्षर 2. अभिलापाक्षर 3. वर्णाक्षर।

भाषा विज्ञान सम्मत शब्द की तीन प्रकृतियों से इनकी तुलना की जा सकती है—1. चक्षुर् ग्राह्य प्रकृति—लिपिशास्त्रगत रेखाएं। 2. श्रोत्र ग्राह्य प्रकृति—उच्चारणशास्त्रगत ध्वनियां। 3. बुद्धि ग्राह्य प्रकृति—वस्तु का अवधारक अर्थ।

संज्ञाक्षर

संज्ञा शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। यहां संज्ञा का अर्थ संकेत है। अक्षर के जिस संस्थान अथवा आकृति में जिस अर्थ का संकेत स्थापित किया जाता है वह अक्षर संकेत के अनुसार ही अर्थ कराता है। इस संज्ञाक्षर के आधार पर ब्राह्मी आदि सभी लिपियों का विकास हुआ है। अकार के आकार में अकार की ही संज्ञा होती है। इसी प्रकार आकार आदि सभी वर्णों में अपने-अपने संस्थानों के आधार पर संज्ञा होती है। इसलिए अकार आदि अक्षरों को संज्ञाक्षर कहा गया है। चूर्णिकार ने इसे उदाहरण के द्वारा समझाया है। वृत्त और घट की आकृति वाले वर्ण को देखने पर 'ठ' की संज्ञा उत्पन्न हो जाती है। मलयगिरि ने णकार और ढकार की आकृति का निदर्शन प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार णकार चुल्हे की आकृति वाला और ढकार कुत्ते की वक्रीभूत पूंछ की आकृति वाला है। मलधारी हेमचन्द्र के अनुसार टकार अर्द्धचंद्र की आकृति वाला होता है।

व्यञ्जनाक्षर

अकारादि का उच्चारण व्यञ्जनाक्षर है। इससे अर्थ की अभिव्यञ्जना होती है। इसलिए इसका नाम व्यञ्जनाक्षर है।

लब्ध्यक्षर

इन्द्रिय और मन इस उभयात्मक विज्ञान से अक्षर का लाभ होता है उसकी संज्ञा लब्धि अक्षर है। हरिभद्र और मलयगिरि ने श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम और श्रुतज्ञान का उपयोग इन दोनों को लब्धि अक्षर बतलाया है। संज्ञा और व्यञ्जन ये दोनों प्रकार के अक्षर द्रव्यश्रुत हैं, ज्ञानात्मक नहीं हैं। ये श्रुतज्ञान के साधन हैं। लब्धि अक्षर भावश्रुत है, ज्ञानात्मक है।

मलयगिरि ने प्रश्न उपस्थित किया है कि लब्धि अक्षर अक्षरानुविद्ध ज्ञान है इसलिए वह समनस्क जीवों के ही हो सकता है। अमनस्क जीव अक्षर को पढ़ नहीं सकते और उसके उच्चारण को समझ नहीं सकते। उनके लब्धि अक्षर संभव नहीं है। इस प्रश्न पर उन्होंने एक विमर्श प्रस्तुत किया है—जिनभद्रगणि ने पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीवों में भावश्रुत स्वीकार किया है और वह शब्द और अर्थ की पर्यालोचना से होने वाला विज्ञान है। शब्दार्थ का पर्यालोचन अक्षर के बिना नहीं हो सकता। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि अमनस्क जीवों के अव्यक्त अक्षर लाभ होता है। उससे अमनस्क जीवों में अक्षरानुषक्त श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। इस तथ्य की पुष्टि के लिए आहार आदि की अभिलाषा की चर्चा की गई है। अभिलाषा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

का अर्थ है 'मुझे वह वस्तु मिले' यह अभिलाषा अक्षरानुविद्ध होती है इसलिए एकेन्द्रिय आदि अमनस्क जीवों में अव्यक्त अक्षर लब्धि अवश्य स्वीकार्य है।

प्रज्ञापना में प्रतिपादित भाषा विज्ञान और आधुनिक विज्ञान के प्रकंपन की दृष्टि से लब्धि अक्षर पर नयी दृष्टि से विचार किया जा सकता है। एकेन्द्रिय आदि अमनस्क जीव ध्वनि के प्रकंपनों को पकड़ लेते हैं और उन्हें अव्यक्त अक्षर के रूप में बदल देते हैं। इसे फेक्स मशीन की प्रक्रिया से भी समझा जा सकता है।

60. से किं तं अणक्खरसुयं? अणक्खरसुयं अणेगविहं पण्णत्तं, तं जहा— ऊससियं, नीससियं, निच्छूढं, खासियं च छीयं च। निस्सिंघियमणुयसारं, अणक्खरं छेलियाईयं।।1।। सेत्तं अणक्खरसुयं।।

हिन्दी: वह अनक्षरश्रुत क्या है? अनक्षरश्रुत अनेक प्रकार का प्रज्ञप्त है, जैसे—उच्छ्वास, निश्वास, थूकना, खांसना, छींकना, नाक साफ करना, सानुनासिक ध्वनि या नाक से उच्चार्यमाण ध्वनि, सीटी बजाना—ये श्रुतज्ञान के हेतु हैं। वह अनक्षरश्रुत है।

टिप्पण

अनक्षरश्रुत

श्रुत शब्द में श्रवण और श्रोत्रेन्द्रिय की विवक्षा मुख्य है। उच्छ्वास, नि:श्वास आदि से जो ज्ञान होता है वह अनक्ष श्रुत है। वस्तुत: वह द्रव्यश्रुत है, श्रुतज्ञान का कारण है।

विशिष्ट अभिप्रायपूर्वक उच्छ्वास, नि:श्वास आदि का प्रयोग होता है तब वह श्रुतज्ञान का कारण बनता है। एकेन्द्रिय जीवों में भाषा नहीं होती। वे अपनी बात दूसरों तक प्रकंपनों के माध्यम से पहुंचाते हैं। द्वीन्द्रिय जीवों से भाषा का प्रारम्भ होता है। त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय सब भाषा का प्रयोग करते हैं। इनकी भाषा अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक दोनों प्रकार की होती है। अक्षर और लिपि की व्यवस्था मनुष्य ने की। कीट, पतंगों और पशु पक्षियों के पास अक्षर और लिपि की व्यवस्था नहीं है। स्थानांग में भाषा के दो प्रकार बतलाए गए हैं—

1. अक्षर संबद्ध—वर्णात्मक 2. नोक्षर संबद्ध—वर्ण रहित। धवला में अक्षर के तीन भेद इस प्रकार हैं—

1. लब्धि अक्षर—ज्ञानावरण का क्षायोपशमिक भाव।

2. निर्वृत्ति अक्षर—अक्षर का उच्चारण—इसकी तुलना व्यञ्जनाक्षर से होती है। निर्वृत्ति अक्षर के दो प्रकार हैं—व्यक्त और अव्यक्त।

समनस्क पर्याप्त पञ्चेन्द्रिय का अक्षर व्यक्त होता है। अव्यक्त अक्षर द्वीन्द्रिय से लेकर अमनस्क पर्याप्त पञ्चेन्द्रिय तक होता है।

3. संस्थान अक्षर—इसकी तुलना संज्ञाक्षर से की जाती है। धवलाकार के अनुसार केवल लब्ध्यक्षर ही ज्ञानाक्षर है। इसकी न्यूनतम मात्रा सूक्ष्म निगोद लब्धि अपर्याप्त में मिलती है। इसका उत्कर्ष चतुर्दश पूर्वधर में मिलता है।

जहां जीव का वाक् प्रयत्न हो और भाषा वर्णात्मक न हो, वह नोअक्षरात्मक बन जाती है। उच्छ्वास, नि:श्वास वाक् प्रयत्न से उत्पन्न नहीं है। अत: भाषात्मक नहीं हैं फिर भी श्रुतज्ञान के कारण हैं इसलिए इन्हें अनक्षर श्रुत माना गया है। अकलंक ने अक्षर श्रुत और अनक्षर श्रुत की संयोजना अनुमान, उपमान आदि के साथ की है। उनके अनुसार स्वार्थानुसार—स्वप्रतिपत्ति के काल से अनक्षर श्रुत होता है। परार्थानुमान—दूसरे के लिए प्रतिपादन के काल में अक्षर श्रुत होता है। इसी प्रकार उपमान प्रमाण भी अक्षर श्रुत और अनक्षर श्रुत दोनों प्रकार का होता है।

61. से किं तं सण्णिसुयं? सण्णिसुयं तिविहं पण्णत्तं, तं जहा—कालिओवएसेणं हेऊवएसेणं दिट्ठिवाओवएसेणं।।

हिन्दी: वह संज्ञीश्रुत क्या है? संज्ञीश्रुत तीन प्रकार का प्रज्ञप्त है, जैसे—1. कालिकी उपदेश 2. हेतु उपदेश 3. दृष्टिवाद उपदेश

62. से किं तं कालिओवएसेणं। कालिओवएसेणं—जस्स णं अत्थि ईहा, अपोहो, मग्गणा, गवेसणा, चिंता, वीमंसा—से सण्णीति लब्भइ। जस्स णं नत्थि ईहा, अपोहो, मग्गणा, गवेसणा, चिंता, वीमंसा—से णं असण्णीति लब्भइ। सेत्तं कालिओवएसेणं।।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

हिन्दी: वह कालिकी उपदेश क्या है? कालिकी उपदेश—जिस व्यक्ति के ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा, चिन्ता और विमर्श होता है। वह कालिकी उपदेश की अपेक्षा से संज्ञी है। जिसके ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा, चिन्ता और विमर्श नहीं होता वह कालिकी उपदेश की अपेक्षा से असंज्ञी है।वह कालिकी उपदेश है।

63. से किं तं हेऊवएसेणं? हेऊवएसेणं—जस्स णं अत्थिअभिसंधारणपुव्विया करणसत्ती—से णं सण्णीति लब्भइ। जस्स णं नत्थि अभिसंधारणपुव्विया करणसत्ती—से णं असण्णीति लब्भइ। सेत्तं हेऊवएसेणं।।

हिन्दी: वह हेतु उपदेश क्या है? हेतु उपदेश—जिस जीव में पर्यालोचना पूर्वक करणशक्ति होती है। वह हेतु उपदेश की अपेक्षा से संज्ञी है। जिस जीव में पर्यालोचना पूर्वक करणशक्ति नहीं होती, वह हेतु उपदेश की अपेक्षा से असंज्ञी है। वह हेतु उपदेश है।

64. से किं तं दिट्ठिवाओवएसेणं। दिट्ठिवाओवऐसेणं सण्णिसुयस्स खओवसमेणं सण्णी (ति?) लब्भइ, असण्णिसुयस्स खओवसमेणं असण्णी (ति?) लब्भइ। सेत्तं दिट्ठिवाओवएसेणं। सेत्तं सण्णिसुयं। सेत्तं असण्णिसुयं।।

हिन्दी: वह दृष्टिवाद उपदेश क्या है? दृष्टिवाद उपदेश—संज्ञीश्रुत के क्षयोपशम से जीव संज्ञी है। असंज्ञी श्रुत के क्षयोपशम से वह असंज्ञी है। वह दृष्टिवाद उपदेश है। वह संज्ञी श्रुत है। वह असंज्ञीश्रुत है।

टिप्पण

संज्ञीश्रुत

आगम साहित्य में संज्ञा शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है। प्रस्तुत प्रकरण में संज्ञा का अर्थ है मनोविज्ञान। एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक सभी जीवों में दस संज्ञाएं होती है। जिनमें ईहा, अपोह आदि की शक्ति है, जिनमें इष्ट के लिए प्रवृत्त और अनिष्ट से निवृत्त होने की क्रिया है, जिनमें अनेकांतवाद का संज्ञान है उन्हें संज्ञी माना गया है। एकेन्द्रिय जीवों में इष्ट के लिए प्रवृत्त और अनिष्ट से निवृत्त होने की क्रिया नहीं होती, इसलिए वे असंज्ञी की कोटी में परिगणित हैं। एकेन्द्रिय जीव में होने वाला मनोविज्ञान यहां विवक्षित नहीं है। संज्ञा के तीन प्रकार निरूपित हैं—1. कालिकी 2. हेतूपदेशिकी 3. दृष्टिवादोपदेशिकी

1. कालिकी संज्ञा

कालिकी संज्ञा मानस ज्ञान का विकसित रूप है। इस संज्ञा का अधिकारी गर्भज पञ्चेन्द्रिय जीव होता है। औपपातिक देव और नारक भी इसका अधिकारी होता है। कालिकी संज्ञा मनुष्य में सर्वाधिक विकसित होती है। उसकी गर्भज पशु-पक्षी आदि, मनुष्य, उपपातज देव और नारक संज्ञी—समनस्क होते हैं।

प्रस्तुत आगम में मन के अर्थ में नोइन्द्रिय और कालिकी संज्ञा दो शब्दों का प्रयोग मिलता है। चूर्णिकार के अनुसार कालिकी लब्धि से सम्पन्न प्राणी मनोवर्गणा के अनन्त परमाणुओं का ग्रहण कर मनन करता है, जैसे—चक्षुमान व्यक्ति को प्रदीप के प्रकाश में स्फूट अर्थ की उपलब्धि होती है वैसे ही मन के विकास से अर्थ की उपलब्धि स्पष्ट होती है। मानसिक प्रकाश के अभाव में अर्थ की उपलब्धि मंद, मंदतर होती चली जाती है।

द्रष्टव्य यंत्र

प्राणी	**अर्थोपलब्धि का प्रकार**
गर्भज पञ्चेन्द्रिय	विशुद्धतर
सम्मूर्च्छिम पञ्चेन्द्रिय	अविशुद्ध
चतुरिन्द्रिय	अविशुद्धतर
त्रीन्द्रिय	उससे अविशुद्धतर
द्वीन्द्रिय	उससे अविशुद्धतर
एकेन्द्रिय	अविशुद्धतम

चूर्णिकार की व्याख्या का आधार जिनभद्रगणी का विशेषावश्यक भाष्य है।

सूत्रकार ने कालिकी संज्ञा के छः कार्य बतलाए हैं—ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा, चिंता और विमर्श।

1. ईहा—शब्द आदि अर्थ के विषय में अन्वय और व्यतिरेक धर्मों का विचार करना, जैसे—यह क्या है।

2. अपोह—व्यतिरेक धर्म का परित्याग कर अन्वयी धर्म का अवधारण करना, अवाय, निश्चय, जैसे—यह खम्भा है।

3. मार्गणा—विशेष धर्म का अन्वेषण करना। मधुर और गंभीर ध्वनि के कारण यह शब्द शंख का है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4. गवेषणा—स्वभावजन्य, प्रयोगजन्य, नित्य, अनित्य आदि का विचार करना गवेषणा है।
5. चिंता—यह कार्य कैसे करना चाहिए? इस प्रकार का चिंतन करना।
6. विमर्श—त्याज्य धर्म का परित्याग व उपादेय धर्म के ग्रहण के प्रति अभिमुख होना।

चूर्णिकार ने ईहा आदि के वैकल्पिक अर्थ भी किए हैं। हरिभद्र और मलयगिरि की व्याख्या चूर्णिकार से भिन्न रूप में उपलब्ध है। चरक में मन के पांच कार्य निर्दिष्ट हैं—1. चिन्त्य 2. विचार्य 3. ऊह्य 4. ध्येय 5. संकल्प्य।

इन्द्रिय और मन

प्रस्तुत आगम में इन्द्रिय प्रत्यक्ष के प्रकरण में मन विवक्षित नहीं है। अर्थावग्रह आदि के प्रकरण में मन का उल्लेख है। नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष में अवधि अतीन्द्रिय ज्ञान विवक्षित है। अर्थावग्रह आदि के प्रकरण में मन के लिए नोइन्द्रिय शब्द का प्रयोग किया गया है।

नोइन्द्रिय शब्द का प्रयोग अतीन्द्रिय ज्ञान और मन दोनों के अर्थ में किया गया है। अतीन्द्रिय अर्थ में नोइन्द्रिय का प्रयोग है उसका अर्थ है अतीन्द्रिय ज्ञान। मन के अर्थ में नोइन्द्रिय का अर्थ है आंशिक इन्द्रिय।

आगम साहित्य में बहुत बार संज्ञी और असंज्ञी शब्द का उल्लेख मिलता है। यह विभाग कालिकी संज्ञा के आधार पर किया गया है। जिस जीव में कालिकी संज्ञा का विकास होता है वह संज्ञी—समनस्क है। जिस जीव में कालिकी संज्ञा का विकास नहीं है वह असंज्ञी—अमनस्क है। कालिकी संज्ञा के द्वारा अतीत की स्मृति, वर्तमान का चिंतन और भविष्य की कल्पना—इन तीनों कालखण्डों का ज्ञान होता है। इसलिए इसे दीर्घकालिकी संज्ञा भी कहा गया है।

तत्त्वार्थ भाष्य में कालिकी संज्ञा के स्थान पर सम्प्रधारण संज्ञा का प्रयोग किया गया है। सम्प्रधारण संज्ञा आलोचनात्मक ज्ञान है। इन्द्रिय का बोध केवल वर्तमान अर्थ का बोध है। कालिकी संज्ञा सर्वार्थग्राही है। इन्द्रिय केवल अपने-अपने प्रतिनियत विषय का बोध करती है इसलिए कालिकी संज्ञा इन्द्रिय कोटि का ज्ञान नहीं है। यह संज्ञा इन्द्रियों के द्वारा गृहीत अर्थों का संकलनात्मक ज्ञान करती है। इस निर्भरता के कारण इसे आंशिक इंद्रिय, नोइंद्रिय और अतीन्द्रिय भी कहा गया है। इस प्रकार जैन साहित्य में मन के लिए कालिकी संज्ञा दीर्घकालिकी संज्ञा, नोइंद्रिय, अनिन्द्रिय और छठी इन्द्रिय इतने शब्दों का प्रयोग मिलता है।

2. हेतूपदेशिकी संज्ञा

यह मानसिक चेतना से निम्नस्तर की चेतना का विकास है, कालिकी संज्ञा त्रैकालिक होती है। हेतूपदेशिकी संज्ञा प्रायः वर्तमान कालिक होती है। कहीं-कहीं अतीत और अनागत का चिन्तन भी होता है, किन्तु दीर्घकालिक चिन्तन नहीं होता।

हेतूपदेशिकी संज्ञा के विकास में अभिसंधारण—अव्यक्त इस संज्ञा वाले जीव अपनी क्रियात्मक शक्ति में अव्यक्त चिन्तन का प्रयोग करते हैं। वे चिंतनपूर्वक आहार आदि इष्ट विषयों में प्रवृत्त होते हैं और अनिष्ट विषयों से निवृत्त होते हैं।

हेतूपदेशिकी संज्ञा के आधार पर जीवों के संज्ञी और असंज्ञी ये दो विभाग किए गए हैं—जिस जीव में अभिसंधारणपूर्वक क्रिया शक्ति होती है, वह हेतूपदेशिकी संज्ञा की दृष्टि से संज्ञी है, जैसे—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और संमूर्च्छिम पञ्चेन्द्रिय जीव। जिस जीव में अभिसंधारणपूर्वक क्रिया शक्ति नहीं होती वह हेतूपदेशिकी संज्ञा की दृष्टि से असंज्ञी है। पृथ्वीकायिक आदि एकेन्द्रिय जीवों की चेतना मत्त, मूर्च्छित और विष परिणत चेतना तुल्य होती है। वे इष्ट के लिए प्रवृत्त और अनिष्ट से निवृत्त होने में समर्थ नहीं होते।

3. दृष्टिवादोपदेशिका संज्ञा

संज्ञी और असंज्ञी का तीसरा वर्गीकरण दृष्टि अथवा दर्शन के आधार पर किया गया है। इसके अनुसार सम्यक्दृष्टि जीव संज्ञी और मिथ्यादृष्टि जीव असंज्ञी होते हैं। मिथ्यात्व मोहनीय और श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम से संज्ञीश्रुत की प्राप्ति होती है।

मिथ्यात्व मोहनीय के उदय और श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम से असंज्ञीश्रुत की प्राप्ति होती है। संज्ञी का श्रुत संज्ञीश्रुत असंज्ञी का श्रुत असंज्ञीश्रुत कहलाता है।

जैसे कुत्सित शील को अशील कहा जाता है वैसे ही मिथ्यात्व के कुत्सित होने के कारण संज्ञी को असंज्ञी कहा गया है। मिथ्यात्व के कारण उसका ज्ञान भी अज्ञान कहलाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उक्त तीनों संज्ञाओं के आधार पर संज्ञी असंज्ञी का विभाग इस प्रकार होता है—

संज्ञा	**संज्ञी**	**असंज्ञी**
हेतुवादोपदेशिका	द्वीन्द्रिय से सम्मूर्च्छिम पञ्चेन्द्रिय	एकेन्द्रिय
कालिक्युपदेशिका	समनस्क पंचेन्द्रिय	सम्मूर्च्छिम प्राणी
दृष्टिवादोपदेशिका	सम्यक्दृष्टि	मिथ्यादृष्टि

65. से किं सम्मसुयं। सम्मसुयं—जं इमं अरहंतेहिं भगवंतेहिं तेलोक्कचहिय-महिय-पूइएहिं तीयपडुप्पण्णमणागयजाणएहिं सव्वण्णूहिं सव्वदरिसीहिं पणीयं दुवालसंगं गणिपिडगं, तं जहा—आयारो सूयगडो ठाण समवाओ वियाहपण्णत्ती नायाधम्मकहाओ उवासगदसाओ अंतगडदसाओ अणुत्तरोववाइयदसाओ पण्हावागरवाइं विवागसुयं दिट्ठिवाओ।

हिन्दी: वह सम्यकश्रुत क्या है? सम्यक्श्रुत—समुत्पन्न ज्ञान दर्शन के धारक, तीन लोक द्वारा अभिलषित, प्रशंसित और पूजित, अतीत वर्तमान और भविष्य के ज्ञाता, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवान् द्वारा प्रणीत द्वाद्वशांग श्रुत सम्यक्श्रुत हैं, जैसे—आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृतदशा, अनुत्तरोपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकश्रुत और दृष्टिवाद।

66. इच्चेयं दुवालसंगं गणिपिडगं चोद्दसपुव्विस्स सम्मसुयं, अभिण्णदसपुव्विस्स सम्मसुयं, तेण परं भिण्णेसु भयणा। सेत्तं सम्मसुयं।।

हिन्दी: यह द्वाद्वशांग गणिपिटक चौदह पूर्वधरों के लिए सम्यक्श्रुत है। अभिन्नदसपूर्वधरों के लिए भी सम्यक्श्रुत है। इससे न्यून पूर्वधरों के लिए सम्यक्श्रुत की भजना है। वह सम्यक्श्रुत है।

67. से किं मिच्छसुयं? मिच्छसुयं— जं इमं अण्णाणिएहिं मिच्छदिट्ठिहिं सच्छंदबुद्धि-मइ-विगप्पियं, तं जहा—1. भारहं 2. रामायणं 3, 4. भंभीमासुरुत्तं 5. कोडिल्लयं 6. सगभद्दियाओ 7. घाडमुहं 8. कप्पसियं 9. नागसुहुमं 10. कणगसत्तरी 11.वइसेसियं 12. बुद्धवयणं 13. वेसियं 14. काविलं 15. लोगाययं 16. सट्ठितंतं 17. माढरं 18. पुराणं 19. वागरणं 20. नाडगादि।

अहवा—बावत्तरिकाओ चत्तारि य वेया संगोवंगा। एयाइं मिच्छदिट्ठिस्स मिच्छत्त-परिग्गहियाइं मिच्छसुयं। एयाइं चेवसम्मदिट्ठिस्स सम्मत्त-परिग्गहियाइं सम्मसुयं।

अहवा—मिच्छदिट्ठिस्स वि एयाइं चेव सम्मसुयं। कम्हा? सम्मत्तहेउत्तणओ। जम्हा ते मिच्छदिट्ठिया तेहिं चेव सपक्खदिट्ठिओ चयंति। सेत्तं मिच्छसुयं।।

हिन्दी: वह मिथ्याश्रुत क्या है? मिथ्याश्रुत—अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि और स्वच्छंद बुद्धि तथा मति द्वारा विरचित श्रुत मिथ्याश्रुत है, जैसे—1. भारत 2. रामायण 3. भंभी 4. आसुरोक्त 5. कौटलीय अर्थशास्त्र 6. शकभद्रिका 7. घोटमुख 8. कार्पासिक 9. नागसूक्ष्म 10. कनकसप्तति 11. वैशेषिक 12. बुद्धवचन 13. वैशिक 14. कापिल 15. लोकायत 16. षष्ठितंत्र 17. माठर 18. पुराण 19. व्याकरण 20. नाटक आदि।

अथवा—बहत्तर कलाएं, अंग, उपांग और चारों वेद। ये मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व द्वारा परिगृहीत होने पर मिथ्याश्रुत हैं। ये सम्यक्दृष्टि के सम्यक्त्व द्वारा सम्यक् परिगृहीत होने पर सम्यक्श्रुत हैं।

अथवा—मिथ्यादृष्टि के भी ये सम्यक्श्रुत हो जाते हैं। सम्यक्त्व प्राप्ति का हेतु बनते हैं। इसीलिए उन मिथ्याश्रुत ग्रंथों से प्रेरित होकर कुछ मिथ्यादृष्टि अपने पक्ष की दृष्टि का आग्रह छोड़ देते हैं। वह मिथ्याश्रुत है।

टिप्पण

सम्यक्श्रुत और मिथ्याश्रुत के विभाग के दो आधार हैं—1. ग्रंथकार 2. स्वामित्व।

केवली द्वारा प्रणीत श्रुत सम्यक्श्रुत है। मिथ्यादृष्टि द्वारा रचित श्रुत मिथ्याश्रुत है।

स्वामित्व की अपेक्षा द्वादशांग श्रुत चतुर्दशपूर्वी के लिए सम्यक्श्रुत है। चूर्णिकार और मलयगिरि ने त्रयोदशपूर्वी, द्वाद्वशपूर्वी, एकादशपूर्वी इन अन्तरालवर्ती पूर्वधरों का भी उल्लेख किया है। जिनभद्रगणि ने अंगबाह्य श्रुत को भी सम्यक्श्रुत बतलाया है। यह उत्तरकालीन विकास है। अभिन्न दशपूर्वधर से नीचे आचारांग तक के सभी श्रुत स्थान सम्यक्दृष्टि के स्वामी के लिए समयक्श्रुत है, मिथ्यादृष्टि स्वामी के लिए मिथ्याश्रुत है।

प्रस्तुत आगम में अंगबाह्य आगमों का विवरण दिया हुआ है फिर भी उसका सम्यक्श्रुत के प्रकरण में उल्लेख नहीं है। हरिभद्र ने जिनभद्रगणि का अनुसरण किया है।

चूर्णिकार ने सम्यक्श्रुत और मिथ्याश्रुत के चार विकल्प बताए हैं—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. सम्यक्श्रुत—सम्यक्दृष्टि के लिए सम्यक्श्रुत सम्यक्श्रुत है।

2. सम्यक्श्रुत—मिथ्यादृष्टि के लिए सम्यक्श्रुत मिथ्याश्रुत है।

3. मिथ्याश्रुत—सम्यक् दृष्टि के लिए मिथ्याश्रुत सम्यक्श्रुत है।

4. मिथ्याश्रुत—मिथ्यादृष्टि के लिए मिथ्याश्रुत मिथ्याश्रुत है।

द्वितीय और चतुर्थ विकल्प साक्षात् निर्दिष्ट है। शेष दो विकल्प चूर्णिकार द्वारा निर्दिष्ट है। श्रुत सम्यक् है उसका अध्येता सम्यक्दृष्टि है वह अपने सम्यक्त्व गुण के कारण सम्यक्श्रुत को सम्यक् रूप में ग्रहण करता है। यह प्रथम विकल्प का आशय है।

दूसरे विकल्प का आशय यह है कि शर्करा युक्त दुध पित्त ज्वर वाले व्यक्ति के लिए अनुकूल नहीं होता वैसे ही मिथ्यादृष्टि सम्यक्श्रुत को मिथ्यात्व के कारण मिथ्या रूप में परिणत कर लेता है। इसलिए सम्यक्श्रुत उसके लिए मिथ्या हो जाता है।

सम्यक्दृष्टि मनुष्य मिथ्याश्रुत का सम्यक् रूप में ग्रहण करता है अतः उसके लिए मिथ्याश्रुत सम्यक्श्रुत बन जाता है। मिथ्या अभिनिवेश के कारण मिथ्याश्रुत मिथ्यादृष्टि के लिए मिथ्या ही रहता है। मिथ्याश्रुत के ग्रंथों की जानकारी के लिए द्रष्टव्य अणुओगदाराइं सू. 49 का टिप्पण।

68. से किं तं साइयं सपज्जवसियं, अणाइयं अपज्जवसियं च? इच्चेयं दुवालसंगं गणिपिडगं—वुच्छित्तिनयट्ठयाए साइयं सपज्जवसियं, अवुच्छित्तिनयट्ठयाए अणाइयं अपज्जवसियं।।

हिन्दी: वह सादि सपर्यवसित और अनादि अपर्यवसित क्या है? यह द्वाद्वशांग गणिपिटक—व्युच्छित्ति नय की अपेक्षा सादि सपर्यवसित है, अव्युच्छित्ति नय की अपेक्षा अनादि अपर्यवसित है।

69. तं समवाओ चउव्विहं पण्णत्तं, तं जहा—तत्थ दव्वओ, कालओ, भावओ। तत्थ दव्वओ णं सम्मसुयं एगं पुरिसं पडुच्च साइयं सपज्जवसियं, बहवे पुरिसे य पडुच्च अणाइयं अपज्जवसियं। खेत्तओ णं—पंचभरहाइं पंचएरवयाइं पडुच्च साइयं सपज्जवसियं, पंच महाविदेहाइं पडुच्च अणाइयं अपज्जवसियं। कालओ णं—ओसप्पिणिं उस्सप्पिणिं च पडुच्च साइयं सपज्जवसियं, नोओसप्पिणिं नोउस्सप्पिणिं च पडुच्च अणाइयं अपज्जवसियं। भावओ णं—जे जया जिणपण्णता भावा आघविज्जंति पण्णविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति निदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति, ते तया पडुच्च साइयं सपज्जवसियं, खाओवसमियं पुण भावं पडुच्च अणाइयं अपज्जवसियं।

अहवा—भवसिद्धियस्स सुयं साइयं सपज्जवसियं, अभवसिद्धियस्स सुयं अणाइयं अपज्जवसियं।।

हिन्दी: वह संक्षेप में चार प्रकार का प्रज्ञप्त है, जैसे—द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतः, भावतः। द्रव्यतः—सम्यक्श्रुत एक पुरुष की अपेक्षा सादि पर्यवसित है। अनेक पुरुषों की अपेक्षा अनादि अपर्यवसित है।

क्षेत्रतः—पांच भरत, पांच ऐरावत की अपेक्षा सादि सपर्यवसित है, पांच महाविदेह की अपेक्षा अनादि अपर्यवसित है।

कालतः—अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी की अपेक्षा सादि सपर्यवसित है, अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी विभाग से मुक्त काल की अपेक्षा अनादि अपर्यवसित है।

भावतः—जिन प्रज्ञप्त जिन भावों का जब आख्यान, प्रज्ञापन, प्ररूपण, दर्शन, निदर्शन, उपदर्शन होता है, उन भावों और उस समय की अपेक्षा सादि सपर्यवसित है, तथा क्षायोपशमिक भाव की अपेक्षा अनादि अपर्यवसित है।

अथवा—भवसिद्धिक का श्रुत सादि सपर्यवसित है, अभवसिद्धिक का श्रुत अनादि अपर्यवसित है।

टिप्पण

प्रस्तुत आलापक में द्वादशांगी के कालमान पर नय दृष्टि से विचार किया गया है। जैन दर्शन प्रत्येक ग्रंथ को पौरुषेय मानता है। पुरुषकृत कोई भी रचना अनादि अनंत नहीं हो सकती। इस सत्य को व्युच्छित्तिनय की दृष्टि से स्वीकार किया गया है। द्वादशांगी का प्रतिपाद्य है सत्य अथवा अस्तित्व। सत्य, त्रैकालिक, नित्य होता है। वह कभी विलुप्त नहीं होता। व्युच्छित्तिनय की दृष्टि से उसे अनादि अपर्यवसित माना गया है।

उत्तरवर्ती जैन दार्शनिकों ने वेद के अपौरुषेयत्व का निरसन किया है। किन्तु अव्युच्छित्ति और व्युच्छित्तिनय की दृष्टि से अपौरुषेयत्व और पौरुषेयत्व का समन्वय किया जा सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

द्रव्य की दृष्टि से—एक पुरुष की अपेक्षा श्रुत के सादि सपर्यवसित होने के अनेक हेतु हो सकते हैं। जिनभद्रगणि ने दसके पांच हेतु बतलाए हैं, नंदी चूर्णिकार और टीकाकारों ने भी उनका अनुसरण किया है— 1. मिथ्यादर्शन में गमन 2. भवान्तर में गमन 3. केवलज्ञान की उत्पत्ति 4. रोग 5. प्रमाद अथवा विस्मृति।
क्षेत्र की दृष्टि से—महाविदेह में श्रुत की निरंतरता रहती है उसकी अपेक्षा द्वादशांग अनादि अपर्यवसित है।
काल की दृष्टि से—काल की अपेक्षा महाविदेह में उत्सर्पिणी अवसर्पिणी का विभाग नहीं होता। इस अपेक्षा से नोउत्सर्पिणी नोअवसर्पिणी में द्वादशांग अनादि अपर्यवसित है।
भाव की दृष्टि से—भाव की अपेक्षा महावीर ने द्वादशांग के अर्थ का प्रज्ञापन जिस काल—पूर्वाह्न, अपराह्न, दिन, रात में किया, वह द्वादशांग का आदि है। और प्रवचन की सम्पन्नता का काल उसका पर्यवसान है। भाव की अपेक्षा से भी द्वादशांग सादि सपर्यवसित होता है। जिनभद्रगणि ने इसके अनेक हेतु बतलाए हैं। प्रज्ञापना की अपेक्षा द्वादशांग सादि सपर्यवसित होता है। जिनभद्रगणि ने चार हेतु बतलाए हैं—1. श्रुत का उपयोग 2. स्वर, ध्वनि 3. प्रयत्न—तालु आदि का व्यापार 4. आसन।

ये प्रज्ञापक के भाव—पर्याय बदलते रहते हैं इस परिवर्तन की अपेक्षा द्वाद्वशांग को सादि सपर्यवसित कहा जा सकता है। व्याख्या ग्रन्थों में इनका ही अनुसरण किया गया है।

क्षायोपशमिक भाव नित्य है। उसकी अपेक्षा द्वाद्वशांग अनादि अपर्यवसित है।

भवसिद्धिय—जिसमें सिद्ध होने की योग्यता हो।

अभवसिद्धिय—जिसमें सिद्ध होने की योग्यता न हो।

70. सव्वागासपएसग्गं सव्वागासएसेहिं अणंतगुणियं पज्जवग्गक्खरं निप्फज्जइ।।

हिन्दी: सम्पूर्ण आकाश के प्रदेश का जो परिणाम है उसे सम्पूर्ण आकाश के प्रदेशों के अनन्त गुणा करने पर पर्यव परिणाम वाला अक्षर निष्पन्न होता है।

टिप्पण

प्रस्तुत प्रकरण में अक्षर के दो प्रकार विवक्षित हैं—1. ज्ञान 2. अकार आदि लिप्यक्षर।

केवलज्ञान का उत्पन्न होने बाद क्षरण नहीं होता इसलिए वह अक्षर है। ज्ञान और ज्ञेय में पारस्परिक संबंध है। इसलिए ज्ञान ज्ञेय प्रमाण होता है।

प्रस्तुत सूत्र में अक्षर अथवा केवलज्ञान का प्रमाण ज्ञेय के आधार पर समझाया गया है। आकाश के एक प्रदेश में अगुरुलघुपर्याय अनन्त होते हैं। लोकाकाश और अलोकाकाश दोनों को मिलाकर आकाश के प्रदेश अनन्त हैं। सब आकाश प्रदेशों को सब पर्यायों से अनन्त गुणित करने पर जो प्रमाण प्राप्त होता है वह पर्याय का प्रमाण होता है।

. एक आकाश प्रदेश = अगुरुलघुपर्याय
. सर्व आकाश प्रदेश = सर्वाकाश x अनन्त अगुरुलघुपर्याय
= सर्वाकाश पर्याय
= अक्षर

कल्पना करें सर्वजीव राशि 2 है
2x 2 = 4 सर्व पुद्गल द्रव्य
4x4 = 16 सर्वकाल
16x16 = 256 सर्वाकाश श्रेणि
256x256 = 65536 धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय द्रव्य का अगुरुलघु गुण
65536x65536 = 429467296 एक जीव का अगुरुलघुगुण
429467296x429496296 = 18446744073709551616 सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याय का लब्ध्यक्षर ज्ञान एक-एक आकाश प्रदेश में जितने अगुरुलघुपर्याय होते हैं उन सबको एकत्र पिण्डित करने पर इतने पर्याय होते हैं। अक्षर अथवा केवलज्ञान का परिणाम ही होता है। अक्षर पटल के विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य—नंदी चूर्णि, पृ. 52-55

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

71. सव्वजीवाणं पि य णं—अक्खरस्स अणंतभागो निच्चुग्घाडिओ, जइपुण सो वि आवरिज्जा, तेणं जीवो अजीवत्तं पाविज्जा। सुट्ठवि मेहसमुदए, होइ पभा चंदसूराणं। सेत्तं साइयं सपज्जवसियं। सेत्तं अणाइयं अपज्जवसियं।।

हिन्दी: अक्षर का अनन्तवां भाग सब जीवों में नित्य उद्घाटित (अनावृत) रहता है। यदि वह आवृत हो जाए तो जीव अजीवत्व को प्राप्त हो जाता है। सघन मेघपटल होने पर भी चन्द्र और सूर्य की प्रभा का सर्वथा विलोप नहीं होता, कुछ न कुछ प्रकाश बना रहता है। वह सादि सपर्यवसित है। वह अनादि अपर्यवसित है।

टिप्पण

अक्षर के तीन प्रकार हैं—1. ज्ञानाक्षर 2. ज्ञेयाक्षर 3. व्यञ्जनाक्षर, स्वराक्षर अथवा वर्णाक्षर।

अकारादि स्वर है। ककार आदि व्यंजनाक्षर है। उनसे अर्थ अभिव्यक्त होता है। स्वरयुक्त व्यंजनों के द्वारा अर्थ का अभिलाप किया जाता है इसलिए उनकी संज्ञा वर्णाक्षर है। प्रत्येक अक्षर के अनन्त पर्याय हैं। उदाहरणस्वरूप अकार के अठारह पर्याय—

1. उदात्त निरनुनासिक ह्रस्व
2. अनुदात्त निरनुनासिक ह्रस्व
3. स्वरित निरनुनासिक ह्रस्व
4. उदात्त सानुनासिक ह्रस्व
5. अनुदात्त सानुनासिक ह्रस्व
6. स्वरित सानुनासिक ह्रस्व
7. उदात्त निरनुनासिक दीर्घ
8. अनुदात्त निरनुनासिक दीर्घ
9. स्वरित निरनुनासिक दीर्घ
10. उदात्त सानुनासिक दीर्घ
11. अनुदात्त सानुनासिक दीर्घ
12. स्वरित सानुनासिक दीर्घ
13. उदात्त निरनुनासिक प्लुत
14. अनुदात्त निरनुनासिक प्लुत
15. स्वरित निरनुनासिक प्लुत
16. उदात्त सानुनासिक प्लुत
17. अनुदात्त सानुनासिक प्लुत
18. स्वरित सानुनासिक प्लुत।

ये अठारह स्वपर्याय हैं, शेष सब परपर्याय हैं। आकाश को छोड़कर सब द्रव्यों के परपर्याय अनन्तगुना होते हैं। आकाश के स्वपर्याय से परपर्याय अनन्तवें भाग प्रमाण होते हैं।

ज्ञानाक्षर, वर्णाक्षर और ज्ञेयाक्षर तीनों अनन्त हैं। प्रस्तुत सूत्र में अक्षर का प्रयोग ज्ञानात्मक ही विवक्षित है। उसका अनन्तवां भाग सदा उद्घाटित (अनावृत) रहता है। यही जीव और अजीव की भेदरेखा का निर्माण करता है।

केवलज्ञान का कोई विभाग नहीं होता इसलिए ज्ञान के विकास का अनन्तवां भाग उससे संबंध नहीं है। अवधिज्ञान की प्रकृति असंख्येय है इसलिए ज्ञान के विकास का अनन्तवां भाग उससे संबंद्ध नहीं है। मन:पर्यव ज्ञान का भी वह संभव नहीं हो सकता। अवधिज्ञान और मन:पर्यवज्ञान नित्य उद्घाटित नहीं रहते। इसलिए प्रस्तुत प्रकरण में उनका अधिकार नहीं है। शेष दो ज्ञान रहते हैं—मति और श्रुत। श्रुतज्ञानात्मक अक्षर का अनन्तवां भाग उद्घाटित रहता है। श्रुत और मति दोनों सहचारी हैं।

चूर्णिकार की व्याख्या विशेषावश्यक भाष्य पर आधारित है। उसके अनुसार केवलज्ञान को छोड़कर जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ये तीन भेद होते हैं। केवलज्ञान सर्वथा भेद विमुक्त है। इसलिए प्रस्तुत प्रकरण में अक्षर का तात्पर्यार्थ श्रुताक्षर है।

विशेषावश्यक भाष्य में मतांतर का उल्लेख किया है। उसके अनुसार अक्षर का संबंध श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों से है। यह मत षट्खण्डागम में उपलब्ध है। उसके अनुसार लब्ध्यक्षर ज्ञान अक्षरसंज्ञ केवलज्ञान का अनन्तवां भाग है। सापेक्ष दृष्टि से दोनों मतों का सामञ्जस्य किया जा सकता है। सामान्य ज्ञान के अनन्तवां आदि विभाग करें तो लब्ध्यक्षर का संबंध श्रुतज्ञान और मतिज्ञान से होता है। यदि सामान्य ज्ञान को केवलज्ञान माने तो लब्ध्यक्षर को केवलज्ञान का अनन्तवां भाग मानने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

ज्ञान का अनन्तवां भाग सदा उद्घाटित रहता है। इसका तात्पर्य है कि एकेन्द्रिय जीव में सर्व जघन्य चैतन्य मात्र सदा अनावृत रहता है। उत्कृष्ट स्त्यानर्द्धि निद्रा का उदय होने पर भी उसका ज्ञान-दर्शन आवृत नहीं होता। इस आनावृत अवस्था के आधार पर ही जीव का जीवत्व सुरक्षित रहता है। अनावृत रहना जीव द्रव्य का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

स्वभाव है इसलिए इस स्वभाव का अतिक्रमण नहीं होता। सूत्रकार ने एकदृष्टांत के द्वारा इसे स्पष्ट किया है— आकाश सघन बादलों से आच्छादित हो गया है फिर भी चांद और सूर्य की प्रभा मेघपटल को भेदकर द्रव्यों को अवभासित करती है, दिन और रात का भेद भी बना रहता है। इसी प्रकार आत्मा का प्रत्येक ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म के पुद्गल स्कधों से आवेष्टित, परिवेष्टित है। फिर भी ज्ञान का अनन्तवां भाग कर्मावरण पटल का भेदन कर अवभासित रहता है। अनावृत ज्ञान के विकास का क्रम इस प्रकार है, देखें यंत्र—

पृथ्वीकाय जीव	सर्वजघन्य ज्ञानाक्षर	द्वीन्द्रिय जीव	अनन्त भाग विशुद्धतर
अप्काय जीव	अनन्त भाग विशुद्धतर	ज्ञानाक्षर त्रीन्द्रिय जीव	”
ज्ञानाक्षर		”	
तेजस्काय जीव	” ”	चतुरिन्द्रिय जीव	” ”
वायुकाय जीव	” ”	असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव	” ”
वनस्पतिकाय जीव	” ”	संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव	” ”

प्रस्तुत आगम में पर्यवाग्र का वर्णन है। उसकी तुलना के लिए द्रष्टव्य षट्खण्डागम पुस्तक 13 पृ. 262-265

आवश्यकनिर्युक्ति में श्रुतज्ञान की प्रकृतियों पर विचार किया गया है। जितने अक्षर और जितने संयोग होते हैं उतनी ही श्रुतज्ञान की प्रकृतियां हैं।

निर्युक्तिकार ने विनम्रता के साथ कहा—"श्रुतज्ञान की सब प्रकृतियों का वर्णन करना मेरी शक्ति से परे है। जिनभद्रगणि ने इसके रहस्य का उद्घाटन किया है। उन्होंने लिखा कि संयुक्त और असंयुक्त वर्णों के अनंत संयोग होते हैं और प्रत्येक संयोग के स्व और परपर्याय अनंत होते हैं। षट्खण्डागम में श्रुतज्ञानावरण की संख्येय प्रकृतियां बतलाई गई हैं। धवलाकार ने अक्षरों की संख्या पर विस्तार से विचार किया है।

ये अक्षर संयोग विश्व की समस्त भाषाओं की आधारभूमि बनते हैं। कैलाशचन्द्र शास्त्री ने इस विषय में विशेष अनुसंधान की आवश्यकता बतलाई है।

72. से किं तं गमियं? (से किं तं अगमियं?) गमियं दिट्ठिवाओ। अगमियं कालियं सुयं।सेत्तं गमियं। सेत्तं अगमियं।।

हिन्दी: वह गमिक क्या है? (वह अगमिक क्या है?) गमिक दृष्विाद है। अगमिक कालिकश्रुत है। वह गमिक है। वह अगमिक है।

टिप्पण

पाठ रचना शैली के आधार पर आगम श्रुत के दो विभाग किए गए हैं—1. गमिक 2. अगमिक।

गम के दो अर्थ होते हैं—1. भंग गणित 2. सदृश पाठ।

जो रचना भंग अथवा प्रधान सदृश पाठ प्रधान होती है उसकी संज्ञा गमिक है। इसका प्रतिपक्ष अगमिक है। चूर्णिकार और वृत्तिकारों ने गमिक का अर्थ सदृश पाठ प्रधान रचना शैली किया है। उनके अनुसार आदि, मध्य और अवसान में कुछ विशिष्ट पाठ होता है और शेष पाठ की पुनरावृत्ति अनेक बार होती है। इस शैली का प्रयोग किया गया है। अगमिक की रचना शैली विसदृश होती है। आचारांग आदि कालिक सूत्र में उस शैली का प्रयोग किया गया है। अगमिक श्रुत में भी क्वचित्-क्वचित् सदृशपाठ की रचना शैली उपलब्ध है। उसका प्रयोग विशेष प्रयोजनवश हुआ है। नंदी सूत्र 81 में चूर्णिकार तथा वृत्तिकारों ने बतलाया है—अभिधान और अभिधेय के कारण गम होते हैं। उन्होंने उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया है।

73. तं समवाओ दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—अंगपविट्ठं, अंगबाहिरं च।।

हिन्दी: वह संक्षेप में दो प्रकार का प्रज्ञप्त है, जैसे—अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य।

टिप्पण

श्रुत के चौदह भेदों का विभाग एक साथ हुआ या कालक्रम से हुआ? श्रुत के ये चौदह भेद संकलित हैं या फिर किसी एक कर्त्ता के द्वारा इनका वर्गीकरण किया गया है? यह सब अनुसंधेय है। इस विषय में स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध नहीं है। द्वाद्वशांग के साथ गणिपिटक और श्रुतपुरुष ये दो प्रयोग मिलते हैं गणिपिटक के बारह अंग हैं अथवा बारह अंगवाला आगम गणिपिटक है। दोनों प्रकार के अनुप्रेक्षा की जा सकती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

श्रुतपुरुष की कल्पना उत्तरवर्ती है। इसमें पुरुष के बारह अंगों पर आगम के बारह अंगों का न्यास किया गया है।

आगम साहित्य में द्वाद्वशांग का उल्लेख सूत्रकृत, स्थानांग, समवायांग, भगवती, उपासकदशा तथा उत्तराध्ययन में मिलता है। जिनभद्रगणि ने अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य के भेदकारक हेतु बतलाए हैं—

अंगप्रविष्ट	अंगबाह्य
1. अंगप्रविष्ट आगम गणधर के द्वारा रचित है।	1. अंगबाह्य आगम स्थविर के द्वारा रचित हैं।
2. गणधर द्वारा प्रश्न किए जाने पर तीर्थंकर द्वारा प्रतिपादित होता है।	2. प्रश्न पूछे बिना तीर्थंकर द्वारा प्रतिपादित होता है।
3. शाश्वत सत्यों से संबंधित होता है और सुदीर्घकालीन होता है।	3. चल होता है—तात्कालिक या सामयिक होता है।

चूर्णिकार ने एक गाथा उद्धृत की है। उसका तात्पर्य भी यही है—

गणहरकतमंगगतं जं कत थेरेहिं बाहिरं तं च।
णियतं वंग पविट्ठं अणियतसुत बाहिरं भणितं॥

उमास्वाति ने अंगबाह्य के कर्त्ता और उद्देश्य दोनों का निरूपण किया है। उनके अनुसार अंगबाह्य के रचनाकार आचार्य गणधर की परम्परा में होते हैं उनका आगम ज्ञान अत्यन्त विशुद्ध होता है। वे परम प्रकृष्ट वाक्, मति, बुद्धि और शक्ति से अन्वित होते हैं। वे काल, संहनन, आयु की दृष्टि से अल्पशक्ति वाले शिष्यों पर अनुग्रह कर जो रचना करते हैं वह अंगबाह्य है।

आगम रचना के विषय में पूज्यपाद, अकलंक, वीरसेन और जिनसेन का अभिमत भी ज्ञातव्य है। पूज्यपाद के अनुसार आगम के वक्ता तीन होते हैं—1. सर्वज्ञ—तीर्थंकर अथवा अन्यकेवली 2. श्रुतकेवली 3. आरातीय (उत्तरवर्ती) आचार्य।

सर्व तीर्थंकर ने अर्थागम का प्रतिपादन किया। आरातीय आचार्यों ने कालदोष से प्रभावित आयु, मति, बल को ध्यान में रखकर अंगबाह्य आगमों की रचना की।

अंगबाह्य आगम की रचना के विषय में अकलंक का अभिमत पूज्यपाद जैसा ही है। वीरसेन ने अंगबाह्य के रचनाकार के रूप में इन्द्रभूति गौतम का उल्लेख किया है। जिनसेन के अनुसार अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य का अर्थ महावीर ने बतलाया और उन दोनों की रचना गौतम गणधर ने की।

अंगबाह्य आगम की रचना के विषय में प्रमुख मत तीन हैं—1. भगवान् महावीर के द्वारा अर्थ रूप में प्रतिपादन और गणधरों द्वारा उनकी रचना। 2. इन्द्रभूति गौतम द्वारा अंगबाह्य की रचना। 3. आरातीय आचार्यों द्वारा अंगबाह्य की रचना।

दशवैकालिक आदि अंगबाह्य आगम के रचनाकार श्रुतकेवली हैं, गणधर नहीं है। प्रज्ञापना, अनुयोगद्वार आदि अंगबाह्य आगम रचना की भी यही स्थिति है। इसलिए जिनभद्रगणि, पूज्यपाद और अकलंक का अभिमत अधिक प्रासंगिक है। क्वचित्-क्वचित् अंगबाह्य आगम की रचना के साथ तीर्थंकर और गणधर का उल्लेख भी मिलता है।

74. से किं तं अंगबाहिरं? अंगबाहिरं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—आवस्सयं च, आवस्सयवइरित्तं च।।

हिन्दी: वह अंगबाह्य क्या है? अंगबाह्य दो प्रकार का प्रज्ञप्त है, जैसे—आवश्यक और आवश्यव्यतिरिक्त।

75. से किं तं आवस्सयं? आवस्सय छव्विहं पण्णत्तं, तं जहा—सामाइयं, चउवीसत्थओ, वंदणयं, पछिक्कमणं, काउस्सग्गो, पच्चक्खाणं। सेत्तं आवस्सयं।।

हिन्दी: वह आवश्यक क्या है? आवश्यक छह प्रकार का प्रज्ञप्त है, जैसे—1. सामायिक 2. चतुर्विंशस्तव 3. वन्दना 4. प्रतिक्रमण 5. कायोत्सर्ग 6. प्रत्याख्यान। वह आवश्यक है।

टिप्पण

अंगबाह्य आगमों की सूची में पहला आगम है—आवश्यक। उसके रचना और रचनाकार के विषय में यत्र तत्र उल्लेख मिलते हैं। आवश्यक निर्युक्ति में सामायिक अध्ययन के विषय में एक उल्लेख है—यह

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अध्ययन गुरुजनों के द्वारा उपदिष्ट और आचार्य परम्परा द्वारा आगत है। मलधारी हेमचन्द्र ने गुरुजन का अर्थ जिन, तीर्थंकर और गणधर किया है। इससे सामायिक आवश्यक की प्राचीनता सिद्ध होती हे।

वर्तमान में आवश्यक का जो स्वरूप है वह महावीर के काल में नहीं था। प्रतिक्रमण प्राचीन है। महावीर के धर्म को सम्प्रतिक्रमण कहा गया है। चतुर्विंशतस्तव की रचना भद्रबाहु ने की। इसका उल्लेख अनेक व्याख्या ग्रन्थों में मिलता है।

उक्त चर्चा का निष्कर्ष यह है कि आवश्यक की रचना अनेक कालखण्डों में हुई है। उसके रचनाकार गौतम, भद्रबाहु आदि अनेक आचार्य हैं। आवश्यक की रचना के विषय में पण्डित सुखलालजी और पण्डित बेचरदासजी का मंतव्य अवलोकनीय है।

प्रस्तुत आगम में आवश्यक के छः प्रकार निर्दिष्ट हैं। अनुयोगद्धार के अनुसार आवश्यक छह अध्ययनों का एक श्रुतस्कन्ध है। जयधवला के अनुसार आवश्यक एक श्रुतस्कन्ध के रूप में प्रतिष्ठित नहीं है। उसमें अंगबाह्य श्रुत के चौदह प्रकार बतलाए गए हैं। उनमें पहले छः प्रकार हैं—1. सामायिक 2. चतुर्विंशतिस्तव 3. वंदना 4. प्रतिक्रमण 5. वैनयिक 6. कृतिकर्म। मूलाचार में षडावश्यक की सूची में प्रत्याख्यान पांचवां तथा विसर्ग अथवा कायोत्सर्ग छठा है। तत्त्वार्थभाष्य के पश्चात् प्रत्याख्यान का उल्लेख है। मूलाचार का क्रम भाष्य का संवादी है क्योंकि भाष्य से यही फलित होता है कि छह अध्ययनों का अस्तित्व स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में था। इन सब संदर्भों का निष्कर्ष यह है कि आवश्यक अनेक कालखण्डों में परिवर्तित होता रहा।

76. से किं तं आवस्सयवइरित्त? आवस्सयवइरित्तं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—कालियं च, उक्कालियं च।।

हिन्दीः वह आवश्यकव्यतिरिक्त क्या है? आवश्यकव्यतिरिक्त दो प्रकार का प्रज्ञप्त है, जैसे—कालिक और उत्कालिक।

77. से किं तं उक्कालियं? उक्कालियं अणंगविहं पण्णत्तं, तं जहा—

1. दसवेयालियं 2. कप्पियाकप्पियं 3. चुल्लकप्पसुयं 4. महाकप्पसुयं 5. ओवाइयं 6. रायपसेणिय (णइ) 7. जीवाभिगमो (जीवाजीवाभिगमे?) 8. पण्णवणा 9. महापण्णवणा 10. पमायप्पमाय। 11. नंदी 12. अणुओगदाराइं 13. देविंदत्थओ 14. तंदुलवेयालियं 15. चंदगविज्झयं 16. सूरपण्णत्ती 17. पोरिसिमंडलं 18. मंडलपवेसो 19. विज्जाचरणविणिच्छओ 20. गणिविज्जा 21. झाणविभत्ती 22. मरणविभत्ती 23. आयविसोही 24. वीयरागसुयं 25. संलेहणासुयं 26. विहारकप्पो 27. चरणविही 28. आउरपच्चक्खाणं 29. महापच्चखाणं। सेत्तं उक्कालियं।।

हिन्दीः वह उत्कालिक क्या है? उत्कालिक अनेक प्रकार का प्रज्ञप्त है, जैसे—1. दशवैकालिक 2. कल्पिकाकल्पिक 3. क्षुल्लककल्पश्रुत 4. महाकल्पश्रुत 5. औपपातिक 6. राजप्रसेनिक 7. जीवाभिगम (जीवाजीवाभिगम?) 8. प्रज्ञापना 9. महाप्रज्ञापना 10. प्रमादाप्रमाद 11. नंदी 12. अनुयोगद्धार 13. देवेन्द्रस्तव 14. तन्दुलवैचारिक 15. चंद्रकवेध्यक 16. सूर्यप्रज्ञप्ति 17. पौरुषीमण्डल 18. मण्डलप्रवेश 19. विद्याचरणविनिश्चय 20. गणिविद्या 21. ध्यानविभक्ति 22. मरणविभक्ति 23. आत्मविशोधि 24. वीतरागश्रुत 25. संलेखनाश्रुत 26. विहारकल्प 27. चरणविधि 28. आतुरप्रत्याख्यान 29. महाप्रत्याख्यान। वह उत्कालिक है।

78. से किं तं कालियं? कालियं अणेगविहं पण्णत्तं, तं जहा—1. उत्तरज्झयणाइं 2. दसाओ 3. कप्पो 4. ववहारो 5. निसीहं 6. महानिसीहं 7. इसिभासियाइं 8. जंबूद्दीवपण्णत्ती 9. दीवसागरपण्णत्ती 10. चंदपण्णत्ती 11. खुड्डियाविमाणपविभत्ती 12. महल्लियाविमाणपविभत्ती 13. अंगचूलिया 14. वग्गचूलिया 15. वियाहचूलिया 16. अरुणोववाए 17. वरुणोववाए 18. गरुलोववाए 19. धरणोववाए 20. वेसमणाववाए 21. वेलंधरोववाए 22. देविंदोववाए 23. उट्ठाणसुयं 24. समुट्ठाणसुयं 25. नागपरियावणियाओ 26. निरयावलियाओ 27. कप्पवडंसियाओ 28. पुप्फियाओ 29. पुप्फचूलियाओ 30. वण्हिदसाओ।।

हिन्दीः वह कालिक क्या है? कालिकश्रुत अनेक प्रकार के प्रज्ञप्त हैं, जैसे—1. उत्तराध्ययन 2. दशा 3. कल्प 4. व्यवहार 5. निशीथ 6. महानिशीथ 7. ऋषिभाषित 8. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति 9. द्वीपसागरप्रज्ञप्ति 10. चन्द्रप्रज्ञप्ति 11. क्षुल्लिकाविमानप्रविभक्ति 12. महतीविमानप्रविभक्ति 13. अंगचूलिका 14. वर्गचूलिका 15. व्याख्याचूलिका 16. अरुणोपपात 17. वरुणोपपात 18. गरुडोपपात 19. धरणोपपात 20. वैश्रमणोपपात 21. वेलंधरोपपात 22. देवेन्द्रोपपात 23. उत्थानश्रुत 24. समुत्थानश्रुत 25. नागपर्यापनिका 26. निरयावलिका 27. कल्पवतंसिका 28. पुष्पिका 29. पुष्पचूलिका 30. वृष्णिदशा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

टिप्पण

स्थानांग सूत्र में कालिक और उत्कालिक का उल्लेख मात्र मिलता है। अकलंक ने अंगबाह्य के कालिक और उत्कालिक के अनेक विकल्प बतलाए हैं। उनके अनुसार स्वाध्याय काल में जिसका काल नियत है वह कालिक है; अनियत काल वाला है उत्कालिक।

अनुयोगद्धार में परिमाण संख्या के प्रकरण में कालिक सूत्र का परिमाण बताया है। आवश्यक निर्युक्ति से ज्ञात होता है कि आर्यरक्षितसूरि ने अनुयोग की व्यवस्था के समय कालिकसूत्र की व्यवस्था की थी।

प्रथम अनुयोग चरणकरणानुयोग है। उसके लिए निर्युक्तिकार ने कालिकसूत्र का प्रयोग किया है। मलधारी हेमचन्द्र का अभिमत है—ग्यारह अंग कालग्रहण आदि की दृष्टि से पढ़े जाते थे, इसलिए उनकी संज्ञा कालिक है। कालिकश्रुत में प्राय: चरणकरणानुयोग का प्रतिपादन है इसलिए भाष्यकार ने चरणकरणानुयोग के स्थान पर कालिकश्रुत का प्रयोग किया है। कालिकश्रुत का प्राय: चरणकरणानुयोग में समावेश है।

ऋषिभाषित—उत्तराध्ययन में नमि, कपिल आदि का कथानक है। इसलिए उनका समावेश धर्मकथानुयोग में, सूर्यप्रज्ञप्ति आदि का समावेश गणितानुयोग में और दृष्टिवाद का समावेश द्रव्यानुयोग में किया गया है।

कालिक और उत्कालिक—यह विभाग सर्वप्रथम प्रस्तुत आगम में ही उपलब्ध होता है। चूर्णिकार के अनुसार कालिक आगम दिन रात के प्रथम प्रहर व चरम प्रहर में पढ़े जाते थे। उत्कालिक आगम अकाल बेला को छोड़कर हर समय पढ़े जाते थे। इससे यह स्पष्ट है कि स्वाध्याय काल की मर्यादा के आधार पर यह विभाग किया गया है। दशवैकालिक को उत्कालिक की सूची में और उत्तराध्ययन को कालिक की सूची में रखने का हेतु क्या है? इसका स्पष्ट समाधान नहीं किया जा सकता। केवल स्वाध्याय व्यवस्था को ही हेतु माना जा सकता है।

5.7 उत्कालिक की सूची में उनतीस आगमों का उल्लेख है—

1. दशवैकालिक— दशवैकालिक के दस अध्ययन हैं और चूंकि वह विकाल में रचा गया, इसलिए इसका नाम दशवैकालिक रखा गया। इसके कर्त्ता श्रुतकेवली शय्यंभव हैं। अपने पुत्र-शिष्य मनक के लिए उन्होंने इसकी रचना की। वीर सम्वत् 72 के आस पास 'चम्पा' में इसकी रचना हुई। विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य **दसवेआलियं** की भूमिका।

2. कल्पिकाकल्पिक—इसमें कल्प और अकल्प का वर्णन था। यह सम्प्रति अनुपलब्ध है।

3. क्षुल्लकल्पश्रुत—इसके कर्त्ता भद्रबाहु हैं। यह लघु आकारवाला विधिनिषेधात्मक आचार शास्त्र है।

4. महाकल्पश्रुत—इसके कर्त्ता भद्रबाहु हैं। यह महत् आकारवाला विधि निषेधात्मक आचार शास्त्र है।

5. औपपातिक—औपपातिक अंगबाह्य आगम है इसलिए यह गणधर कृत नहीं है। किसी स्थविर ने इसकी रचना की है। इसमें अध्ययन, उद्देश्य आदि का विभाग नहीं है। प्रस्तुत सूत्र का मुख्य विषय प्रतिपाद्य उपपात है। समवसरण इसका प्रासंगिक विषय है। मुख्य प्रतिपाद्य के आधार पर प्रस्तुत सूत्र का नाम 'ओवाइय' किया गया है। इसका संस्कृत रूप 'औपपातिक' होता है।

औपपातिक का मुख्य विषय पुनर्जन्म है। उपपात के प्रकरण में 'अमुक प्रकार के आचरण से अमुक प्रकार का आगामी उपपात होता है', यही विषय चर्चित है। उपोद्घात प्रकरण में अनेक वर्णक हैं—नगरी वर्णक, चैत्य वर्णक, उद्यान वर्णक, राजवर्णक आदि-आदि। इन वर्णकों से प्रस्तुत सूत्र वर्णक सूत्र बन गया।

6. राजप्रश्नीय

यह स्थविर के द्वारा रचित है। प्रस्तुत सूत्र अध्ययन, उद्देशक आदि विभागों में विभक्त नहीं है। विषय की दृष्टि से इसके दो मुख्य प्रकरण हैं—1. सूर्याभदेव 2. प्रदेशी राजा का कथानक।

प्रस्तुत सूत्र का प्रथम आमलकप्पा नगरी के वर्णन से प्रारम्भ होता है। सूर्याभ के प्रसंग में विमानरचना, प्रेक्षामंडप, नाट्यविधि आदि का विस्तृत वर्णन मिलता है।

7. जीवाभिगम

प्रस्तुत सूची में आलोच्य आगम का नाम जीवाभिगम है। इस समय आगम का उत्पेक्ष पद में जीवाजीवाभिगम नाम उपलब्ध है। इसका प्रारम्भ अजीवाभिगम से होता है। इससे आगे जीवाभिगम का विस्तृत विवेचन है। इसके कर्त्ता का नाम उपलब्ध नहीं है। उत्पेक्ष पद में यह निर्देश मिलता है कि जिनमत में श्रद्धा रखने वाले स्थविरों ने जीवाजीवाभिगम नामक अध्ययन का प्रज्ञापन किया है—इह खलु जिणमयं जिणाणुमयं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जिणाणुलोमं जिणप्पणीतं जिणपरूवियं जिणक्खायं जिणाणुचिण्णं जिणपण्णत्तं जिणदेसियं जिणपसत्थं अणुवीइं तं सद्दहमाणां तं पत्तियमाणा तं रोएमाणा थेरा भगवंतो जीवाजीवाभिगमं णामज्झयणं पण्णवइसु।

इसका रचनाकाल अज्ञात है। इसमें अनेक स्थानों पर 'जहा पण्णवणाए'—अर्थात् प्रज्ञापना को देखने का संकेत है। इससे ज्ञात होता है कि जीवाजीवाभिगम की रचना श्यामाचार्य के उत्तरवर्ती स्थविरों ने की है। इस तथ्य को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि आगम संकलन काल में देवर्धिगणी ने 'जहा पण्णवणाए' का उल्लेख किया है। कुछ भी रचनाकाल तक पहुंचने के लिए काफी अनुसंधान की आवश्यकता है।

8. प्रज्ञापना

इसके रचनाकार श्यामाचार्य हैं। वे वाचक और पूर्वधर थे। सूत्रकार ने आगम के प्रारम्भ में भगवान् महावीर को नमस्कार किया है—

ववगयजर-मरणभए सिद्धे अभिवंदिऊण तिविहेणं।
वंदामि जिणवरिंदं तेलोक्कगुरुं महावीरं।।

उनके अनुसार प्रस्तुत ग्रंथ दृष्टिवाद का निष्यन्द (सार) है। भगवान् महावीर ने सब आगमों की प्रज्ञापना की। ग्रन्थकार ने उन्हीं के प्रज्ञापना का संकल्प किया है—

सुयरयणनिहाणं जिणवरेण, भवियजणणिव्वुइकरेण।
उवदंसिया भयवया, पण्णवणा सव्वभावाणं।।
अज्झयणयिणं चित्तं, सुयरयणंदिट्ठिवायणीसंदं।
जह ण्णियं भगवया, अहमवि तह वण्णइस्सामि।।

मलयगिरि ने प्रस्तुत ग्रन्थ की वृत्ति में दो गाथाएं उद्धृत की हैं। उनमें उल्लेख है कि श्यामाचार्य वाचक वंश के तेवीसवें वाचक थे। उनका पूर्वाश्रुत बहुत समृद्ध था। माथुरी वाचना के अनुसार श्यामाचार्य का स्थान तेरहवां है। तपागच्छ पट्टावली के अनुसार शयामाचार्य का स्वर्गवास भगवान् महावीर से 376 वर्ष बाद हुआ था।

इन तथ्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि श्यामाचार्य सुधर्मा के पश्चात् तेरहवें वाचक थे। वृत्ति में उद्धृत गाथा में तेवीसवां वाचक बतलाया गया है। यह किसी अन्य अनुश्रुति के आधार पर लिखा गया प्रतीत होता है। इसे प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। जयाचार्य का अभिमत है कि श्यामाचार्य ने प्रज्ञापना की रचना बड़े ग्रन्थ के लघु संस्करण के रूप में की है।

9. महाप्रज्ञापना

चूर्णिकार के अनुसार इसमें प्रमाद, अप्रमाद का वर्णन किया गया है। यह सम्प्रति उपलब्ध है।

10. प्रमादाप्रमाद

चूर्णिकार के अनुसार इसमें प्रमाद, अप्रमाद का वर्णन किया गया है। यह सम्प्रति उपलब्ध नहीं है।

11. नंदी

प्रस्तुत आगम। विशेष विवरण के लिए देखें भूमिका।

12. अनुयोगद्धार

यह आर्यरक्षित द्वारा रचित है। विशेष विवरण के लिए देखें 'अणुओगदाराइं' की भूमिका।

13. देवेन्द्रस्तव

इस अध्ययन में देवेन्द्रों की स्थिति, भवन, विमान, नगर, उच्छ्वास-निश्वास आदि का वर्णन है।

14. तंदुलवैचारिक

इस अध्ययन में गर्भ, मानव शरीर रचना, उसकी शत वर्ष की आयु के दस विभाग, उनमें होने वाली शारीरिक स्थितियां, उसके आहार आदि— मानव जीवन के विविध पक्षों पर विमर्श किया गया है।

15. चन्द्रवेध्यक

इस अध्ययन में विनय गुण, आचार्य गुण, शिष्य गुण, ज्ञान गुण, चारित्र गुण आदि विषयों पर विस्तार से विवेचन है।

16. सूर्यप्रज्ञप्ति

इसमें सूर्य की चर्या का प्रज्ञापन है। इसमें प्रहर के कालमान का निरूपण है।

17. पौरुषीमंडल

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इस अध्ययन में एक प्रहर के कालमान का प्रतिपादन है।

18. मण्डलप्रदेश

इस अध्ययन में चन्द्र और सूर्य के एक मण्डल से दूसरे मण्डल में प्रवेश का वर्णन है। यह सम्प्रति उपलब्ध नहीं है।

19. विद्याचरण विनिश्चय

इस अध्ययन में विद्या और चारित्र का निरूपण किया गया है।

20. गणिविद्या

इस अध्ययन में विभिन्न अवसरों पर प्रयुक्त होने वाला मुहूर्त्त, नक्षत्र आदि का वर्णन है।

21. ध्यानविभक्ति

इस अध्ययन में ध्यान का विभाग युक्त विस्तृत वर्णन है। यह सम्प्रति अनुपलब्ध है।

22. मरणविभक्ति

इस अध्ययन में मरण का विभाग युक्त वर्णन है।

23. आत्मविशोधि

इस अध्ययन में आत्मा की विशुद्धि का वर्णन है। यह सम्प्रति उपलब्ध नहीं है।

24. वीतरागश्रुत

इस अध्ययन में वीतराग के स्वरूप का विवेचन है। यह सम्प्रति अनुपलब्ध है।

25. संलेखनाश्रुत

इस अध्ययन में मारणान्तिक संलेखना का निरूपण है। पुण्यविजयजी ने संलेखनाश्रुत का मरणविभक्ति के अंतर्गत उल्लेख किया है।

26. विहारकल्प

इस अध्ययन में जिनकल्प, स्थविरकल्प, प्रतिमाधारी, यथालन्दक और पारिहारिक मुनि की इन पांचों श्रेणियों का कल्प है।

27. चरणविधि

इस अध्ययन में चारित्र की विधियों का निरूपण है।

28. आतुरप्रत्याख्यान

इस अध्ययन में आतुर (ग्लान) को कराए जाने वाले प्रत्याख्यान का वर्णन है।

29. महाप्रत्याख्यान

इस अध्ययन में चरम अवस्था में कराए जाने वाले प्रत्याख्यान का वर्णन है। प्रस्तुत आगम में छह प्रकीर्णकों के नाम उपलब्ध होते हैं— देवेन्द्रस्तव, तंदुलवैचारिक, चन्द्रवेध्यक, गणिविद्या, आतुरप्रत्याख्यान और महाप्रत्याख्यान। चूर्णिकार ने कुछेक प्रकीर्णकों का विवेचन किया है।

प्रकीर्णकों की सूची भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न प्रकार की मिलती हे। इस विषय में मुनि पुण्यविजयजी ने विस्तार से लिखा है—सामान्यतया प्रकीर्णक दस माने जाते हैं। किन्तु इनकी कोई निश्चित नामावलि न होने के कारण ये नाम कई प्रकार से गिनाए जाते हैं। इन सब प्रकारों में से संग्रह किया जाय तो कुल बाईस नाम प्राप्त होते हैं, जो इस प्रकार हैं—1. चउसरण, 2. आउरपच्चक्खाण, 3. भुविपरिण्णा, 4. संथारय, 5. तंदुलवेयालिय, 6. चंदावेज्झय, 7. देविंदत्थव, 8. गणिविज्जा, 9. महापच्चक्खाण, 10. वीरत्थय, 11. इसिभासियाइं, 12. अजीवकप्प, 13. गच्छाचार, 14. मरणसमाधि, 15. तित्थोगालि, 16. आराहणापडागा, 17. दीवसागरपण्णत्ति, 18. जोइसकरंडय, 19. अंगविज्जा, 20. सिद्धपाहुड, 21. सारावली, 22. जीवविभक्ति।

आगम युग का जैन दर्शन	तंदुलवेयालियपइण्णयं	जैन साहित्य का वृहद् इतिहास पीठिका
1. चतु:शरण	1. चतु:शरण	1. चतु:शरण
2. आतुरप्रत्याख्यान	2. आतुरप्रत्याख्यान	2. आतुरप्रत्याख्यान
3. भक्त परिज्ञा	3. भक्त परिज्ञा	3. भक्त परिज्ञा
4. संस्तारक	4. संस्तारक	4. संस्तारक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5. तन्दुलवैचारिक	5. तन्दुलवैचारिक	5. तन्दुलवैचारिक
6. चन्द्रवेध्यक	6. चन्द्रवेध्यक	6. चन्द्रवेध्यक
7. देवेन्द्रस्तव	7. देवेन्द्रस्तव	7. देवेन्द्रस्तव
8. गणिविद्या	8. गणिविद्या	8. गणिविद्या
9. महाप्रत्याख्यान	9. महाप्रत्याख्यान	9. महाप्रत्याख्यान
10. वीरस्तव	10. मरणसमाधि	10. मरणसमाधि

जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग-2	**चौरासी आगम अधिकार**
1. चतु:शरण	1. चतु:शरण
2. आतुरप्रत्याख्यान	2. आतुरप्रत्याख्यान
3. महाप्रत्याख्यान	3. महाप्रत्याख्यान
4. भक्तपरिज्ञा	4. भक्तपरिज्ञा
5. तन्दुलवैचारिक	5. तन्दुलवैचारिक
6. संस्तारक	6. गणिविद्या
7. गच्छाचार	7. देवेन्द्रस्तव
8. गणिविद्या	8. चन्द्रविभक्ति
9. देवेन्द्रस्तव	9. संस्तारक
10. मरणसमाधि	10. मरणविभक्ति
11. चन्द्रवेध्यक व वीरस्तव	

5.8 कालिक सूत्र की सूची में 30 आगमों का उल्लेख है—

1. उत्तराध्ययन

उत्तराध्ययन एक कृति है। कृति कोई शाश्वत नहीं होती, इसलिए यह प्रश्न भी स्वाभाविक है कि इसका कर्त्ता कौन है? इस प्रश्न पर सर्वप्रथम निर्युक्तिकार ने विचार किया है। चूर्णिकार ने भी इस प्रशन को स्पष्ट शब्दों में उठाया है। निर्युक्तिकार की दृष्टि में उत्तराध्ययन एक-कर्तृक नहीं है। उनके मतानुसार उत्तराध्ययन के अध्ययन कर्तृत्व की दृष्टि से चार वर्गों में विभक्त होते हैं—1. अंगप्रभव 2. जिन-भाषित 3. प्रत्येकबुद्ध-भाषित 4. संवाद-समुत्थित।

2-5. दशा, कल्प, व्यवहार, निशीथ

ये चार आगम वर्तमान वर्गीकरण के अनुसार छेदसूत्र के वर्गीकरण में है। इनका मुख्य विषय कल्प, अकल्प, विधि, निषेध और प्रायश्चित्त है।

6. महानिशीथ

चूर्णिकार के अनुसार समालोच्य आगम का विषय निशीथ की अपेक्षा विस्तीर्णतर है इसलिए इसकी संज्ञा महानिशीथ है। महानिशीथ का संशोधन आचार्य हरिभद्र ने किया है।

7. ऋषिभाषित

'ऋषिभाषित' किसी कर्त्ता की कृति नहीं है। इसमें पैंतालीस अर्हंतों का प्रवचन संकलित है। समवाओं में ऋषिभाषित के चवांलीस अध्ययन हैं। मुनि पुण्यविजयजी का मंतव्य मननीय है—समवायांग सूत्र में चवांलीसवें समवाय में ऋषिभाषित सूत्र का उल्लेख मिलता है। देवलोक से च्यवित चवांलीस ऋषियों के प्रवचन रूप यह सूत्र है। किन्तु एक प्रश्न उपस्थित होता है कि यहां वर्तमान ऋषिभाषित सूत्र के पैंतालीस अध्ययन हैं और समवायांग सूत्र में चवांलीस अध्ययनों का उल्लेख मिलता है। इस विभेद को मिटाने के लिए टीकाकार लिखते हैं कि समवायांग सूत्र में देवलोक से च्यवित ऋषियों का ही उल्लेख है। संभव है एक ऋषि किसी अन्य से आयें हों, अत: उनका उल्लेख नहीं किया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

8. जम्बूद्वीपपप्रज्ञप्ति

उपांग के वर्गीकरण के अनुसार यह पांचवां उपांग है। इसमें जंबूद्धीप आदि अनेक विषयों का वर्णन है।

9. द्वीपसागरप्रज्ञप्ति

बाईस प्रकीर्णकों की सूची में इसका उल्लेख हैं।

10. चन्द्रप्रज्ञप्ति

चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति का उपलब्ध पाठ और विषय समान है। चंद्रप्रज्ञप्ति के प्रारम्भ में चार मंगल गाथाएं हैं। सूर्यप्रज्ञप्ति में वे नहीं हैं। चंद्रप्रज्ञप्ति का प्रारिम्भक पाठ कुछ प्रतियों में भिन्न है। सूर्यप्रज्ञप्ति की गणना उत्कालिक में की गई है, चंद्रप्रज्ञप्ति की गणना कालिक में। यह अनुसंधान का विषय है। इसका कोई स्पष्ट हेतु नहीं है। इसमें चंद्र की चर्या का प्रज्ञापना है।

11-12. क्षुल्लिकाविमानप्रविभक्ति, महाविमानप्रविभक्ति

विमान प्रविभक्ति में सौधर्म आदि कल्पों के आवलिका और प्रकीर्णक दोनों प्रकार के विमानों का निरूपण है। इसके दो अध्ययन हैं—1. क्षुल्लिकाविमानप्रविभक्ति—सूत्र और अर्थ की दृष्टि से संक्षिप्त है। 2. महाविमानप्रविभक्ति—सूत्र और अर्थ की दृष्टि से विस्तृत है।

13. अंगचूलिका

चूर्णिकार ने इसका अर्थ आचारांग की चूला अथवा दृष्टिवाद की चूला किया है। व्यवहार सूत्र में अंगचूलिका, वर्गचूलिका और व्याख्याचूलिका इन तीनों का उल्लेख है। व्यवहार भाष्य में इन चूलिकाओं की आगम के साथ संयोजना का निर्देश मिलता है। अंगचूलिका अंगों की चूलिका है। वर्गचूलिका महाकल्पश्रुत की चूलिका है और व्याख्याचूलिका व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) की चूलिका है। चूर्णिकार ने चूलिका के प्रसंग में आचार की पांच चूलिकाओं और दृष्टिवाद की चूला का उल्लेख किया है। मलयगिरि ने अंगचूलिका के सन्दर्भ में निरयावलिका का उल्लेख किया है। उसके पांच विभाग हैं—वे उपासकदशा आदि पांच अंगों की चूलिका हैं।

अंग	**उपांग**
उवासगदसाओ	निरयावलियाओ (कप्पिया)
अंतगडदसाओ	कप्पवडिंसियाओ
अणुत्तरोववाइयदसाओ	पुप्फियाओ
पण्हावागरणाइं	पुप्फचूलियाओ
विवागसुयं	ण्हिइसाओ

14. वर्गचूलिका

वर्गचूलिका के विषय में भाष्य और चूर्णि का मत बहुत भिन्न हैं। भाष्यकार के अनुसार वर्गचूलिका महाकल्पश्रुत की चूलिका है। चूर्णिकार के अनुसार अंतकृतदशा और अनुत्तरोपपातिकदशा के वर्ग है, उनकी चूलिका वर्गचूलिका है।

15. व्याख्याचूलिका

यह व्याख्या प्रज्ञप्ति चूलिका है।

16-22. अरुणोपपात, वरुणोपपात, गरुडोपपात, धरणोपपात, वैश्रमणोपपात, वेलंधरोपपात, देवेन्द्रोपपात

ये अध्ययन देव गण के नाम से सम्बद्ध हैं। अरुण, वरुण, गरुड़, धरण, वैश्रमण, वेलंधर और देवेन्द्र— देवों के नाम के आधर पर उक्त अध्ययनों की रचना की गई है। अध्ययन से संबद्ध देवों को प्रणिधान कर, उनका परावर्तन किया जाता है। उस समय वे देव उपस्थित हो जाते हैं इनका परावर्तन निश्चित समय में किया जाता है और उस समय उन देवों के आसन चलित होते हैं और वे परावर्तन कर्त्ता के सामने अन्तर्हित अवस्था में ध्यानपूर्वक अध्ययनों को सुनते हैं। उसकी समाप्ति पर कहते हैं 'सुभाषितम्' वर मांगो। परावर्तन करनेवाले श्रमण के मन में कोई चाह नहीं होती। वह कहता है— मुझे कोई वर नहीं मांगना है। तब वे उस श्रमण को वंदना कर लौट जाते हैं। व्यवहार भाष्य में धरणोपपात का उल्लेख नहीं है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

23-25. उत्थानश्रुत, समुत्थानश्रुत, नागपर्यापनिका

उत्थानश्रुत का उपयोग दुष्ट जिसको लक्ष्य कर श्रृंग बजाता है वह कुल, गांव और देश उजड़ जाता है। वह प्रसन्न होकर समुत्थानश्रुत का परावर्तन करता है तब उजड़े हुए कुल, गांव और देश पुनः बस जाते हैं।

नागपर्यापनिका नामक अध्ययन का परावर्तन करने पर नागकुमार अपने स्थान पर स्थित रहकर वंदना, नमस्कार करते हैं और श्रृंगज्ञान जैसे कार्यों में वर भी देते हैं। मलधारी श्रीचंद्रसूरि ने 'सिंहनाइयकज्ज' का विस्तृत अर्थ किया है।

26-30. निरयावलिका, कल्पवतंसिका, पुप्फिका, पुप्फचूलिका, वृष्णिदशा

ये उपांग के पांच वर्ग हैं व्यवहार सूत्र में नंदी में आए हुए आगमों के अतिरिक्त आगमों का उल्लेख है—स्वप्नभावना, चारणभावना, तेजोनिसर्गभावना, आशीविषभावना, दृष्टिविषभावना।

79. एवमाइयाइं चउरासीइं पइण्णगसहस्साइं भगवओ अरहओ उसहसामिस्स आइतित्थयरस्स। तहा संखिज्जाइं पइण्णगसहस्साइं मज्झिमगाणं जिणवराणं। चोद्दस पइण्णगसहस्साणि भगवओ वद्धमाणसामिस्स।

अहवा—जस्स जत्तिया सीसा उप्पत्तियाए, वेणइयाए, कम्मयाए, पारिणामियाए—चउव्विहाए बुद्धीए उववेया, तस्स तत्तियाइं पइण्णगसहस्साइं। पत्तेयबुद्धावि तत्तिया चेव। सेत्तं कालियं। सेत्तं आवस्सयवइरित्तं। सेत्तं अणंगपविट्ठं।।

हिन्दी: इत्यादि 84 हजार प्रकीर्णक आदि तीर्थंकर अर्हत् भगवान् ऋषभस्वामी के थे। मध्यवर्ती तीर्थंकर के संख्यात हजार प्रकीर्णक थे। भगवान् वर्धमानस्वामी के 14 हजार प्रकीर्णक थे।

अथवा—जिसके जितने शिष्य औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कर्मजा और पारिणामिकी—इस बुद्धि चतुष्टय से उपेत होते हैं, उसके उतने ही हजार प्रकीर्णक होते हैं। उतने ही प्रत्येक बुद्ध होते हैं। वह कालिक है। वह आवश्यकव्यतिरिक्त है। वह अनंगप्रविष्ट है।

टिप्पण

प्रस्तुत सूत्र का प्रारम्भ **'एवमाइयाइं चउरासीइं पइण्णगसहस्साइं'** इन वाक्यों से होता है। 'एवमादि' यह वाक्य पूर्वनिर्दि"ट ग्रन्थों की ओर संकेत करता है। इसका तात्पर्य है—पूर्ववर्ती सूत्रों में जिन उत्कालिक और कालिक आगमों की तालिका दी गई है वे आगम प्रकीर्णक की कोटि के हैं। चूर्णिकार ने बताया है—भगवान् ऋषभ के चौरासी हजार शिष्य और उनके द्वारा रचित कालिक और उत्कालिक प्रकीर्णक चौरासी हजार थे।

चूर्णिकार तथा वृत्तिकार ने प्रकीर्णक के दो अर्थ परिभाषित किए हैं—1. अर्हत् के द्वारा उपदिष्ट श्रुत से निर्यूहण कर जो रचना की जाती है वह प्रकीर्णक है। 2. श्रुत का अनुसरण कर अपने वचन कौशल से जो प्रवचन किया जाता है वह प्रकीर्णक है वह प्रवचन नियमतः किसी श्रुत ग्रन्थ का अनुपाती होता है।

प्रकीर्णक की रचना के विषय में सूत्रकार ने दो परम्पराओं का उल्लेख किया है—1. जिस तीर्थंकर के जितने शिष्य होते हैं उतने ही प्रकीर्णकों की रचना की जाती है। 2. दूसरा विकल्प यह है कि जिस तीर्थंकर के बुद्धि चतुष्टय युक्त जितने शिष्य होते हैं,उतने ही प्रकीर्णकों की रचना की जाती है।

प्रकीर्णकों की संख्या और प्रत्येक बुद्धों की संख्या का परिमाण ामरन बतलाया गया है। इससे यह फलित होता है कि प्रकीर्णक के रचनाकार प्रत्येकबुद्ध होते हैं। इससे ज्ञात होता है कि सूत्रकार के सामने प्रकीर्णक रचना की निश्चित परम्परा नहीं थी। अनेक आगमधरों की अनेक परम्पराओं का सूत्रकार ने संकलन कर दिया।

80. से किं तं अंगपविट्ठं? अंगपविट्ठ दुवालसविहं पण्णत्तं, तं जहा—आयारो, सूयगडो, ठाणं, समवाओ, वियाहपण्णत्ती, नायाधम्मकहाओ, उवासगदसाओ, अंतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, पण्हावागरणाइं विवागसुयं, दिट्ठिवाओ।।

हिन्दी: वह अंगप्रविष्ट क्या है? अंगप्रविष्ट बारह प्रकार का प्रज्ञप्त है, जैसे—आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृतदशा, अनुत्तरोपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकश्रुत, दृष्टिवाद।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5.9 आगम प्रामाण्य

वर्तमान में ग्यारह अंग उपलब्ध हैं। बारहवां अंग दृष्टिवाद विच्छिन्न है। आगम प्रामाण्य की चर्चा रचनाकार और चालू परम्परा दोनों के आधार पर करणीय है। रचना की दृष्टि से बारह अंग गणधरकृत है। इसलिए इनका प्रामाण्य असंदिग्ध है। अंग साहित्य के अतिरिक्त अंगबाह्य के रचनाकार स्थविर हैं। सब स्थविरों की रचना का प्रामाण्य नहीं माना जाता। जिनकी रचना का प्रामाण्य माना जाता है, उनके लिए पूर्व ज्ञान की सीमा निर्धारित है। व्यवहार (प्रायश्चित्तदान) के लिए छह पुरुष अधिकृत माने गए हैं—केवलज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, चतुर्दशपूर्वी, दशपूर्वी और नवपूर्वी।[1] किन्तु इस प्रकरण में आगम रचना की दृष्टि से विचार नहीं किया गया है। रचना की दृष्टि से विचार करने पर नवपूर्वी द्वारा रचित आगम की रचना का प्रमाण्य सिद्ध नहीं होता। नंदीसूत्र के आधार पर जयाचार्य ने संपूर्ण दशपूर्वी के वचन का प्रामाण्य स्वीकार किया है। प्रस्तुत आगम (नंदी) में बतलाया गया है कि द्वादशांगी चतुर्दशपूर्वी और संपूर्णदशपूर्वी के लिए सम्यक्श्रुत है। नवपूर्वी आदि के लिए सम्यक्श्रुत की भजना (विकल्प) है।[2] इस सूत्र के आधार पर जयाचार्य ने यह स्थापना की कि चतुर्दशपूर्वी और संपूर्ण दशपूर्वी द्वारा रचित आगम प्रमाण है। शेष नवपूर्वी आदि के द्वारा रचित आगम प्रामाण्य की भजना है।[3] जो द्वादशांगी से अविरुद्ध है वह प्रमाण है। जो द्वादशांगी के विरुद्ध है वह प्रमाण नहीं है।

5.10 सारांश

भाष्यकारों ने व्यवहार (प्रायश्चित्त दान) के लिए नवपूर्वी का भी प्रामाण्य माना है। वहां आगम रचना का प्रसंग नहीं है। सम्यक्श्रुत की दृष्टि से नवपूर्वी का प्रामाण्य निश्चित नहीं है। इन दोनों अभ्युपगमों का एक साथ अध्ययन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि आगम रचना में संपूर्ण दशपूर्वी तक का प्रामाण्य है, नवपूर्वी आदि के श्रुत का प्रामाण्य नहीं है। भट्ट अकलंक ने दशपूर्वधर के चारित्र को विचलित न होने वाला चारित्र बतलाया है।[4] इसमें गणधर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली और संपूर्ण दशपूर्व के द्वारा रचित आगम का प्रामाण्य स्वीकार किया है।[5]

द्रष्टव्य—ठाणं, पृ. 629, 630; भगवई, भाष्य भूमिका, पृ. 32, 33.

5.11 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. श्रुतज्ञान का स्वरूप बतलाते हुए अक्षरश्रुत और अनक्षरश्रुत का वर्णन करें।
2. आगम साहित्य में द्वादशांग का वर्णन करते हुए समझाएं कि वे श्रुतप्रमाण है।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. मिथ्याश्रुत क्या है वे कितने हैं?
2. छह आवश्यकों से क्या समझते हैं?

---

1 व्यवहारभाष्य, गा. 318
आगमसुतववहारी आगतो छव्विहो उ ववहारो।
केवल मणोहि चोद्दस-दस-नव-पुव्वी य नायव्वो॥

2 नवसुत्ताणि, नंदी, सू. 66

3 प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध, 19/12, 20/9
संपूरण दस पूर्वधर, चउदश पूरवधार।
तास रचित आगम हुवै, वारू न्याय विचार॥
दश, चउदश पूरवधारा, आगम रचै उदार।
ते पिण जिन नीं साख थी, विमल न्याय सुविचार॥

4 तत्त्वार्थवार्तिक, 3/36, पृ.202: महारोहिण्यादिभिस्त्रिरागताभिः प्रत्येकमात्मीयरूपसामर्थ्याविष्करणकथनकुशलाभिर्वेगवतीभिर्विद्यादेवताभिरविचलितचारित्रस्य दशपूर्वदुस्तरसमुद्रोत्तरणं दशपूर्वित्वम्।

5 कषायपाहुड़, पृ. 153
सुत्तं गणहर कहियं तहेय पत्तेयबुद्धकहियं च।
सुदकेवलिणा कहियं अभिण्णदसपुव्विकहियं च॥

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. श्रुतज्ञान के चौदह प्रकारों का वर्णन करे।
4. अक्षरश्रुत के तीन प्रकार कौन से हैं?
5. कालिकश्रुत कितने प्रकार का है?
6. उत्कालिकश्रुत का नामोल्लेख मात्र करें।
7. दस प्रकीर्णक कौन से हैं?
8. अंग चूलिका को नामोल्लेख सहित समझाएं।
9. चूर्णिकार तथा वृत्तिकार के अनुसार प्रकीर्णक का अर्थ समझाएं।
10. अंग प्रविष्ट क्या है तथा उसके भेद बतलाएं।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. श्रुतज्ञान के भेद हैं— 12 13 14 15
2. अक्षरश्रुत के प्रकार हैं— 2 3 4 5
3. संज्ञीश्रुत के प्रकार हैं— 3 4 5 6
4. सम्यक्श्रुत और मिथ्याश्रुत के विभाग के आधार हैं— 2 3 4 5
5. कालिकी संज्ञा के कार्य हैं— 5 6 7 8

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–6 : इन्द्रिय और मन

संरचना

6.0 प्रस्तावना
6.1 उद्देश्य
6.2 इन्द्रिय की व्युत्पत्ति एवं प्रकार
6.3 इन्द्रियों के विभाजन का आधार
6.4 पांच इन्द्रियों की शक्ति
6.5 पांच इन्द्रियों में प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी
6.6 पांच इन्द्रियों में कामी और भोगी
6.7 इन्द्रिय चतुष्टय
6.8 इन्द्रिय प्राप्ति का क्रम
6.9 मन का लक्षण
6.10 मन का कार्य
6.11 मन का अस्तित्व
6.12 सारांश
6.13 अभ्यास प्रश्नावली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

6.0 प्रस्तावना

सचेतन प्राणी और अचेतन पदार्थ में सबसे बडा अन्तर है चेतना के अस्तित्व का। निर्जीव पदार्थ में चेतना का अभाव है, प्राणी में चेतना का अस्तित्व है—इस बात को कोई अस्वीकार नहीं करता। चैतन्यशील प्राणी जब तक अपनी चेतना का विशिष्ट विकास नहीं कर लेता, तब तक उसके ज्ञान का माध्यम बनते हैं—इन्द्रिय और मन। वैज्ञानिक शब्दावली में प्राणी का तंत्रिका-तंत्र ज्ञान का माध्यम है। इन्द्रियां और मन तंत्रिका-तंत्र के अवयव हैं, जिनके द्वारा चेतना ज्ञान की सम्पूर्ण प्रक्रिया का सम्पादन करती है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि शरीर में चेतना का अधिष्ठान है—इन्द्रियाँ और मन या तांत्रिका तंत्र।

जैन दर्शन ने जीव के विकास का एक आधार इन्द्रिय और मन के विकास को माना है। सब से कम विकसित प्राणी में केवल एक ही इन्द्रिय (स्पर्शनिन्द्रिय) का विकास होता है, शेष चारों इन्द्रियां एवं मन का विकास नहीं होता। सबसे अधिक विकसित प्राणी—संज्ञी पंचेन्द्रिय—में पांचों इन्द्रिय एवं मन का पूर्ण विकास होता है। चार इन्द्रियों तक विकसित प्राणी सदैव असंज्ञी—मन रहित ही होता है। पंचेन्द्रिय प्राणी समनष्क (मन सहित) और अमनष्क (मन रहित) दोनों होते हैं।

6.1 उद्देश्य–प्रस्तुत पाठ में हमें इन्द्रिय एवं मन के विषय में जैन दर्शन द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्तों को समझना है।

6.2 इन्द्रिय की व्युत्पत्ति एवं प्रकार

प्रत्येक जीव तीन लोक के ऐश्वर्य से सम्पन्न होता है, इसलिए उसे इन्द्र कहते हैं। वह जिस चिन्ह से पहचाना जाये उसे इन्द्रिय कहते है। इन्द्रिय पांच हैं—जैसा कि प्रमाण मीमांसा ग्रंथ में लिखा है–

'स्पर्शरसरूपगन्धशब्दग्रहणलक्षणानि, स्पर्शनरसन घ्राणचक्षु:श्रोत्राणीन्द्रियाणि द्रव्य भावभेदानि'

1. स्पर्शनेन्द्रिय 2. रसनेन्द्रिय 3. घ्राणेन्द्रिय 4. चक्षुरिन्द्रिय 5. श्रोत्रेन्द्रिय।

जिससे किसी एक सुनिश्चित विषय का ज्ञान होता है, उसे इन्द्रिय कहते हैं।

स्पर्शनेन्द्रिय—जिस इन्द्रिय से स्पर्श का ज्ञान होता है, वह है स्पर्शन इन्द्रिय—त्वचा।

रसनेन्द्रिय—जिस इन्द्रिय से रस का ज्ञान होता है, वह है रसन इन्द्रिय—जिह्वा।

घ्राणेन्द्रिय—जिस इन्द्रिय से गंध का ज्ञान होता है, वह है घ्राण इन्द्रिय—नाक।

चक्षुरिन्द्रिय—जिस इन्द्रिय से रूप का ज्ञान होता है, वह है चक्षु इन्द्रिय—आंख।

श्रोत्रेन्द्रिय—जिस इन्द्रिय से ध्वनि का ज्ञान होता है, वह है श्रोत्र इन्द्रिय—कान।

इन्द्रिय के दो भेद हैं–

1. द्रव्येन्द्रिय और 2. भावेन्द्रिय

1. द्रव्येन्द्रिय—नाक, कान आदि इन्द्रियों की बाहरी और भीतरी भौतिक रचना (आकारविशेष) को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। प्रमाण मीमांसा में लिखा है—द्रव्येन्द्रियं नियताकाराः पुद्‌गलाः अर्थात् नियत आकार वाले पुद्‌गल द्रव्येन्द्रिय कहलाते हैं।

2. भावेन्द्रिय—आत्मा के परिणाम विशेष (जानने की योग्यता और प्रवृत्ति) को भावेन्द्रिय कहते हैं।

द्रव्येन्द्रिय के दो भेद हैं—1. निवृत्ति-द्रव्येन्द्रिय और 2. उपकरण द्रव्येन्द्रिय

1. निवृत्ति-द्रव्येन्द्रिय—इन्द्रिय की आकार रचना को निवृत्ति द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। आकार दो प्रकार के होते हैं—बाह्य और आभ्यंतर। बाह्य आकार भिन्न-भिन्न जीवों के भिन्न-भिन्न होते हैं, सबके एक से नहीं होते। आभ्यन्तर आकार सब जीवों के एक से होते हैं। जैसे-श्रोत्रेन्द्रिय का आभ्यन्तर आकार कदम्ब के फूल जैसा, चक्षुरिन्द्रिय का मसूर की दाल जैसा, घ्राणेन्द्रिय का अतिमुक्त पुष्प की चन्द्रिका जैसा, रसन इन्द्रिय का खुरपे जैसा होता है। केवल स्पर्शन इन्द्रिय का आभ्यंतर आकार अनेक प्रकार का होता है। वह प्रत्येक जीव के अपने शरीर के आकार जैसा होता है।

2. उपकरण द्रव्येन्द्रिय—आभ्यन्तर निर्वृति के भीतर अपने-अपने विषय को ग्रहण करने में समर्थ जो पौद्‌गलिक शक्ति होती है, उसे उपकरण-द्रव्येन्द्रिय कहते हैं।

अभ्यन्तर-निर्वृत्ति-द्रव्येन्द्रिय और उपकरण में अन्तर—

आभ्यन्तर निर्वृत्ति है आकार और उपकरण है उसके भीतर विद्यमान अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने वाली पौद्‌गलिक शक्ति। वात-पित्त आदि से उपकरण-द्रव्येन्द्रिय नष्ट हो जाए तो आभ्यन्तर द्रव्येन्द्रिय होने पर भी विषयों का ग्रहण नहीं होता। उदाहरणार्थ—बाह्य निर्वृत्ति है तलवार, आभ्यन्तर निर्वृत्ति है तलवार की धार और उपकरण है तलवार की छेदन-भेदन शक्ति।

भावेन्द्रिय के दो भेद है—

1. लब्धि भावेन्द्रिय और 2. उपयोग भावेन्द्रिय।

1. लब्धि भावेन्द्रिय—ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म का विलय (क्षयोपशम) होने पर स्पर्श आदि विषयों को जानने की जो शक्ति होती है, उसे लब्धि भावेन्द्रिय कहते हैं।

2. उपयोग भावेन्द्रिय—ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म के विलय से प्राप्त शक्ति की प्रयोग को उपयोग भावेन्द्रिय कहते हैं।

लब्धि और उपयोग में अन्तर—लब्धि है ज्ञानात्मक शक्ति या योग्यता और उपयोग है शक्ति का प्रयोग। प्रकारान्तर से लब्धि भावेन्द्रिय का अर्थ है—स्वरूप की प्राप्ति अर्थात् आत्मस्वरूप का उतना प्रकट होना जिससे जीव स्पर्श, गंध, रूप, रस और शब्द को जान सके। उनकी पहचान की जो प्रवृत्ति है वह उपयोग भावेन्द्रिय है। उदाहरणार्थ—एक व्यक्ति ने एक दूरबीन खरीदा, यह तो हुई प्राप्ति और उस यंत्र से उसने दूर स्थित पदार्थों का निरीक्षण किया, यह हुआ उपयोग।

6.3 इन्द्रियों के विभाजन का आधार

जानने का गुण चेतना का है, जड़ का नहीं। चेतना का जब तक पूर्ण विकास नहीं हो जाता तब तक वह जिस विषय पर ध्यान देती है उसे ही जान सकती है, दूसरे को नहीं। यह लब्धि और उपयोग का आधार है। चेतना में जो ज्ञान करने की क्षमता और योग्यता होती है, वह लब्धि इन्द्रिय है। इस योग्यता के होने पर भी हम निरन्तर किसी भी विषय का ज्ञान नहीं करते हैं। तात्पर्य यह है कि जिस समय जिस इन्द्रिय को उपयोग में लाया जाता है उस समय उसके द्वारा सम्बद्ध विषय का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं—यह उपयोग इन्द्रिय है।

इन्द्रिय ज्ञान स्वतंत्र नहीं है, उसे अपने विषय की जानकारी में पौद्‌गलिक इन्द्रियों का सहयोग लेना पड़ता है। जानने की क्षमता होने पर भी यदि आँख का गोला विकृत हो जाए तो चक्षु-इन्द्रिय अपने विषय का ज्ञान नहीं कर सकती। अतः निर्वृत्ति इन्द्रिय की आवश्यकता को नकारा नहीं जा सकता। निर्वृत्ति के होते हुए भी कभी-कभी इन्द्रिय अपने विषय को ग्रहण नहीं कर सकती। अतः जाना जाता है कि निर्वृत्ति के सिवाय एक और भी शक्ति है, जो जानने में उपकार करती है। वह उपकरण इन्द्रिय है। निर्वृत्ति और उपकरण इन्द्रिय ज्ञान के साधन हैं, लब्धि ज्ञान की शक्ति है और उपयोग उस शक्ति का कार्य रूप में परिणमन है। ये चारों मिलकर अपने-अपने विषय का ज्ञान कर सकती हैं, एक, दो, तीन नहीं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

6.4 पांच इन्द्रियों की शक्ति

चक्षुरिन्द्रिय की ज्ञानशक्ति सबसे अधिक है। वह रूप के पुद्‌गलों का स्पर्श किए बिना ही रूप का ज्ञान कर लेती है। श्रोत्रेन्द्रिय की ज्ञानशक्ति चक्षु से कम है, क्योंकि वह शब्द के पुद्‌गलों का स्पर्श करके जानती है। शेष तीन इन्द्रियों की ज्ञानशक्ति श्रोत से भी कम है। कारण ये तीनों गन्ध आदि के पुद्‌गलों को स्पर्शमात्र से नहीं जान सकती, अपितु घनिष्ठ सम्बन्ध होने पर ही उन्हें जान सकती है।

6.5 पांच इन्द्रियों में प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी

चक्षु अप्राप्यकारी है और शेष चारों प्राप्यकारी हैं। जो शब्दादि के साथ निकट का सम्पर्क होने पर ही ज्ञान करती है उन्हें प्राप्यकारी कहते हैं एवं जो दूर से अपने विषय का ज्ञान कर लेती है उसे अप्राप्यकारी कहते हैं। चक्षु रूप के पुद्‌गलों का स्पर्श न करके दूर से ही उन्हें जान लेती है अतः वह अप्राप्यकारी है तथा शेष चारों इन्द्रियां शब्दादि पुद्‌गलों को प्राप्त करके छू करके ज्ञान करती हैं। अतः वे प्राप्यकारी हैं।

6.6 पांच इन्द्रियों में कामी और भोगी इन्द्रियाँ

श्रोत्र और चक्षु ये दो तो कामी हैं एवं शेष तीनों इन्द्रियाँ भोगी हैं। मतलब यह है कि शब्द और रूप दोनों का नाम काम है तथा गन्ध-रस-स्पर्श का नाम भोग है। श्रोत्र और चक्षु ये दो इन्द्रियाँ क्रमशः शब्द और रूप का ज्ञान करती है अतः कामी है तथा घ्राण, रसना और त्वचा गन्ध-रस-स्पर्श से सम्बन्ध करती है इसलिए भोगी कहलाती हैं।

6.7 इन्द्रिय चतुष्टय

1. जिस प्राणी के चक्षु का आकार नहीं होता, वह रूप को नहीं जान सकता।
2. आंख का आकार ठीक होते हुए भी कई मनुष्य रूप को नहीं देख पाते।
3. तत्काल मृत व्यक्ति आंख की रचना और शक्ति दोनों के होते हुए भी रूप को नहीं जान पाता।
4. अन्यमनस्क व्यक्ति सामने आये हुए रूप को भी नहीं देखता। इन्द्रियों के बारे में ये चार समस्याएं हैं,इनको सुलझाने के लिए प्रत्येक इन्द्रिय के चतुष्टय पर विचार करना आवश्यक होता है, वह है—

(1) **निर्वृत्ति** (द्रव्य इन्द्रिय) पौद्‌गलिक इन्द्रिय, इन्द्रिय की रचना—शारीरिक संस्थान।

(2) **उपकरण** शरीराधिष्ठान—इन्द्रिय, विषय का ज्ञान कराने में सहायक सूक्ष्मतम पौद्‌गलिक अवयव।

(3) **लब्धि** भाव-इन्द्रिय, इन्द्रिय-चेतना, ज्ञान-शक्ति।

(4) **उपयोग**—आत्माधिष्ठान-इन्द्रिय, ज्ञान-शक्ति का व्यापार।

प्रत्येक इन्द्रिय-ज्ञान के लिए ये चार बातें अपेक्षित होती हैं—

1. इन्द्रिय की रचना　　2. इन्द्रिय की ग्राहक-शक्ति
3. इन्द्रिय की ज्ञान-शक्ति　　4. इन्द्रिय की ज्ञान-शक्ति का प्रयोग।

चक्षु का आकार हुए बिना रूप दर्शन नहीं होता। इसका अर्थ है—उस प्राणी के चक्षु की 'निर्वृत्ति इन्द्रिय' नहीं है।

चक्षु का आकार ठीक होते हुए भी रूप का दर्शन नहीं होता। इसका अर्थ है—उस मनुष्य की 'उपकरण-इन्द्रिय' विकृत है।

आकार और ग्राहक शक्ति दोनों के होते हुए भी तत्काल मृत व्यक्ति को रूप दर्शन नहीं होता। इसका अर्थ है—उसमें अब ज्ञान-शक्ति नहीं रही।

अन्यमनस्क व्यक्ति को आकार विषयक-ग्राहक-शक्ति और ज्ञान-शक्ति के होने पर भी रूप दर्शन नहीं होता। इसका अर्थ है वह रूप-दर्शन के प्रति प्रयत्न नहीं कर रहा है।

6.8 इन्द्रिय प्राप्ति का क्रम

इन्द्रिय विकास सब प्राणियों में समान नहीं होता। इन्द्रिय-विकास के पांच स्तर मिलते हैं—

1. एकेन्द्रिय प्राणी, 2. द्वीन्द्रिय प्राणी, 3. त्रीन्द्रिय प्राणी, 4. चतुरिन्द्रिय प्राणी, 5. पंचेन्द्रिय प्राणी।

जिस प्राणी के शरीर में जितनी इन्द्रियों का अधिष्ठान—आकार-रचना होती है, वह प्राणी उतनी इन्द्रिय वाला कहलाता है। प्रश्न यह होता है कि प्राणियों में आकार-रचना का वैषम्य क्यों? इसका समाधान है कि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जिस प्राणी में जितनी ज्ञानात्मक-शक्तियाँ यानी लब्धि इन्द्रियां विकसित होती है, उस प्राणी के शरीर में उतनी ही इन्द्रियों की आकृतियां बनती हैं। इससे यह स्पष्ट है कि इन्द्रिय के अधिष्ठान, शक्ति और प्रयोग का मूल लब्धि-इन्द्रिय है। उसके होने पर निर्वृत्ति, उपकरण और उपयोग होते हैं।

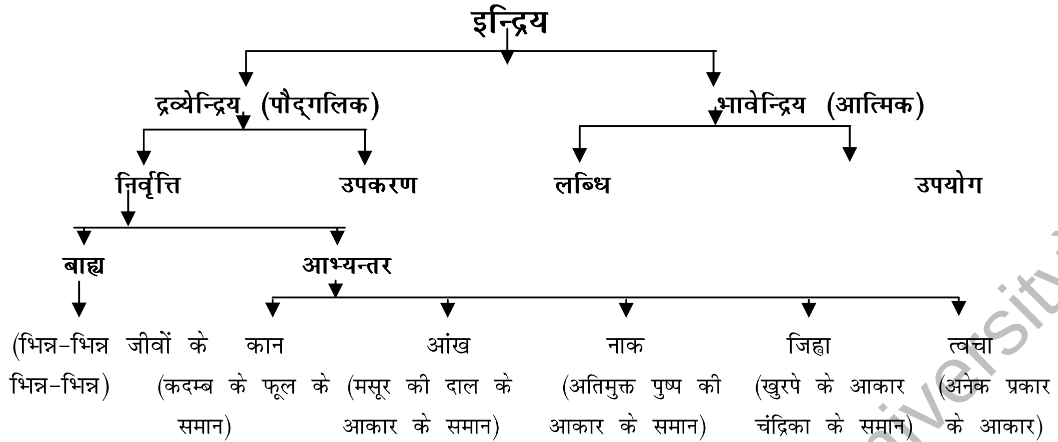

मन

पांच इन्द्रियों के अतिरिक्त एक और भी इन्द्रिय है जिसे मन कहते हैं। मन ज्ञान का साधन है पर स्पर्शन आदि की तरह बाह्य साधन न होकर आंतरिक साधन है। अतः उसे अंतःकरण भी कहते हैं। मन का विषय बाह्य इन्द्रियों की तरह परिमित नहीं है। बाह्य इन्द्रियाँ केवल मूर्त्त पदार्थों को ग्रहण करती हैं और वह भी अंश रूप से। परन्तु मन मूर्त्त-अमूर्त्त सभी पदार्थों को ग्रहण करता है और वह भी अनेक रूप से। मन का कार्य विचार, स्मृति और कल्पना करना है।

मनन करना मन है अथवा जिसके द्वारा मनन किया जाता है वह मन है। मन भी इन्द्रिय की भांति पौद्गलिक शक्ति-सापेक्ष होता है इसलिए इसके दो भेद बनते हैं—द्रव्य-मन और भाव-मन।

मनन के आलंबनभूत या उपयोगी पुद्गल द्रव्य (मनोवर्गणा के पुद्गल द्रव्य) जब मन रूप में परिणत होते हैं तब वे द्रव्य मन कहलाते हैं। यह मन अजीव है—आत्मा से भिन्न है।

जीव की विचारात्मक शक्ति का नाम भाव मन है। यह भिन्न नहीं है, इसलिए इसे आत्मिक-मन कहते हैं। इसके दो भेद हैं—लब्धि और उपयोग।
पहला मानस-ज्ञान का विकास है और दूसरा उसका प्रयोग। मन को नोइन्द्रिय, अनिन्द्रिय और दीर्घकालिक संज्ञा कहा जाता है।

इन्द्रिय के द्वारा गृहीत विषयों को वह जानता है, इसलिए वह नोइन्द्रिय-ईषत् इन्द्रिय या इन्द्रिय जैसा कहलाता है। इन्द्रिय की भांति वह बाहरी साधन नहीं है (आंतरिक साधन है) और उसका कोई नियत आकार नहीं है, इसलिए वह अनीन्द्रिय है। मन अतीत की स्मृति, वर्तमान का ज्ञान या चिंतन और भविष्य की कल्पना करता है, इसलिए वह 'दीर्घकालिक संज्ञा' है। जैन आगमों में मन की अपेक्षा 'संज्ञा' शब्द का व्यवहार अधिक हुआ है। समनस्क प्राणी को 'संज्ञी' कहते हैं। उसके लक्षण इस प्रकार हैं—

1. ईहा—वास्तविक पदार्थ का पर्यालोचन
2. अपोह—निश्चय
3. मार्गणा—विद्यमान धर्म का अन्वेषण
4. गवेषणा—अनुपस्थित धर्म का स्वरूपालोचन
5. चिंता—यह कैसे हुआ? यह कैसे करना चाहिए? यह कैसे होगा?—इस प्रकार का पर्यालोचन
6. विमर्श—यह इसी प्रकार हो सकता है, इसी प्रकार है, या इसी प्रकार होगा—ऐसा निर्णय।

6.9 मन का लक्षण

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रमाण मीमांसा में लिखा है 'सर्वार्थग्रहणं मनः' अर्थात् सब अर्थों को जानने वाला ज्ञान 'मन' है। इस विश्व में दो प्रकार के पदार्थ हैं—मूर्त्त और अमूर्त्त। इन्द्रियां सिर्फ मूर्त्त द्रव्य की वर्तमान पर्याय को ही जानती है। मन मूर्त्त और और अमूर्त्त दोनों के त्रैकालिक अनेक रूपों को जानता है, इसलिए मन को सर्वार्थग्राही कहा गया है।

6.10 मन का कार्य

मन का कार्य है चिंतन, स्मृति और कल्पना करना। वह इन्द्रिय के द्वारा गृहीत वस्तुओं के बारे में भी सोचता है और उससे आगे भी। मन इन्द्रिय-ज्ञान का प्रवर्तक है। मन को सब जगह इन्द्रिय की सहायता की अपेक्षा नहीं होती। जब इन्द्रिय द्वारा ज्ञात रूप, रस आदि का विशेष पर्यालोचन करता है, तब ही वह इन्द्रिय-सापेक्ष होता है। इन्द्रिय की गति सिर्फ पदार्थ तक है। मन की गति पदार्थ और इन्द्रिय दोनों तक है। ईहा, अवाय, धारणा, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान, आगम आदि-आदि मानसिक चिंतन के विविध पहलू हैं।

6.11 मन का अस्तित्व

न्यायसूत्रकार कहते हैं—इन्द्रियों से 'एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न नहीं होते' अतः इन्द्रिय से परे मन की सत्ता है जो अनेक प्रकार के ज्ञानों को उत्पन्न करती है। वात्स्यायन भाष्यकार कहते हैं—'स्मृति आदि ज्ञान बाह्य इन्द्रियों से उत्पन्न नहीं होता और विभिन्न इन्द्रियों तथा उनके विषयों के रहते हुए भी एक साथ सबका ज्ञान नहीं होता, इससे मन का अस्तित्व अपने आप प्रमाणित होता है।'

अन्नमभट्ट ने सुखादि की अनुभूति को मन का लिंग (चिन्ह) माना है। जैन-दृष्टि के अनुसार संशय, प्रतिभा, स्वप्न-ज्ञान, वितर्क, सुख-दुःख, क्षमा, इच्छा आदि-आदि मन के लिंग हैं।

6.12 सारांश

मन का विषय अन्यान्य विषयों के अलावा 'श्रुत' भी है। श्रुत का अर्थ है—शब्द, संकेत आदिके माध्यम से होने वाला ज्ञान। कान से 'देवदत्त' शब्द सुना। आंख से पढ़ा। फिर भी कान और आंख को शब्द मात्र का ज्ञान होगा, किन्तु 'देवदत्त' शब्द का अर्थ क्या है—यह ज्ञान उन्हें नहीं होगा। यह मन को होगा। अंगुली हिलती है, यह चक्षु का विषय है किन्तु वह किस वस्तु का संकेत करती है, यह चक्षु नहीं जान पाता। उसके संकेत को समझना मन का काम है। मन मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों का साधन है। यह जैसे श्रुत शब्द के माध्यम से पदार्थ को जानता है, वैसे ही शब्द का सहारा लिये बिना शब्द आदि की कल्पना से रहित शुद्ध अर्थ को भी जानता है, फिर भी अर्थाश्रयी-ज्ञान (शुद्ध अर्थ का ज्ञान) इन्द्रिय और मन दोनों को होता है, शब्दाश्रयी (शब्द का अनुसारी ज्ञान) केवल मन को ही होता है, इसलिए स्वतंत्र रूप में मन का विषय 'श्रुत' ही है।

6.13 अभ्यास प्रश्नावली

1. निबन्धात्मक प्रश्न

1. इन्द्रियों को परिभाषित करते हुए उसके भेद-प्रभेदों को समझाएं।

2. लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. इन्द्रिय और मन का अन्तर स्पष्ट करें।
2. मन क्या है? उसके विषय और स्थान का विवेचन करें।

3. वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निम्नलिखित रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए और प्रश्नों के उत्तर लिखिए—

1. निर्जीव पदार्थ में .... का अभाव है।
2. इन्द्रिय के 2 भेद हैं ....।
3. रसनेन्द्रिय का आकार .... जैसा होता है।
4. चक्षुरिन्द्रिय की .... सबसे अधिक है।
5. इन्द्रिय विकास के .... विकल्प मिलते हैं।
6. कामी इन्द्रियां कौनसी हैं? 7. मन का कार्य क्या है?
8. समनस्क प्राणी को क्या कहते हैं? 9. मन कहां व्याप्त है?
10. मनोजीववाद की मान्यता किसकी है?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संवर्ग–3 : अवधि, मन:पर्याय एवं केवलज्ञान

इकाई–7 : अवधिज्ञान

संरचना

7.0 प्रस्तावना
7.1 उद्देश्य
7.2 अवधिज्ञान
7.3 अवधिज्ञान का विषय
7.4 अवधिज्ञान के भेद
7.5 अवधि उत्पत्ति क्षेत्र
7.6 सारांश
7.7 अभ्यास प्रश्नावली

7.0 प्रस्तावना

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द एवं अनन्त शक्ति सम्पन्न है। प्रत्येक आत्मा में अनन्त चतुष्टय विद्यमान है। आत्मा अपनी अनन्त ज्ञान शक्ति के द्वारा सार्वकालिक सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थ को सर्वांगीण रूप में जानने में समर्थ है। बंधनावस्था में आत्मा का यह स्वरूप ज्ञानआवारक ज्ञानावरणीयकर्म से आवृत रहता है अत: आत्मा का वह स्वरूप प्रकट नहीं हो पाता है। अत: ऐसी दशा में आत्मा का जितना-जितना आवरण दूर हटता है, उतना ही वह ज्ञेय जगत् को जान पाती है। ज्ञान शक्ति का उतना ही आविर्भाव होता है जितना आवारक कर्म अलग होता है। मति एवं श्रुत ज्ञान की अवस्था में आत्मा पदार्थ से सीधा साक्षात्कार नहीं कर सकती। पदार्थ ज्ञान में उसे आत्मा से भिन्न इन्द्रिय, मन, आलोक आदि की अपेक्षा रहती है अत: उन ज्ञानों को परोक्ष कहा गया है। किन्तु जब आवरण विरल अथवा सम्पूर्ण रूप से हट जाता है तब आत्मा को ज्ञेय साक्षात्कार में बाह्य साधनों की अपेक्षा नहीं रहती है, अत: उस ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा जाता है। प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन भेद हैं—अवधि, मन:पर्यव एवं केवल। इन तीन को नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष भी कहा गया है। प्रस्तुत प्रसंग में नो का अर्थ है—इन्द्रिय का अभाव अर्थात् ये तीनों ज्ञान इन्द्रिय जन्य नहीं हैं। ये ज्ञान केवल आत्मा सापेक्ष हैं। आत्मा एवं पदार्थ के मध्य किसी तीसरे माध्यम की आवश्यकता नहीं रहती। इन्द्रिय प्रत्यक्ष को जब संव्यवहार प्रत्यक्ष कहा जाने लगा तब नोइन्द्रिय को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा जाने लगा।

नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय ज्ञान है। इस कोटि का ज्ञान इन्द्रियों की सहायता के बिना सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थों का साक्षात्कार कर सकता है। पदार्थ मूर्त्त और अमूर्त्त दो प्रकार के होते हैं। अवधि और मन:पर्यव ये ज्ञान केवल मूर्त्त पदार्थों का साक्षात्कार कर सकते हैं। केवलज्ञान का विषय मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों प्रकार के विषय हैं। अवधिज्ञान और मन:पर्यवज्ञान क्षायोपशमिक होते हैं इसलिए ये अपूर्ण अतीन्द्रिय ज्ञान की कोटि के हैं। केवलज्ञान क्षायिक है, ज्ञानावरण के सर्वथा क्षीण होने से उत्पन्न होता है इसलिए वह परिपूर्ण अतीन्द्रिय ज्ञान है।

7.1 उद्देश्य–इसके अध्ययन से अवधिज्ञान की जानकारी हो सकेगी।

7.2 अवधिज्ञान की परिभाषा

पारमार्थिक प्रत्यक्ष में अवधि का पहला स्थान है। जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा अवधि अर्थात् सीमा से युक्त अपने विषयभूत पदार्थ को जानता है उसे अवधि कहा गया है। आगम में अवधि का नाम सीमा ज्ञान भी है। अधिक अधोगामी विषय को जानने से अथवा परिमित विषय वाला होने से भी यह अवधि कहलाता है। विशेषावश्यक भाष्य में अवधि की विभिन्न प्रकार से व्युत्पत्ति उपलब्ध है। जिस ज्ञान के द्वारा अधोगामी रूपी वस्तुओं का विस्तार से ज्ञान होता है, वह अवधि है। अवधि का एक अर्थ है—मर्यादा। जो मर्यादित क्षेत्र, द्रव्य, काल आदि में रूपी द्रव्यों को जानता है, वह अवधि है। अवधान को भी अवधि कहा गया है अर्थात् साक्षात् पदार्थ का परिच्छेद। जीव अवधिज्ञान से द्रव्य को साक्षात् जानता है। अवधि का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विषय केवल रूपी पदार्थ है। अवधिज्ञान धर्म आदि 6 द्रव्यों में केवल एक पुद्गल द्रव्य को ही जान सकता है।

संक्षेप में अवधिज्ञान के विकास की अनेक कोटियां अथवा मर्यादाएं है। इसलिए इसकी संज्ञा अवधिज्ञान है। इसका सम्बन्ध अवधान अथवा प्रणिधान से है। इसलिए इसकी संज्ञा अन्वर्थक है।

7.3 अवधिज्ञान का विषय

अवधिज्ञान सावधिक ज्ञान है। केवलज्ञान के समान अनन्त, असीम नहीं है। आत्मा आकाश, काल आदि अमूर्त्त पदार्थ उसकी ज्ञेय सीमा से बाहर हैं। विशिष्ट अवधिज्ञान-सर्वाधिक समस्त पुद्गल द्रव्य को जानता है अर्थात् परमाणु मात्र को भी जानता है।

अवधिज्ञान का विषय संक्षेप में द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव के आधार पर चार प्रकार से प्रतिपादित किया जाता है—

1. द्रव्य की अपेक्षा— न्यूनतम अनन्त रूपी द्रव्यों को जानता देखता है। अधिकतम समस्त रूपी द्रव्यों को जानता देखता है।

2. क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य—अंगुल का असंख्यातवां भाग। उत्कृष्ट-असंख्य क्षेत्र तथा शक्ति की कल्पना करे तो लोकाकाश जैसे—असंख्य खण्ड इसके विषय बन सकते हैं।

3. काल की अपेक्षा—जघन्य-आवलिका का असंख्यातवां भाग। उत्कृष्ट-असंख्यकाल (असंख्य अवसर्पिणाी, उत्सर्पिणी)

4. भाव की अपेक्षा—जघन्य-अनन्त पर्याय। उत्कृष्ट-अनन्त पर्याय अवधिज्ञान का विषय है। विशेषावश्यकभाष्य में अवधि ज्ञान के क्षेत्र, काल आदि के बारे में विस्तार से वर्णन हुआ है।

7.4 अवधिज्ञान के भेद

अवधिज्ञान के भेदों के प्रसंग में भाष्य में अवधि के संख्यातीत भेद बताये गये हैं। क्षेत्र एवं काल की अपेक्षा से अवधि के असंख्य भेद हैं तथा द्रव्य एवं भाव की अपेक्षा से अनन्त भेद हैं। नंदी सूत्र में अवधिज्ञान के मुख्य दो भेद बताये गये हैं—भवप्रत्यय एवं क्षायोपशमिक। जिस अवधिज्ञान में भव अर्थात् जन्म निमित्त होता है, वह भवप्रत्यय अवधिज्ञान है, वह देव और नारकीय जीवों को प्राप्त होता है। अवधि ज्ञानावरणीय के सर्वघाती स्पर्धक जो उदय में आये हुए हैं उनका विलय (क्षय) एवं अनुदीर्ण का उपशम ऐसे क्षयोपशम निमित्त से होने वाला क्षायोपशमिक अवधिज्ञान है। वह मनुष्य एवं पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च के होता है। वह क्षायोपशमिक अवधिज्ञान गुण (व्रत, तप आदि) एवं सहज उत्पन्न आन्तरिक विशुद्धि से होता है। जैसे अभ्राच्छादित गगन में यथाप्रवर्तित छिद्र से सूर्य की किरणें निकलकर पदार्थों को उद्योतित करती हैं, वैसे ही विशुद्धि से अवधिज्ञान सहज ही उत्पन्न हो जाता है। उसके लिए किसी व्रत, नियम आदि द्वारा प्रयत्न करने की अपेक्षा नहीं होती है। इस अवधिज्ञान का उल्लेख जो चूर्णि में उपलब्ध है, वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। वर्तमान में जो घटनाएं प्राप्त होती हैं कि अमुक व्यक्ति गिरा और भूत भविष्य को जानने लगा। अमुक द्रव्य क्रिस्टलबॉल को सामने लेकर अनेकों व्यक्ति भविष्यवाणियां करते हैं। संभव है वह इसी प्रकार के किसी अवधिज्ञान का भेद हो।

नंदी सूत्र में उल्लेख प्राप्त होता है कि उदय प्राप्त अवधिज्ञानावरणीय कर्मों के क्षय तथा जितना उदय नहीं हुआ किन्तु होने वाला है वैसे अवधिज्ञानावरणीय कर्म के उपशम से क्षायोपशमिक अवधिज्ञान उत्पन्न होता है। वह अवधिज्ञान संक्षेप में छः प्रकार का प्रज्ञप्त है—1. आनुगामिक, 2. अनानुगामिक, 3. वर्द्धमान, 4. हीयमान, 5. प्रतिपाति एवं 6. अप्रतिपाति।

1. आनुगामिक

आनुगामिक का शाब्दिक अर्थ है—अनुगमनशील। यह अवधिज्ञान जिस क्षेत्र में उत्पन्न होता है उस क्षेत्र के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में भी विद्यमान रहता है। तत्त्वार्थभाष्य में इसे सूर्य के प्रकाश और घट की पाकजनित रक्तता से समझाया गया है। इस अवधिज्ञान में आत्मप्रदेशों की विशिष्ट विशुद्धि होती है। चूर्णिकार ने इसे नेत्र के दृष्टान्त से समझाया है। जैसे नेत्र मनुष्य के हर क्षेत्र में साथ रहता है वैसे ही आनुगामिक अवधिज्ञान हर क्षेत्र में साथ रहता है। वीरसेन ने धवला में आनुगामिक अवधिज्ञान के तीन प्रकार किए है—
1. क्षेत्रानुगामी—एक क्षेत्र में उत्पन्न होकर अन्य क्षेत्र में विनष्ट नहीं होता।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2. भवानुगामी—जो अवधिज्ञान वर्तमान भव में उत्पन्न होकर अन्य भव में जीव के साथ जाता है।
3. क्षेत्रभवानुगामी—यह संयोगजनित विकल्प है।

2. अनानुगामिक

स्थान विशेष में रखा हुआ दीप अपने परिपार्श्व में प्रकाश करता है, अन्य क्षेत्र में उसका प्रकाश नहीं होता। वैसे ही अनानुगामिक अवधिज्ञान क्षेत्र प्रतिबद्ध होता है। वह जिस क्षेत्र में उत्पन्न होता है उसी में कार्यकारी होता है। उत्पत्ति क्षेत्र से भिन्न क्षेत्र में वह कार्यकारी नहीं रहता। चूर्णिकार ने बतलाया है कि अनानुगामिक अवधिज्ञान की उत्पत्ति क्षेत्र सापेक्ष क्षयोपशम से होती है।

तत्त्वार्थभाष्य में उमास्वाति ने प्रश्नादेशिक पुरुष के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है। जैसे नैमित्तिक अथवा प्रश्नादेशिक पुरुष अपने नियत स्थान में प्रश्न का सम्यक् उत्तर दे सकता है वैसे ही क्षेत्र प्रतिबद्ध अवधिज्ञान अपने क्षेत्र में ही साक्षात् जान सकता है। अकलंक ने इसी का अनुसरण किया है।

षट्खण्डागम में अनानुगामिक अवधिज्ञान के तीन भेद बतलाए गए हैं—

1. क्षेत्र अननुगामी—जो दूसरे क्षेत्र में नहीं जाता, दूसरे जन्म में ही जाता है।
2. भव अननुगामी—जो भवान्तर में नहीं जाता, क्षेत्रान्तर में ही जाता है।
3. क्षेत्रभव अननुगामी—जो क्षेत्रान्तर और भवान्तर दोनों में ही नहीं जाता, उसी क्षेत्र और उसी भव से प्रतिबद्ध होता है।

3. वर्धमान

जो अवधिज्ञान प्राप्ति के अनन्तर बढ़ता रहता है वह वर्धमान कहलाता है। वर्धमान अवधिज्ञान के दो हेतु बतलाए गए हैं—प्रशस्त अध्यवसाय (विशुद्ध आध्यात्मिक भाव) में प्रवर्त्तन, 2. चारित्र अर्थात् आचरण की निर्मलता की विशुद्धि।

धवला के अनुसार वर्धमान अवधिज्ञान बढ़ता हुआ केवलज्ञान की उत्पत्ति के पूर्व क्षण तक चला जाता है। इसका देशावधि, परमावधि और सर्वावधि इन तीनों में अन्तर्भाव किया गया है। देशावधि आंशिक ज्ञान है जबकि सर्वावधि सम्पूर्ण ज्ञान। परमावधि दोनों के मध्य की स्थिति है।

4. हीयमान

जो अप्रशस्त अध्यवसायों में वर्तमान और अप्रशस्त चारित्र में वर्तमान है, जो संक्लिश्यमान अध्यवसाय और संक्लिश्यमान चारित्र वाला है, उसका अवधिज्ञान सब ओर से घटता है। वह हीयमान अवधिज्ञान है।

धवला में कहा गया है कि अवधिज्ञान उत्पन्न होकर कृष्ण पक्ष के चन्द्रमण्डल के समान विनष्ट होने तक घटता ही जाता है वह हीयमान अवधिज्ञान है। इसका अन्तर्भाव देशावधि में होता है। परमावधि और सर्वावधि में हानि नहीं होती इसलिए हीयमान का अन्तर्भाव उसमें नहीं होता।

5. प्रतिपाति

जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर निर्मूल नष्ट हो जाता है। अप्रशस्त अध्यवसाय और संक्लेश ही प्रतिपाति के कारण बनते हैं। प्रतिपाति अवधिज्ञान देशावधि है।

6. अप्रतिपाति

जो अवधिज्ञान अलोकाकाश के एक आकाश प्रदेश को अथवा उससे आगे देखने की क्षमता रखता है, वह अप्रतिपाति अवधिज्ञान है। अप्रतिपाति अवधिज्ञान केवलज्ञान उत्पन्न होने पर ही विनष्ट होता है। परमावधि और सर्वावधि दोनों अप्रतिपाति हैं। षट्खण्डागम में अवधिज्ञान के तेरह प्रकार बतलाए गए है—1. देशावधि, 2. परमावधि, 3. सर्वावधि, 4. हीयमान, 5. वर्धमान, 6. अवस्थित, 7. अनवस्थित, 8. अनुगामी, 9. अननुगामी, 10. सप्रतिपाति, 11. अप्रतिपाति, 12. एकक्षेत्र, 13. अनेक क्षेत्र।

ठाणं में देशावधि का, प्रज्ञापना में देशावधि व सर्वावधि दोनों का तथा विशेषावश्यक भाष्य में परमावधि का उल्लेख मिलता है। एक क्षेत्र; अनेक क्षेत्र का समावेश अंतगत और मध्यगत में हो जाता है। विशेषावश्यक भाष्य में अवस्थित का उल्लेख मिलता है। तत्त्वार्थ भाष्य में प्रतिपाति और अप्रतिपाति के स्थान पर अवस्थित और अनवस्थित का प्रयोग किया गया है। प्रज्ञापना में प्रतिपाति, अप्रतिपाति, अवस्थित और अनवस्थित इन चारों का उल्लेख है। प्रतीत होता है कि अवधिज्ञान के विभिन्न वर्गीकरण सापेक्ष दृष्टि से किए गए हैं—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

तत्त्वार्थवार्त्तिक में प्रकारान्तर से अवधिज्ञान के तीन भेद किए गए हैं—1. देशावधि, 2. परमावधि, 3. सर्वावधि।

1. वर्धमान, 2. हीयमान, 3. अवस्थित, 4. अनवस्थित, 5. अनुगामी, 6. अननुगामी, 7. प्रतिपाति 8. अप्रतिपाति—इनका देशावधि में समवतार किया गया है। हीयमान और प्रतिपाति इन दो को छोड़कर शेष छः का परमावधि में समवतार किया गया है। अवस्थित, अनुगामी, अननुगामी और अप्रतिपाति—इनका सर्वावधि में समवतार किया गया है। अकलंक ने देशावधि और परमावधि के तीन-तीन भेद किए हैं—

देशावधि	परमावधि	सर्वावधि
1. जघन्य—उत्सेधांगुल के असंख्येय भाग मात्र क्षेत्र को जानने वाला।	1. जघन्य—एक प्रदेश अधिक लोक प्रमाण विषय को जानने वाला।	उत्कृष्ट परमावधि के क्षेत्र से बाहर असंख्यात लोक प्रमाण क्षेत्रों को जानने वाला। इसके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट कोई विकल्प नहीं होते।
2. उत्कृष्ट—संपूर्णलोक को जानने वाला।	2. उत्कृष्ट—असंख्यात लोकों को जानने वाला।	
3. अजघन्यन्योत्कृष्ट (मध्यम)—जघन्य और उत्कृष्ट का मध्यवर्ती। इसके असंख्येय विकल्प होते हैं।	3. अजघन्योत्कृष्ट (मध्यम)—जघन्य और उत्कृष्ट के मध्यवर्ती क्षेत्र को जानने वाला।	

अकलंक के अनुसार परमावधि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से सर्वावधि से न्यून है इसलिए परमावधि भी वास्तव में देशावधि ही है। फलितार्थ यह है कि अवधिज्ञान के मुख्य दो ही भेद हैं—सर्वावधि और देशावधि।

अंतगत

नंदी सूत्र में आनुगामिक अवधिज्ञान के दो भेद किये गये हैं। अंतगत और मध्यगत। वहां पर अंतगत अवधि पुनः तीन प्रकार का निर्दिष्ट है—पुरतः, मार्गतः एवं पार्श्वतः।

अवधि के ये भेद ज्ञाता शरीर के जिस प्रदेश से ज्ञान के द्वारा देखता है, उसके आधार पर किये गये हैं। एक दिशा से जो ज्ञान करता है, उसको अंतगत अवधिज्ञान कहा जाता है। अथवा सर्व आत्म प्रदेशों में आवरण विलय से विशुद्धि होने पर भी जो औदारिक शरीर के किसी एक भाग से जानता है, वह अंतगत अवधिज्ञान है। अन्त शब्द पर्यंत का वाची है "आत्मप्रदेशानां पर्यन्ते स्थितमन्तगतम्।

1. पुरतः अन्तगत—जो अवधिज्ञान औदारिक शरीर के आगे के भाग से प्रकाश करता है।
2. मार्गतः अन्तगत—जो ज्ञान पीछे के प्रदेश को प्रकाशित करता है, वह मार्गतः अंतगत आनुगमिक अवधिज्ञान है।
3. पार्श्वतः जो अवधिज्ञान एक पार्श्व अथवा दोनों पार्श्व के पदार्थों को प्रकाशित करता है। वह पार्श्वतः अवधिज्ञान है।

मध्यगत

जिस ज्ञान के द्वारा ज्ञाता चारों ओर के पदार्थों का ज्ञान करता है, वह मध्यगत अवधिज्ञान है। जो सर्व प्रदेशों की विशुद्धि से सारी दिशाओं से ज्ञान करता है, वह मध्यगत है। औदारिक शरीर के मध्यवर्ती आत्मप्रदेशों की विशुद्धि, सब आत्म प्रदेशों की विशुद्धि अथवा सब दिशाओं का ज्ञान होने के कारण यह अवधिज्ञान मध्यगत कहलाता है।

आत्मा शरीर के भीतर है और इन्द्रिय चेतना भी उसके भीतर है। इन्द्रिय चेतना की रश्मियां अपने-अपने नियत प्रदेशों के माध्यम से बाहर आती हैं। अवधिज्ञान के लिए कोई एक नियत प्रदेश या चैतन्य केन्द्र नहीं है। उसकी रश्मियों के बाहर आने के लिए शरीर के विभिन्न प्रदेश चैतन्यकेन्द्र ही हैं। अंतगत अवधिज्ञान की रश्मियां शरीर के पर्यंतवर्ती (अग्र, पृष्ठ और पार्श्ववर्ती) चैतन्यकेन्द्रों के माध्यम से बाहर आती हैं। मध्यगत अवधिज्ञान की रश्मियां शरीर के मध्यवर्ती चैतन्य केन्द्रों-मस्तक आदि से बाहर निकलती हैं।

सूत्रकार ने अन्तगत और मध्यगत अवधिज्ञान का भेद स्वयं स्पष्ट किया है। उनके अनुसार एक दिशा में जानने वाला अवधिज्ञान अन्तगत अवधिज्ञान है और सब दिशाओं में जानने वाला अवधिज्ञान मध्यगत

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अवधिज्ञान है। नंदी में प्राप्त ये ज्ञान के भेद दिखाई नहीं देते। इन भेदों का अध्यात्म की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। प्रेक्षाध्यान में चैतन्यकेन्द्र की अवधारणा इन भेदों के आधार पर हुयी है। ज्ञान बाह्य जगत् में शरीर के माध्यम से प्रकट होता है, वह शरीर को करण (साधन) बनाता है। इस विवेचन से यह स्पष्ट है। अवधिज्ञान के इन भेदों का दिगम्बर साहित्य में उल्लिखित अवधिज्ञान उत्पत्ति के चिह्नों के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है।

षट्खण्डागम के एकक्षेत्र और अनेकक्षेत्र अवधिज्ञान की तुलना अंतगत और मध्यगत के साथ की जा सकती है। जो अवधिज्ञान शरीर के एक भाग में प्रकट होता है वह एकक्षेत्र अवधिज्ञान है। जो अवधिज्ञान शरीर के सब अवयवों में प्रकट होता है वह अनेकक्षेत्र अवधिज्ञान है। चूर्णिकार तथा वृत्तिकारों ने अन्तगत और मध्यगत के बीच भेदरेखा खींचने के लिए दो आधार प्रस्तुत किए हैं—

टंतगत	**मध्यगत**
1. औदारिक शरीर के पर्यतवर्ती आत्मप्रदेशों की विशुद्धि।	1. औदारिक शरीर के मध्यवर्ती आत्मप्रदेशों की विशुद्धि।
2. सब आत्मप्रदेशों की विशुद्धि होने पर भी एक भाग से होने वाला तथा एक दिशा को प्रकाशित करने वाला।	2. सब आत्मप्रदेशों की विशुद्धि होने पर सब दिशाओं को प्रकाशित करने वाला।

दिगम्बर साहित्य में अवधिज्ञान के उत्पत्ति स्थानों का नामोल्लेख मिलता है।

अवधिज्ञान की उत्पत्ति आत्मा के उन्हीं प्रदेशों से होती है, जो कि शंख आदि शुभचिह्न वाले अंगों में वर्तमान होते हैं तथा मन:पर्याय ज्ञान की उत्पत्ति आत्मा के उन प्रदेशों से होती है जिनका सम्बन्ध द्रव्य मन के साथ है अर्थात् द्रव्य मन का स्थान हृदय ही है, इसलिए हृदय-भाग में स्थित आत्मा के प्रदेशों में ही मन:पर्यव ज्ञान का क्षयोपशम है; परन्तु शंख आदि शुभ चिह्नों का सम्भव सभी अंगों में हो सकता है, इस कारण अवधिज्ञान के क्षयोपशम की योग्यता किसी खास अंग में वर्तमान आत्मप्रदेशों में ही नहीं मानी जा सकती। अपितु संपूर्ण शरीर में ही है।

"सव्वंग अंगसंभवविण्हादुप्पज्जदे जहा ओही।
मणपज्जवं च दव्वमणादो उपज्जदे णियमा।।"

अन्तगत और मध्यगत ये दोनों चैतन्य केन्द्रों के गमक हैं। इनमें शंख आदि नामों का उल्लेख नहीं है। भगवती (8/103) में विभंगज्ञान के संस्थानों (आकार विशेष) का उल्लेख किया गया है। उसमें अनेक संस्थानों के नाम उपलब्ध हैं, जैसे—वृषभ का संस्थान, पशु का संस्थान, पक्षी का संस्थान आदि। धवला में विभंगज्ञान के क्षेत्र संस्थानों का उल्लेख मिलता है—

"ये संस्थान तिर्यंञ्च और मनुष्यों के नाभि के उपरिम भाग में होते हैं, नीचे के भाग में नहीं होते; क्योंकि शुभ संस्थानों का अधोभाग के साथ विरोध है तथा तिर्यंञ्च और मनुष्य विभंगज्ञानियों के नाभि से नीचे गिरगिट आदि अशुभ संस्थान होते हैं। विभंगज्ञानियों के सम्यक्त्व आदि के फलस्वरूप अवधिज्ञान के उत्पन्न होने पर गिरगिट आदि अशुभ आकार मिटकर नाभि के ऊपर शंख आदि शुभ आकार हो जाते हैं। अवधिज्ञान से लौटकर प्राप्त हुए विभंगज्ञानियों के भी शुभ संस्थान मिटकर अशुभ संस्थान हो जाते हैं।"

प्रतीत होता है कि श्वेताम्बर आचार्यों के सामने विभंगज्ञान के संस्थान की व्याख्या स्पष्ट नहीं रही। दिगम्बर आचार्यों के सामने वह स्पष्ट थी। अवधिज्ञान और विभंगज्ञान दोनों के शरीरगत संस्थान होते हैं। यह मत निर्विवाद है। षट्खण्डागम और धवला में करण या चैतन्यकेन्द्र के बारे में विशद जानकारी मिलती है—

"खेत्तदो ताव अणेयसंठाणसंठिदा।
सिरिवच्छ-कलस-संख-सोत्थिय-णंदावत्तादीणि संठाणाणि णादव्वाणि भंवति।।"

इस उद्धरण से यह स्पष्ट होता है कि आत्म प्रदेशों के क्षायोपशमिक विकास के आधार पर चैतन्यमय शरीर प्रदेशों के अनेक संस्थान बनते हैं। षट्खण्डागम और धवला में उनका उल्लेख किया गया है। नंदीसूत्र में अन्तगत और मध्यगत के रूप में उनका स्पष्ट निर्देश है। भगवती में प्राप्त विभंगज्ञान के संस्थानों के उल्लेख से यह अनुमान करना सहज है कि अवधिज्ञान से संबद्ध चैतन्यकेन्द्रों का निर्देश भी आगम साहित्य में था किन्तु वह किसी कारणवश विलुप्त हो गया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

7.5 अवधि उत्पत्ति क्षेत्र

तीर्थंकर, नारकी एवं देवता को अवधिज्ञान सर्वांग से उत्पन्न होता है तथा मनुष्य एवं तिर्यंञ्चों के शरीरवर्ती शंख, कमल, स्वस्तिक आदि चिह्नित स्थानों से उत्पन्न होता है। एक जीव के एक ही स्थान में अवधिज्ञान प्रकट होता है, ऐसा कोई नियम नहीं है। किसी भी जीव के एक, दो, तीन आदि स्थानों शंख आदि शुभ संस्थान सम्भव हैं। ये शुभ संस्थान तिर्यञ्च एवं मनुष्य के नाभि से ऊपर के भाग में होते हैं तथा विभंग अज्ञानी तिर्यंञ्च एवं मनुष्य के नाभि के नीचे अधो भाग में गिरगिट आदि आकार वाले अशुभ संस्थान होते हैं। धवला में स्पष्ट कहा है इस विषय में शास्त्र का वचन नहीं हैं मात्र गुरू उपदेश से यह तथ्य प्राप्त है। अवधिज्ञान का यह विवेचन साधना के क्षेत्र में बहुत महत्त्वपूर्ण है किन्तु दार्शनिक चर्चा में अवधि के इस रूप की चर्चा उपलब्ध नहीं होती।

विशेषावश्यक भाष्य में आवश्यक निर्युक्ति की गाथा को उद्धृत करते हुये अवधिज्ञान का क्षेत्र, संस्थान, आनुगमिक, अवस्थित आदि चौदह दृष्टियों से तथा ऋद्धि को इसमें सम्मिलित करें तो पन्द्रह दृष्टियों से विस्तृत विवेचन हुआ है। भाष्य में निर्युक्ति गाथा के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव एवं भाव इन सात निक्षेपों से वर्णित अवधिज्ञान का विस्तार से प्राप्त है। यथा—

1. नाम अवधि

प्रकृत अवधिज्ञान का नामकरण अथवा अभिधान नाम अवधि है। अवधि नाम के द्वारा अवधिज्ञान का कथन किया जाता है।

2. स्थापना अवधि

आकार विशेष को स्थापना अवधि कहा गया है। अवधिज्ञान जिन पदार्थों को जानता है तथा जिस प्राणी में प्रकट होता है उस साधु आदि का जो आकार होता है वह आकार विशेष ही स्थापना अवधि है।

3. द्रव्य अवधि

कायोत्सर्ग आदि क्रिया में स्थित साधु के अवधिज्ञान उत्पन्न होता है तो वह साधु अथवा जिसको अपना विषय बनाता है वे पर्वत, पृथ्वी आदि पदार्थ अथवा उस अवधिज्ञान की उत्पत्ति में जो सहकारी रूप से उपकारक द्रव्य हैं। वे सब द्रव्य अवधि हैं। तप, संयम आदि अवधिज्ञान की उत्पत्ति में जो कारणभूत हैं उनको भी द्रव्य अवधि जानना चाहिए।

4. क्षेत्र अवधि

नगर, उद्यान आदि क्षेत्र में जहां अवधिज्ञान उत्पन्न होता है, वह क्षेत्र विशेष क्षेत्रावधि कहलाता है तथा अवधिज्ञानी जितने क्षेत्र में स्थित द्रव्यों को जानता है, वह क्षेत्र भी क्षेत्रावधि है।

5. काल अवधि

जिस कालखण्ड में अवधि उत्पन्न हुआ है, वह काल अवधि है।

6. भव अवधि

जिस नारक आदि भव (जन्म या जीवन) में अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है, वह नारक आदि भव, भव अवधि कहलाता है अथवा अपने या दूसरे व्यक्ति के अतीत, अनागत जितने भी भव देखता है वे भव अवधि हैं।

7. भाव अवधि

जिस क्षायोपशमिक भाव में अवधि उत्पन्न होता है, वह भाव अवधि है अथवा जिन औदयिक आदि पांचों भावों अथवा उनमें से किसी भाव को देखता है, वह भाव अवधि है।

8. संस्थान अवधि

विशेषावश्यक भाष्य में अवधिज्ञान के विभिन्न संस्थानों का उल्लेख है। जघन्य एवं उत्कृष्ट अवधि तो जितना देखता है, वही उसका संस्थान हैं। नारक जीवों का अवधिज्ञान तप्राकार, भवनपति देवों का पल्लक आकार का, व्यन्तर देवों का अवधिज्ञान पटहक आकार का, ज्योतिष देवों का झल्लरी आकार का सौधर्म आदि कल्पोपपन्न देवों का मृदंग के आकार का, ग्रैवेयक देवों का पुष्प एवं अनुत्तर देवों का अवधिज्ञान यव जैसे संस्थान का होता है तथा मनुष्य एवं तिर्यंञ्च के अवधि के नाना संस्थान हैं।

7.6 सारांश–अस्तु अवधिज्ञान सावधिक ज्ञान है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

7.7 प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. अवधिज्ञान को परिभाषित करते हुये उसके भेद-प्रभेदों का विस्तार करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. अवधिज्ञान की विषय मर्यादा क्या है?
2. भाव अवधि और संस्थान अवधि को समझाइये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. अवधिज्ञान है—
   (क) इन्द्रिय प्रत्यक्ष (ख) नो इन्द्रिय प्रत्यक्ष (ग) परोक्ष (घ) चौदहपूर्व का भेद
2. आत्मा का ज्ञान स्वरूप आवृत रहता हे—
   (क) ज्ञानावरणीय कर्म से (ख) अन्तराय कर्म से (ग) दर्शानावरणीय कर्म से (घ) मोहनीय कर्म से
3. अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के भेद है—(क) पांच (ख) दो (ग) तीन (घ) एक
4. अवधिज्ञान के संक्षेप में भेद होते हैं—(क) दो (ख) छह (ग) चार (घ) एक
5. नंदीसूत्र में अवधिज्ञान के दो मुख्य भेद बतलाये हैं—
   (क) अनुगगामी एवं वर्धमान (ख) प्रतिपाति एवं हीयमान
   (ग) भवप्रत्यय एवं क्षायोपशमिक (ग) मध्यगत एवं अन्तगत।
6. किसका अवधिज्ञान घटता रहता है—
   (क) जो अप्रशस्त अध्यवसाय और अप्रशस्त चारित्र वाला है।
   (ख) जो प्रशस्त अध्यवसाय और अप्रशस्त चारित्र वाला है।
   (ग) जो अप्रशस्त अध्यवसाय और प्रशस्त चारित्र वाला है।
   (घ) जो प्रशस्त अध्यवसाय और प्रशस्त चारित्र वाला है।
7. षट्खण्डागम में अवधिज्ञान के कितने प्रकार बतलाएं गये हैं—
   (क) तेरह (ख) सात (ग) नौ (घ) चार
8. तत्त्वार्थ में अवधिज्ञान के कौन-से भेद उपलब्ध होते हैं—
   (क) देशावधि, सर्वावधि (ख) देशावधि, सर्वावधि, परमावधि
   (ग) देशवधि (घ) देशवधि, परमावधि।
9. अंतगत और मध्यगत किसके भेद हैं—
   (क) हीयमान के (ख) वर्धमान के (ग) आनुगामिक के (घ) अप्रतिपाति के
10. अन्तगत अवधिज्ञान किसे कहते हैं—
   (क) एक दिशा में जानने वाला (ख) दो दिशाओं में जानने वाला
   (ग) सब दिशाओं में जानने वाला (घ) केवल आगे से जानने वाला।

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–8 : मन:पर्यवज्ञान

संरचना

8.0 प्रस्तावना
8.1 उद्देश्य
8.2 मन:पर्यवज्ञान की परिभाषा
8.3 मन:पर्यवज्ञान के भेद
8.4 ऋजुमति और विपुलमति मन: पर्यवज्ञान में अन्तर
8.5 मन: पर्यवज्ञान का कारण
8.6 मन:पर्यवज्ञान की विषय मर्यादा
8.7 मन:पर्यवज्ञानी की अर्हता
8.8 मन:पर्यवज्ञान और अवधिज्ञान में अन्तर
8.9 मन:पर्यवज्ञान और अवधिज्ञान में साधर्म्य
8.10 मन:पर्यवज्ञान और केवलज्ञान में साधर्म्य
8.11 मन:पर्यवज्ञान का विषय : अभिमत
8.12 परामनोविज्ञान में मन:पर्यवज्ञान
8.13 सारांश
8.14 अभ्यास प्रश्नावली

8.0 प्रस्तावना

जैन दर्शन के अनुसार विशिष्ट योगी अपनी साधना के द्वारा मनोगत भावों को साक्षात् जानने की क्षमता का विकास कर लेता है। मनोगत भावों को जानने वाला यह अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष जैन ज्ञान–मीमांसा में मन:पर्याय अथवा मन:पर्यवज्ञान कहलाता है। जब कोई व्यक्ति चिंतन–मनन आदि मानसिक क्रियाओं में प्रवृत्त होता है तब वह एक विशेष प्रकार के पुद्‌गलों को ग्रहण करता है जिन्हें जैन दर्शन में मनोवर्गणा के पुद्‌गल कहा जाता है। चिंतनकाल में उन पुद्‌गलों की भी विचारानुरूप परिणतियां होती है, आत्मा उस परिणमन के द्वारा मनोगत भावों को जान लेता है। आत्मा की उस क्षमता को ही मन:पर्यवज्ञान कहा जाता है।

8.1 उद्देश्य–इसके अध्ययन से मन:पर्यवज्ञान की सम्यक् जानकारी हो सकेगी।

8.2 मन:पर्यवज्ञान की परिभाषा

अतीन्द्रिय ज्ञान अथवा प्रत्यक्षज्ञान के तीन भेदों में दूसरा भेद है—मन:पर्यवज्ञान। यह ज्ञान मनोवर्गणा के माध्यम से मानसिक भावों को जानने वाला ज्ञान है। व्यक्ति जो सोचता है उसी के अनुरूप चिन्तन में प्रवृत्त पुद्‌गल द्रव्यों के पर्याय (आकार) निर्मित हो जाते हैं, मन के उन पर्यायों का साक्षात् करने वाला ज्ञान मन:पर्यवज्ञान है। मन:पर्यवज्ञान की व्युत्पत्ति करते हुये क्षमाश्रमण जिनभद्रगणि ने लिखा है—

"पज्जवणं पज्जयणं पज्जावो वा मणम्मि मणसो वा।
तस्स व पज्जादिन्नाणं मणपज्जवं नाणं।।"

पर्यव और पर्यय दोनों का अर्थ है—सर्वत भावेन ज्ञान। पर्याय शब्द का अर्थ है सर्वत: प्राप्ति। मनोद्रव्य को समग्रता से जानना अथवा बाह्य वस्तुओं के चिंतन के अनुरूप मनोद्रव्य की पर्यायों की समग्रता से प्राप्ति ही मन:पर्यवज्ञान है। इसको मन:पर्यव, मन:पर्यय एवं मन:पर्याय ज्ञान कहा जाता है। जिस ज्ञानोपयोग में मन—(दीर्घकालीन संज्ञा) की पूर्ण रूपेण प्राप्ति हो वह मन:पर्यायज्ञान है। मन सूक्ष्म जड़ द्रव्य से बना हुआ है। विभिन्न मानसिक व्यापारों में वह मनोद्रव्य भिन्न–भिन्न आकारों में प्रकट होता है अर्थात् अमूर्त्त विचारों का जो मूर्तीकरण होता है, उस आधार पर चिंतन धारा का ज्ञान ही मन:पर्यवज्ञान है।

मन:पर्यवज्ञान संज्ञी पञ्चेन्द्रिय के मनश्चिन्तित अर्थ को प्रकट करती है। इसका सम्बन्ध मनुष्य क्षेत्र से है यह गुण प्रत्ययिक है। यह चरित्रवान् संयमी के ही होता है।

8.3 मन:पर्यवज्ञान के भेद

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

नंदीसूत्र में मन:पर्यवज्ञान के दो प्रकार बतलाए गये हैं—ऋजुमति और विपुलमति मन:पर्यवज्ञान। मन:पर्यवज्ञान के इन दो भेदों की अवधारणा दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों जैन परम्पराओं में है।

8.3.1 ऋजुमति मन:पर्यवज्ञान

ऋजुमति मन:पर्यवज्ञान दूसरे के मनोगत भावों को सामान्य रूप से जानता है। नंदी चूर्णि के अनुसार ऋजुमति मन:पर्यवज्ञान मन के पर्यायों को जानता है किन्तु पर्यायों को बहुत अधिक स्पष्टता के साथ नहीं जानता है।

नंदी चूर्णिकार ने ऋजु का अर्थ सामान्य किया है। ऋजुमति ज्ञान के संदर्भ में सामान्य का अर्थ अपेक्षाकृत कम पर्यायों धर्मों या आकारों से युक्त ज्ञान है। जैसे कोई व्यक्ति कुर्सी का चिंतन करता है तो ऋजुमति मन:पर्यवज्ञानी यह तो जान ही लेता है कि अमुक व्यक्ति कुर्सी का चिंतन कर रहा है पर यह नहीं जान पाता है कि इस व्यक्ति के द्वारा चिंतित कुर्सी का आकार क्या है, यह किस द्रव्य से बनी है, कब बनी है इसमें अन्य क्या-क्या विशेषताएं हैं। इस प्रकार की विशिष्ट जानकारी का अभाव ही यहाँ सामान्य अथवा ऋजु शब्द का अभिधेयार्थ है। धवला में ऋजुमति की व्याख्या करते हुये बताया गया है कि यथार्थ मन, यथार्थ वचन और यथार्थ कायिक चेष्टागत अर्थ को विषय बनाने वाली मति ऋजुमति है।

ऋजु का एक अर्थ किया गया है—व्यक्त। संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित मन व्यक्त मन कहलाता है। व्यक्त मन का ज्ञान ऋजुमति मन:पर्यवज्ञान है अर्थात् ऋजुमति चिंतित अर्थ को ही जानता है, अचिंतित और अर्धचिंतित अर्थ अव्यक्त होने से उसके विषय नहीं बनते है।

श्वेताम्बर साहित्य में ऋजुमति मन:पर्यवज्ञान के उपभेदों की चर्चा उपलब्ध नहीं है। दिगम्बर साहित्य में ऋजुमति मन:पर्यवज्ञान के तीन भेद किये गये हैं—

1. **ऋजुमनोगत**— जो दूसरे के द्वारा स्फुट रूप से चिंतन किये गये अर्थ को सामान्य रूप से जानता है।

2. **ऋजुवचनगत**—जो दूसरे के द्वारा स्फुट रूप से कहे गये वचन को सामान्य रूप से जानता है वह ऋजुवचनगत मन:पर्यवज्ञान है। प्रश्न होता है कि ऋजुवचनगत अर्थ को जानना ऋजुमति मन:पर्यव कैसे? इसका समाधान प्रस्तुत करते हुये आचार्य वीरसेन ने कहा है कि ऋजुवचन की प्रवृत्ति ऋजुमन के बिना नहीं हो सकती, अत: ऋजुवचनगत अर्थ के आधार पर ऋजुमन को जानने की क्रिया ऋजुमति मन:पर्यवज्ञान की सीमा में आ जाती है।

3. **ऋजुकायगत**—दूसरे की स्पष्ट कायिक चेष्टा के आधार पर सामान्य रूप से उसके मन को जानना ऋजुकायगत ज्ञान है। कायिक चेष्टा मननपूर्वक होती है, अत: उसके द्वारा वार्तमानिक मनोगत भावों का ज्ञान ऋजुमति मन:पर्यवज्ञान है।

8.3.2 विपुलमति मन:पर्यवज्ञान

मन:पर्यवज्ञानावरणीय के विशिष्ट क्षयोपशम से योगी दूसरों के मनोगत भावों को स्पष्ट रूप से जान लेता है वह प्रत्यक्ष ज्ञान विपुलमति मन:पर्यवज्ञान कहलाता है।

नंदीचूर्णि के अनुसार विपुलमति मन:पर्यवज्ञानी चिंतन में परिणत पदार्थों को बहुत विशेषों (पर्यायों) से युक्त जानता है। जैसे किसी ने घट का चिंतन किया तो विपुलमति मन:पर्यवज्ञान केवल घट मात्र ही नहीं जानेगा उसके देश, काल आदि अनेक पर्यायों को भी जान लेगा। विपुलमति मन:पर्यवज्ञानी दूसरे के द्वारा ग्रहण किये हुये मनोद्रव्य के आधार पर जान लेता है कि इसने जिस घट का चिंतन किया वह स्वर्ण निर्मित है, पाटलिपुत्र में अभी-अभी बना है, बड़ा है, अभी कपड़े से ढ़ककर कमरे में रखा हुआ है, इस प्रकार उसका ज्ञान ऋजुमति की अपेक्षा स्पष्ट होता।

सिद्धसेनगणि ने ऋजुमति को सामान्यग्राही एवं विपुलमति को विशेषग्राही बतलाया है। उन्होंने सामान्य का प्रयोग स्तोक के अर्थ में किया है। किसी व्यक्ति ने घट का चिंतन किया ऋजुमति उसको जान लेता है किन्तु घट की अनेक पर्यायों का चिंतन किया उन सब पर्यायों को वह नहीं जानता। विपुलमति घट के विषय में चिन्त्यमान सैंकड़ों पर्यायों को जान लेता है।

विपुलमति मन:पर्यवज्ञान ज्ञानावरणीय कर्म का विशिष्ट क्षयोपशम होने पर ज्ञाता अपने या दूसरे के व्यक्त मन से चिंतित अथवा अचिंतित वस्तु, मरण, सुख, दु:ख आदि भावों को जान लेता है। धवला में विपुल का अर्थ विस्तीर्ण किया गया है। वीरसेन के अनुसार विपुलमति मन:पर्यवज्ञान अव्यक्त मन को भी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जान लेता है। अव्यक्त मन का अभिप्राय है—चिंतन में अर्धपरिणत, चिंतित वस्तु के स्मरण से रहित और चिंतन में अव्यापृत मन। इस प्रकार विपुलमति मन:पर्यवज्ञान में क्षयोपशम इतना विशिष्ट होता है कि वह ऋजु ओर अऋजु रूप से चिंतित, अचिंतित या अर्धचिंतित, वर्तमान में विचार किया जा रहा है, अतीत में विचार किया गया था अथवा भविष्य में चिंतन किया जायेगा, उन सब अर्थों को जान लेता है। गोम्मटसार जीवकाण्ड के अनुसार विपुलमति मन:पर्यवज्ञानी भूत, भविष्यत् और वर्तमान में जीव के द्वारा चिंतन किये गये त्रिकालगत रूपी पदार्थ को जानता है। जबकि ऋजुमति केवल वर्तमान में चिंतन किये गये पदार्थ को ही जानता है।

दिगम्बर साहित्य में विपुलमति मन:पर्यवज्ञान के छह भेद उपलब्ध होते हैं—

1. **ऋजुमनोगत**—यथार्थ अथवा स्फुट मन के द्वारा चिंतन किये गये अर्थ को जानना ऋजुमनोगत विपुलमति है।
2. **ऋजुवचनगत**—यथार्थ वाणी के व्यापार के आधार पर किसी के विचार को जानना ऋजुवचनगत है।
3. **ऋजुकायगत**—यथार्थ कायिक चेष्टा से चिंतित अर्थ को जानना ऋजुकायगत है।
4. **वक्रमनोगत**—संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से युक्त मन वक्र मन है। तद्गत अर्थ को जानना वक्र मनोगत विपुलगति है।
5. **वक्रवचनगत**—संशय आदि से युक्त भाषा के आधार पर भी चिंतित अर्थ को जान लेना वक्रवचन विपुलमति है।
6. **वक्रकायगत**—संशय आदि से युक्त काय व्यापार के आधार पर मन का ज्ञान वक्रकायगत विपुलमति मन:पर्यवज्ञान है।

वक्रता का दूसरा अर्थ अव्यक्तता भी है। वर्तमान के चिंतन को जानना सरल है पर भूत अथवा भविष्य के चिंतन को यथार्थत: जानना दुष्कर है क्योंकि वह उतना व्यक्त नहीं होता है। मन:पर्यवज्ञानी की ज्ञान चेतना भी जब बहुत अधिक पटु हो जाती है, तभी वह भूत और भविष्य में बनने वाले मनोद्रव्य के पर्यायों को यथावत् ग्रहण कर पाता है।

8.4 ऋजुमति और विपुलमति मन:पर्यवज्ञान में अन्तर

आचार्य उमास्वाति ने ऋजुमति और विपुलमति का भेद बतलाने के लिए विशुद्धि और अप्रतिपात इन दो हेतुओं का निर्देश किया है—

ऋजुमति	विपुलमति
1. विशुद्ध	1. विशुद्धतर
2. प्रतिपात	2. प्रतिपात रहित

आचार्य देववाचक ने विपुलमति मन:पर्यवज्ञान के क्षेत्र को ऋजुमति मन:पर्यवज्ञान के क्षेत्र से ढ़ाई अंगुल अधिक बताते हुये चार भेदक विशेषणों का प्रयोग किया है।

1. अभ्यधिकता—एक दिशा से बड़ा होना अभ्यधिकता है। जैसे एक बड़ा घड़ा छोटे घड़े की अपेक्षा जलधारण की दृष्टि से अभ्यधिक होता है वैसे ही ऋजुमति के ज्ञातव्य क्षेत्र से विपुलमति का ज्ञातव्य क्षेत्र अधिक होता है अथवा आयाम एवं विष्कम्भ (लम्बाई, चौड़ाई) की अपेक्षा क्षेत्र की अधिकता ही विपुलमति की अभ्यधिकता है।

2. विपुलतरता—हर दृष्टि से या सब तरह से बड़ा होना विपुलता है। बड़ा घट स्थान की अपेक्षा छोटे घट से बड़ा होता है, उसी प्रकार ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति का विषय क्षेत्र विशाल है।

3. विशुद्धतरता— जिस प्रकार दीपक, ट्यूबलाइट आदि प्रकाशक द्रव्य जितने अधिक प्रकाशक क्षमता वाले होते हैं, पदार्थ उतने ही स्पष्ट अवभाषित होते हैं। उसी प्रकार चारित्रिक विशुद्धि एवं क्षयोपशम वैशिष्ट्य के कारण विपुलमति की ज्ञान क्षमता अधिक होती है।

4. वितिमिरतरता— बार-बार आवरण आने से आलोकित क्षेत्र भी अंधकारपूर्ण हो जाता है तथा पदार्थ की स्पष्टता में कमी आ जाती है। विपुलमति मन:पर्यवज्ञानी का चारित्र इतना विशुद्ध होता है कि उसके पुन: मन:पर्यवज्ञानावरण का बंधन नहीं होता तथा पूर्वबद्ध कर्म भी विपाकोदय में नहीं रहते अत: वह ज्ञान ऋजुमति की अपेक्षा वितिमिरतर अर्थात् अन्धकार रहित होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ऋजुमति केवल व्यक्त मन को ही जानता है जबकि विपुलमति अव्यक्त मन को भी जानने की क्षमता रखता है, अत: अचिंतित, अनुक्त और अकृत का अग्रहण ग्रहण भी इन दोनों का भेदक है। मनोविज्ञान की भाषा में ऋजुमति को सरल मनोविज्ञान और विपुलमति को जटिल मनोविज्ञान कहा जा सकता है।

8.5 मन:पर्यवज्ञान का कारण

कर्मशास्त्रीय मीमांसा के अनुसार मन:पर्यवज्ञान वैभाविक ज्ञान है, अत: उसका कारण भी मति, श्रुत आदि ज्ञानों के समान केवलज्ञानावरण का उदय है। वस्तुत: ज्ञान चेतना अखण्ड है और जब वह पूर्णत: अनावृत होती है तब केवलज्ञान उत्पन्न होता है। छद्मस्थ अवस्था में केवलज्ञानावरण का उदय रहता है। तथा इसी समय मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण एवं मन:पर्यवज्ञानावरण आदि ज्ञानावारक प्रकृतियों का विलयन होता है, तब उस-उस ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्ञान के प्रकटीकरण में ज्ञानावरण के समान अन्तरायकर्म की भी अहम् भूमिका है। इसलिए स्वामी पूज्यपाद अकलंक आदि ने मन:पर्यवज्ञान की उत्पत्ति में दो कर्मों के क्षयोपशम को प्रधानता दी है-

1. वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम, 2. मन:पर्यवज्ञानावरणीय का क्षयोपशम।

दिगम्बर मान्यता के अनुसार जिस प्रकार अवधिज्ञान की उत्पत्ति शरीरगत विशेष स्थान से होती है, मतिज्ञान में इन्द्रिय, मन आदि की साधनता स्वीकार की गयी हैं उसी प्रकार मन:पर्यवज्ञान का भी अपना नियत साधन है। उस करण का नाम है मन। उनके अनुसार जिस प्रकार इन्द्रियों की निवृत्ति के लिए अंगोपांग नामकर्म का उदय अपेक्षित है, उसी प्रकार अष्ट पंखुड़ी वाले विकसित कमल के समान आकृति वाले मन की रचना के लिए भी अंगोपांग नामकर्म का उदय अपेक्षित है। इस प्रकार मन:पर्यवज्ञान का एक कारण अंगोपांग नामकर्म का उदय भी है।

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार जिस प्राकर चक्षुर्विज्ञान आलोक सापेक्ष होता है उसी प्रकार मन का ज्ञान मनोवर्गणा सापेक्ष होता है। मनन करने में जो पुद्गल प्रयुक्त होते हैं, उनकी आकृतियों, पर्यायों के द्वारा ही मन:पर्यवज्ञानी दूसरे के मन का ज्ञान करते हैं।

8.6 मन:पर्यवज्ञान की विषय मर्यादा

मन:पर्यवज्ञान अप्रमत्त साधु को होने वाला विशिष्ट ज्ञान है। यह क्षायोपशमिक ज्ञान है अत: इसकी अपनी कुछ मर्यादाएं है। अरूपी द्रव्य इसके विषय नहीं बनते क्योंकि यह द्रव्य-मन की पर्यायों का साक्षात्कार करता है। मन:पर्यवज्ञान अवधिज्ञान की तुलना में सीमित रूपी द्रव्य (मनोद्रव्य मात्र) को जानता है। आ. उमास्वाति ने मन:पर्यवज्ञान की विषय मर्यादा का सामान्य कथन करते हुये बताया है कि इसका विषय सर्वावधि के विषय का अनन्तवां (पदपिदपजम) भाग है। व्याख्याप्रज्ञप्ति एवं नंदीसूत्र में मन:पर्यवज्ञान की विषय मर्यादा का द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव इन चार दृष्टियों से विवेचन उपलब्ध होता है।

1. द्रव्यदृष्टि—द्रव्य की दृष्टि से मन:पर्यवज्ञानी मनोवर्गणा के अनंत-अनंत प्रदेशी स्कन्धों को जानता है। मन:पर्यवज्ञान के द्वारा समस्त पुद्गलास्तिकाय को नहीं जाना जा सकता क्योंकि उसकी क्षमता अनंत प्रदेशी स्कन्धों को जानने की है। एक पुद्गल परमाणु यावत् संख्यात प्रदेशी और असंख्यातप्रदेशी स्कन्ध उसकी विषय सीमा से बाहर हैं। अनन्तप्रदेशी पुद्गल स्कन्धों की अनन्त प्रकार की वर्गणाएं मानी गयी हैं। एक उत्कृष्ट मन:पर्यवलब्धि सम्पन्न व्यक्ति भी उन सबको साक्षात् नहीं कर सकता अत: द्रव्य की दृष्टि से ऋजुमति मन:पर्यवज्ञानी अनन्तप्रदेशी स्कन्धों को जानता है और विपुलमति उन्हें अधिक मात्रा में जानता है।

2. क्षेत्र दृष्टि—क्षेत्र की दृष्टि से मन:पर्यवज्ञानी मनुष्य क्षेत्र के भीतर अढ़ाई द्वीप समुद्र तक पन्द्रह कर्मभूमियों , तीस अकर्मभूमियों और छप्पन अन्तर्द्वीपों में वर्तमान पर्याप्त समनस्क पञ्चेन्द्रिय जीवों के मनोगत भावों को जानता देखता है। आवश्यक निर्युक्ति में मन:पर्यवज्ञान को मनुष्य क्षेत्र तक सीमित बताया गया है।

दिगम्बर परम्परा में षट्खण्डागम के अनुसार ऋजुमति मन:पर्यवज्ञान का जघन्य क्षेत्र गव्यूति पृथक्त्व अर्थात् गाय की आवाज जहां तक पहुंचे उतना क्षेत्र एवं उत्कृष्ट क्षेत्र मानुषोत्तर पर्वत (जो पुष्करद्वीप में स्थित है) तक है। श्वेताम्बर परम्परा में पृथक्त्व शब्द दो से नौ तक की संख्या का संकेत करता है जबकि दिगम्बर आम्नाय में वह आठ और नौ का वाचक है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. कालदृष्टि—काल की दृष्टि से मन:पर्यवज्ञानी जघन्यत: पल्योपम के असंख्यातवें भाग अतीत और भविष्य को जानता देखता है। दिगम्बर परम्परा में मन:पर्यवज्ञान की काल मर्यादा का कथन 'भव' के आधार पर किया गया है, पल्योपम आदि के आधार पर नहीं। ऋजुमति मन:पर्यवज्ञान जघन्यत: दो तीन भवों को ओर उत्कृष्टत: सात-आठ भवों को साक्षात् जान देख सकता है। विपुलमति मन:पर्यवज्ञान कालत: कम से कम सात-आठ भवों को और उत्कृष्टत: असंख्यात भवों को जानने देखने की क्षमता रखता है।

4. भाव दृष्टि—भाव (पर्याय) की दृष्टि से मन:पर्यवज्ञानी अनंतभावों को जानता देखता है पर वे अनंतभाव सब भावों के अनंतवें भाग जितने होते हैं। विपुलमति मन:पर्यवज्ञान का विषय भी इतना ही है, केवल वह उन्हें अभ्यधिकतर, विपुलमति, विशुद्धतर और वितिमिरतर रूप में जानता है। तत्त्वार्थसूत्र में मन:पर्यवज्ञान का विषय सर्वावधि का अनन्तवां भाग बताया गया है।

8.7 मन:पर्यवज्ञानी की अर्हता

नंदीसूत्र में मन:पर्यवज्ञान के लिए नव अर्हताएं निर्धारित हैं—

1. ऋद्धि प्राप्त 2. अप्रमत्त 3. संयत 4. सम्यग्दृष्टि 5. पर्याप्तक 6. संख्येयवर्षायुष्क 7. कर्मभूमिज 8. गर्भावक्रांतिक 9. मनुष्य, देखें यंत्र—

अस्वामी	**स्वामी**
अमनुष्य	मनुष्य
संमूर्च्छिम मनुष्य	गर्भावक्रान्तिक मनुष्य
अकर्मभूमिज और अंतर्द्वीपक मनुष्य	कर्मभूमिज मनुष्य
असंख्येयवर्षायुष्क मनुष्य	संख्येवर्षायुष्क मनुष्य
अपर्याप्तक मनुष्य	पर्याप्तक मनुष्य
मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि	सम्यग्दृष्टि मनुष्य
असंयत और संयतासंयत	संयत
प्रमत्त	अप्रमत्त
अनृद्धिप्राप्त	ऋद्धिप्राप्त

गौतम पूछते हैं—भगवन्! मन:पर्यवज्ञान मनुष्यों के उत्पन्न होता है अथवा मनुष्य से भिन्न प्राणियों को भगवान् उन्हें समाहित करते हैं—मन:पर्यवज्ञान मनुष्यों के उत्पन्न होता है। मनुष्येतर-तिर्यंच, देव और नारक के उत्पन्न नहीं होता है। मन:पर्यवज्ञान केवल उन मनुष्यों के ही हो सकता है जो गर्भज, कर्मभूमिज, संख्येयवर्ष आयु वाले पर्याप्त अर्थात् सभी पौद्गलिक शक्तियों—इन्द्रिय, भाषा, मन आदि से युक्त होते हैं तथा साथ ही जो सम्यक्दृष्टि, अप्रमत्तसंयत एवं ऋद्धि सम्पन्न होते हैं।

8.8 मन:पर्यवज्ञान और अवधिज्ञान में अन्तर

मन:पर्यवज्ञान से मन की पर्यायों को जाना जाता है। मन का निर्माण मनोवर्गणा के पुद्गल से होता है। इससे यह सपष्ट होता है कि मन पौद्गलिक है। अवधिज्ञान का विषय रूपी द्रव्य है और मनोवर्गणा के स्कन्ध भी रूपी द्रव्य हैं। इस प्रकार दोनों ज्ञानों का विषय एक ही बन जाता है। मन:पर्यवज्ञान अवधिज्ञान का एक अवान्तर भेद जैसा प्रतीत होता है। इसीलिए आचार्य सिद्धसेन ने अवधिज्ञान और मन:पर्यवज्ञान को एक माना है। उनकी परम्परा को सिद्धान्तवादी आचार्यों ने मान्य नहीं किया है। उमास्वाति ने संभवत: पहली बार अवधिज्ञान और मन:पर्यवज्ञान के भेद को दिखाने वाले विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय के रूप में हेतुओं का निर्देश किया है। अवधि और मन:पर्यवज्ञान का अंतर निम्न चार्ट से समझा जा सकता है—

अवधिज्ञान	**मन:पर्यवज्ञान**
स्वामी-अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, सर्वविरत।	ऋद्धि सम्पन्न अप्रमत्त संयत।
विषय-द्रव्य—अशेष रूपी द्रव्य।	द्रव्य—संज्ञी जीवों का मनोद्रव्य।
क्षेत्र—पूरा लोक और अलोक में लोक प्रमाण असंख्येय खंड।	क्षेत्र—मनुष्य क्षेत्र।
काल—असंख्येय अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी प्रमाण	काल—पल्योपम के असंख्येय भाग प्रमाण अतीत

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अतीत-अनागत काल।	अनागत काल।
भाव—प्रत्येक रूपी द्रव्य के असंख्येय पर्याय।	भाव—मनोद्रव्य के अनंत पर्याय।

जिस प्रकार एक फिजिशियन आंख, नाक, गला आदि शरीर के सभी अवयवों की जांच करता है, उसी प्रकार आंख, गला आदि का विशेषज्ञ डॉ. भी करता है। किन्तु दोनों की जांच और चिकित्सा में अन्तर रहता है। एक ही कार्य होने पर भी विशेषज्ञ के ज्ञान की तुलना में वह डॉ. नहीं आ सकता। इसी प्रकार मन:पर्यवज्ञान की तुलना में साधारण अवधिज्ञान नहीं आ सकता।

8.9 मन:पर्यवज्ञान और अवधिज्ञान में साधर्म्य

अवधिज्ञान के समान मन:पर्यवज्ञान भी अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है। दोनों ही विकल प्रत्यक्ष हैं। ये दोनों ही ज्ञान रूपी पदार्थ को इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना साक्षात् करने की क्षमता रखते हैं। अरूपी पदार्थों—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, काल और कर्ममुक्त जीव को साक्षात् करने में दोनों ही समर्थ नहीं है। जिनभद्रगणि ने अवधिज्ञान एवं मन:पर्यवज्ञान में साधर्म्य के सूचक चार हेतुओं का निर्देश किया है—

1. दोनों ज्ञान छद्मस्थ के होते हैं।
2. दोनों ज्ञान का विषय रूपी द्रव्य है।
3. दोनों ज्ञान क्षायोपशमिक भाव है।
4. दोनों प्रत्यक्ष ज्ञान हैं।

1. छद्मस्थ साधर्म्य— अवधि और मन:पर्यवज्ञान छद्मस्थ के ही होते हैं। अत: स्वामी की दृष्टि से उन दोनों में समानता है।

2. विषय साधर्म्य— दोनों ही ज्ञानों का विषय केवल रूपी पदार्थ—पुद्गल है। अरूपी पदार्थ उनके विषय नहीं बनते अत: दोनों में विषयकृत साम्य है।

3.भावसाधर्म्य—दोनों ही ज्ञान जैन कर्म मीमांसा के अनुसार अपने-अपने कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होते हैं।

4. अध्यक्ष साधर्म्य— अध्यक्ष का अर्थ है—प्रत्यक्ष। अवधिज्ञान एवं मन:पर्यवज्ञान दोनों ही विकल प्रत्यक्ष हैं। इन्हें अपने विषय को ग्रहण करने में इन्द्रिय आदि बाह्य उपकरणों की सहायता की अपेक्षा नहीं होती। आत्मा स्वयं ही विषय को जान लेती है। ये दोनों पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं।

8.10 मन:पर्यवज्ञान और केवलज्ञान में साधर्म्य

जैसे मन:पर्यवज्ञान अप्रमत्त साधक को प्राप्त के होता है, वैसे ही केवलज्ञान भी अप्रमत्त साधक को होता है। मन:पर्यवज्ञान में विपर्यज्ञान नहीं होता, केवलज्ञान में भी विपर्ययज्ञान नहीं होता। ये दोनों पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं। इनमें विषय के साथ आत्मा का सीधा सम्पर्क होता है।

8.11 मन:पर्यवज्ञान का विषय : दो अभिमत

पंडित सुखलालजी ने मन:पर्याय के दो मतों की चर्चा की है—"मन:पर्याय ज्ञान का विषय मन के द्वारा चिन्त्यमान वस्तु है या चिन्तनप्रवृत्त मनोद्रव्य की अवस्थाएं हैं—इस विषय में जैन परम्परा में मतैक्य नहीं है। निर्युक्ति और तत्त्वार्थसूत्र एवं तत्त्वार्थसूत्रीय व्याख्याओं में पहला पक्ष वर्णित है; जबकि विशेषावश्यक भाष्य में दूसरे पक्ष का समर्थन किया गया है। परन्तु योगभाष्य तथा मज्झिमनिकाय में जो परचित्त ज्ञान का वर्णन है उसमें केवल दूसरा ही पक्ष है जिसका समर्थन जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण ने किया है। योगभाष्यकार तथा मज्झिनिकायकार स्पष्ट शब्दों में यही कहते हैं कि ऐसे प्रत्यक्ष के द्वारा दूसरों के चित्त का ही साक्षात्कार होता है, चित्त के आलम्बन का नहीं। योगभाष्य में चित्त के आलम्बन का ग्रहण न हो सकने के पक्ष में दलीलें भी दी गई हैं।

परिचित्त का साक्षात्कार करने वाला ज्ञान मन:पर्यवज्ञान है। यह व्याख्या स्पष्ट नहीं है। ज्ञानात्मक चित्त को जानने की क्षमता मन:पर्यवज्ञान में नहीं है। ज्ञानात्मक चित्त अमूर्त्त है, जबकि मन:पर्यवज्ञान मूर्त्त वस्तु को ही जान सकता है। इस विषय में सभी जैन दार्शनिक एकमत हैं। मन:पर्यवज्ञान का विषय है मनोद्रव्य, मनोवर्गणा के पुद्गल स्कन्ध। ये पौद्गलिक मन का निर्माण करते हैं। मन:पर्यवज्ञानी उन पुद्गल स्कन्धों का साक्षात्कार करता है। मन के द्वारा चिन्त्यमान वस्तु मन:पर्यवज्ञान का विषय नहीं है। चिन्त्यमान वस्तु को मन के पौद्गलिक स्कन्धों के आधार पर अनुमान से जाना जाता है। मन:पर्यवज्ञान के द्वारा चिन्त्यमान वस्तु का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मणपज्जवनाणं पुण, जणमणपरिचिंतियत्थपागडणं।
माणुसखेत्तनिबद्धं, गुणपच्चइयं चरित्तवओ॥

इस गाथा के आधार पर मन:पर्यवज्ञान का विषय चिन्त्यमान वस्तु बतलाया गया है। चूर्णिकार ने इस गाथा की व्याख्या में लिखा है कि मन:पर्यवज्ञान अनन्तप्रदेशी मन के स्कन्धों तथा तद्गत वर्ण आदि भावों को प्रत्यक्ष जानता है। चिन्त्यमान विषय वस्तु को साक्षात् जानता क्योंकि चिन्तन का विषय मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों प्रकार के पदार्थ हो सकते हैं। छद्मस्थ मनुष्य अमूर्त्त का साक्षात्कार नहीं कर सकता इसलिए मन:पर्यवज्ञानी चिन्त्यमान वस्तु को अनुमान से जानता है। इसीलिए मन:पर्यवज्ञान की पश्यत्ता (पण्णवणा 30/2) का निर्देश भी दिया गया है। सिद्धसेनगणि ने चिन्त्यमान विषयवस्तु को और अधिक स्पष्ट किया है। उनका अभिमत है कि मन:पर्यवज्ञान से चिन्त्यमान अमूर्त्त वस्तु ही नहीं, स्तम्भ, कुम्भ आदि मूर्त्त वस्तु भी नहीं जानी जाती। उन्हें अनुमान से ही जाना जा सकता है।

मन:पर्यवज्ञान से मन के पर्यायों अथवा मनोगत भावों का साक्षात्कार किया जाता है। वे पर्याय अथवा भाव चिन्त्यमान विषयवस्तु के आधार पर बनते हैं।मन:पर्यवज्ञान मुख्य कार्य विषयवस्तु या अर्थ के निमित्त से होने वाले मन के पर्यायों का साक्षात्कार करना है। अर्थ को जानना उसका गौण कार्य है। और वह अनुमान के सहयोग से होता है।

सिद्धसेनगणि ने मन:पर्यवज्ञान का अर्थ भावमन (ज्ञानात्मक पर्याय) किया है। तात्पर्य की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। चिन्तन करना द्रव्य मन का कार्य नहीं है। चिन्तन के क्षण में मनोवर्गणा के पुद्गल स्कन्धों की आकृतियां अथवा पर्याय बनते हैं वे सब पौद्गलिक होते हैं। भाव मन ज्ञान है ज्ञान अमूर्त्त है। अकेवली (छद्मस्थ मनुष्य) अमूर्त्त को जान नहीं सकता। वह चिन्तन के क्षण में पौद्गलिक स्कन्ध की विभिन्न आकृतियों का साक्षात्कार करता है। इसलिए मन के पर्यायों को जानने का अर्थ भाव मन को जानना नहीं होता किन्तु भाव मन के कार्य में निमित्त बनने वाले मनोवर्गणा के पुद्गल द्रव्यों के पर्यायों को जानना होता है।

अन्य दर्शनों में अतीन्द्रिय ज्ञान

अवधि और मन:पर्यव दोनों अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान हैं। न्यायदर्शन, वैशेषिकदर्शन, योगदर्शन और बौद्धदर्शन में भी अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष का वर्णन मिलता है। किन्तु जैन आगमों में जितना विस्तार के साथ इन दोनों का निरूपण हुआ है, उतना अन्य किसी दर्शन में उपलब्ध नहीं है। प्राचीन न्याय दर्शन में अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष का उल्लेख नहीं है। नव्य न्याय में गंगेश उपाध्याय ने योगज प्रत्यक्ष का उल्लेख किया है।

वैशेषिक सूत्र के प्रशस्तपाद भाष्य में वियुक्त/योगी/प्रत्यक्ष का साधारण वर्णन मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के विषय में श्रमण दर्शनों ने ही अधिक ध्यान दिया है। परचित्त ज्ञान का उल्लेख योगसूत्र व बौद्धदर्शन दोनों में मिलता है।

बौद्ध दर्शन

बौद्ध दर्शन के अनुसार चैतोपरीय ज्ञान या परचित्त बोध के द्वारा दूसरे व्यक्ति के विचारों को पढ़ा जा सकता है। मज्झिमनिकाय में कहा गया है कि चैतोपरीय ज्ञान के द्वारा व्यक्ति दूसरे के चित्त की विभिन्न दशाओं को स्पष्ट रूप से जान लेता है, जैसे कि अमुक व्यक्ति का चित्त मनोवेगपूर्ण है या मनोवेगरहित, सराग है या वीतराग? इसी प्रकार चित्त की विभिन्न स्थितियों— उच्च, नीच, बद्ध, मुक्त आदि का साक्षात् ज्ञान ही चैतोपरीय ज्ञान है। विशुद्धिमग्ग के अनुसार इसके द्वारा स्वयं का बोध नहीं होता, शेष सबके चित्त को जाना जा सकता है।

योग दर्शन

योगसूत्र के अनुसार चित्तवृत्ति पर संयम करके योगी चित्त को जान सकता है। वह जिस प्रकार स्वचित्त वृत्ति पर संयम करके स्वचित्त का बोध कर सकता है, उसी प्रकार दूसरे की चित्तवृत्ति पर संयम करके परचित्त का बोध भी कर सकता है। योग दर्शन के अनुसार भी योगी को परचित्त का ही ज्ञान होता है, उसके आलम्बन का नहीं अर्थात् योगी यह तो जानता है कि अमुक व्यक्ति का चित्त राग युक्त है अथवा क्रोधयुक्त पर वह यह नहीं जान पाता है कि किसके प्रति रागयुक्त या क्रोधयुक्त है। योग दर्शन के अनुसार हृदय में संयम करने से भी परचित्त का साक्षात्कार हो सकता है। पुण्डरीकाकार गर्त्त रूप हृदय-देश में संयम (धारणा,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ध्यान, समाधि) करने से चित्त का साक्षात्कार संभव है। स्वहृदय में संयम से स्वचित्त और परहृदय में संयम करने से परचित्त का साक्षात्कार होता है। परचित्त ज्ञान की दृष्टि से जैन मान्य मनःपर्यवज्ञान से इसकी तुलना की जा सकती है।पातञ्जल योग दर्शन में ताराव्यूह आदि ज्ञानों का उल्लेख हैजो अतीन्द्रिय ज्ञान के सूचक हैं।

8.12 परामनोविज्ञान में मनःपर्यवज्ञान

जैन दर्शन में जिसे मनःपर्यवज्ञान कहा जाता है उसकी आंशिक तुलना परामनोविज्ञान में प्रचलित दूरबोध, विचार संप्रेषण, विचार-संक्रमण (Telepathy) आदि संज्ञानों से की जा सकती है। परामनोविज्ञान में परीक्षित घटनाएं, जो परचित्त बोध या दूरबोध के नाम से जानी जाती है, वे प्रायः मन संचार से सम्बन्धित हैं जिनमें एक व्यक्ति बहुत दूरी पर स्थित दूसरे व्यक्ति के विचारों का ग्रहण कर लेता है। अधिकांशतया ऐसी घटनाओं में प्रेषक एंव ग्राहक इन दोनों के मस्तिष्क एक विशिष्ट अनुकूल अवस्था में होने अपेक्षित हैं जिनमें प्रेषक के प्रयत्न बिना ही ग्राहक कुछ ग्रहण कर लेता है।

जिन मनुष्यों में दूरबोध की क्षमता होती है वे दूसरे के विचारों को इन्द्रिय सहयोग के बिना भी जान सकते हैं। वस्तुतः यह एक विशिष्ट क्षमता है जो सामान्य मनुष्यों में नहीं पायी जाती है। अपवाद रूप में कुछ विशिष्ट व्यक्ति ही इसके परिज्ञाता होते हैं और वे बिना किसी प्रयास के सहज ही इसका प्रयोग करते हैं। डॉ. बेविंक ने अपनी पुस्तक (Anatomy of mordern Science) में लिखा है कि—'मैं सहमत हूं कि ऐसा कोई प्रत्यय है जिसे दूसरे व्यक्ति के मानसिक जीवन की यथार्थ जानकारी कहा जा सकता है।' जो ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से नहीं हो सकता एवं संप्रेषित नहीं किया जा सकता विचार संप्रेषण से वह उसे दूसरे तक पहुंचाया जा सकता है।

विचार संप्रेषण के प्रसंग में मार्क ट्वेन की घटना मननीय है। सन् 1906 की बात है। उन्हें 1885 में स्वयं अपने द्वारा लिखित एवं क्रिश्चियन यूनियन द्वारा प्रकाशित एक लेख की अत्यन्त आवश्यकता हुयी। किन्तु बहुत परिश्रम करने के बावजूद भी वे उसको प्राप्त नहीं कर सके। यूनियन कार्यालय भी उनकी मदद नहीं कर सका। उनके विचारों में एवं प्रयत्नों में लेख प्राप्ति का उपक्रम चल रहा था। दूसरे दिन वे न्यूयार्क के फिफ्थ एवेन्यू से 40वीं स्ट्रीट को पार कर खड़े ही थे कि एक अपरिचित व्यक्ति भागता हुआ उनके पास पहुंचा और कागजों का एक पुलिंदा उन्हें थमाते हुए बोला—ये कागज बीस साल से मेरे पास है, पता नहीं क्यों आज सुबह से मुझे ऐसे लगा कि इन्हें मैं आपको भेज दूं। मैं अभी इन्हें पोस्ट करने जा रहा था कि आप स्वयं ही मुझे मिल गये। मार्क ट्वेन ने कागजों को टटोला, उनको वह लेख उसमें मिल गया जिसकी वे व्यग्रता से प्रतीक्षा एवं खोज कर रहे थे। मार्क ट्वेन का मत है कि यदि ऐसा कोई तरीका उपलब्ध हो जाए जिससे दो मस्तिष्कों में इच्छानुसार सामञ्जस्य स्थापित किया जा सके तो टेलीफोन, टेलीग्राम आदि धीमे संचार साधनों का परित्याग कर व्यक्ति मुक्तरूप से विचारों का आदान-प्रदान कर सकता है।

परामनोविज्ञान के क्षेत्र में टेलीपेथी (विचार संप्रेषण) के बहुत प्रयोग किये जा रहे हैं एवं उनमें आश्चर्यकारी सफलता भी प्राप्त हो रही है। टेलीपेथी के इन प्रयोगों के साथ मनःपर्यवज्ञान की आंशिक तुलना ही हो सकती है। टैलीपैथी एवं मनःपर्यवज्ञान दोनों ही संज्ञानात्मक है। इनकी प्रक्रिया में इन्द्रिय एवं अन्य भौतिक संसाधनों की अपेक्षा नहीं है। ये दोनों ही देश काल की सीमाओं से निरपेक्ष हैं। टैलीपैथी में विचार सम्प्रेषित किये जाते हैं जबकि मनःपर्यवज्ञान में अन्य व्यक्ति के मन को/विचारों को जाना जाता है। व्यक्ति जैसा चिंतन करता है उसके अनुरूप मनोवर्गणा के पुद्गल आकार ग्रहण करते हैं। उनको मनःपर्यवज्ञानी जानता है।

8.13 सारांश–इस प्रकार स्पष्ट है कि टैलीपैथी आदि ज्ञान को जैन मीमांसा के अनुसार पूर्ण मनःपर्यवज्ञान तो नहीं कहा जा सकता किन्तु उनको मनःपर्यवज्ञान के एक अंश अथवा विशिष्ट प्रकार का ज्ञान स्वीकार करने में तो कोई बाधा नहीं होनी चाहिये।

8.14 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. मनःपर्यवज्ञान को परिभाषित करते हुये उसके भेद-प्रभेदों की व्याख्या करें। अथवा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मन:पर्यवज्ञान और अवधिज्ञान के अंतर और साधर्म्य को बताते हुये स्पष्ट करें कि मन:पर्यवज्ञान की विषय मर्यादा क्या है?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. मन:पर्यवज्ञान की अर्हताओं का उल्लेख करें।
2. परामनोविज्ञान के तथ्यों के साथ मन:पर्यवज्ञान की तुलना करें? अथवा
   अन्य भारतीय दर्शनों में अतीन्द्रिय ज्ञान की अवधारणा क्या है? स्पष्ट करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. मन:पर्यवज्ञान क्या है?
   (क) जो इन्द्रियों से जानता है। (ख) जो इन्द्रिय एवं मन दोनों से जानता है।
   (ग) जो आत्मा के द्वारा परकीय मनोगत भावों को जानता है। (घ) जो परोक्ष ज्ञान है।
2. विपुलमति मन:पर्यवज्ञान के भेद हैं—(क) तीन (ख) छह (ग) बारह (घ) दो
3. प्रत्यक्षज्ञान के तीन भेदों में दूसरा भेद है—
   (क) अवधिज्ञान (ख) केवलज्ञान (ग) श्रुतज्ञान (घ) मन:पर्यवज्ञान
3. मन:पर्यवज्ञान किसको होता है—
   (क) मिथ्यादृष्टि को। (ख) अविरति को। (ग) प्रमत्त संयत को। (घ) अप्रमत्त संयत को।
5. मन:पर्यवज्ञान है— (क) प्रत्यक्ष। (ख) पारमार्थिक प्रत्यक्ष। (ग) सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष। (घ) परोक्ष।
6. मन:पर्यवज्ञान का कारण है— (क) दर्शनावरणीय का क्षयोपशम। (ख) मोहनीय कर्म का उदय।
   (ग) मन:पर्यवज्ञानावरण एवं वीर्यान्तराय का क्षयोपशम। (घ) अन्तरायकर्म का क्षय।
7. पर्यव और पर्यय दोनों का अर्थ है— (क) सर्वतो भावेन ज्ञान। (ख) सर्वत: प्राप्ति।
   (ग) आंशिकज्ञान (घ) चक्षुदर्शन।
8. ऋजुमति मन:पर्यवज्ञान जानता है— (क) सामान्य रूप से मनोगत भावों को। (ख) अपने मन के भावों को।
   (ग) विशिष्ट विशेषण से युक्त पर्यायों को। (घ) सामान्य-विशेष रूप दूसरेके मन को।
9. विपुलमति ऋजुमति से होता है— (क) अविशुद्ध (ख) विशुद्ध (ग) विशुद्धतर (घ) विशुद्धतम
10. केवलज्ञान एवं मन:पर्यव में समानता है—(क) दोनों सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष हैं। (ख) दोनों पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं।
    (ग) दोनों अरूपी पदार्थों को जानते हैं। (घ) दोनों छद्मस्थ के होते हैं।

साभार संकलन ग्रन्थ सूची

1. नन्दीसूत्र संपादक/विवेचन आचार्य श्री महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.)
2. भिक्षु आगम विषय कोश संपादक सा. विमलप्रज्ञा, सा. सिद्धप्रज्ञा, जैन विश्व भारती
3. नंदीसूत्र का ज्ञान मीमांसात्मक विश्लेषण, सा. श्रुतयशा (अप्रकाशित)
4. ज्ञान बिन्दु प्रकरण (भूमिका) पं. सुखलालजी संघवी, सिंघी ग्रन्थमाला
5. विशेषावश्यक भाष्य में ज्ञान मीमांसा (शोध-प्रबन्ध) स. मंगलप्रज्ञा (अप्रकाशित)

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–9 : केवलज्ञान

संरचना

9.0 प्रस्तावना
9.1 उद्देश्य
9.2 केवलज्ञान की परिभाषा
9.3 केवलज्ञान के भेद
9.3.1 भवस्थ केवलज्ञान
9.3.2 सिद्ध केवलज्ञान
9.4 केवलज्ञान और केवलदर्शन
9.5 सर्वज्ञवाद और विभिन्न दर्शन
9.6 सारांश
9.7 अभ्यास प्रश्नावली

9.0 प्रस्तावना

जैनदर्शन द्वैतवादी दर्शन है। उसके अनुसार सम्पूर्ण जगत् में चेतन और अचेतन दो मूल तत्त्व हैं। ज्ञान-शक्ति चेतन और अचेतन तत्त्व की विभाजक रेखा है। ज्ञान चेतना का गुण है, स्वरूप है। ज्ञान के अभाव में आत्मा की परिकल्पना भी नहीं की जा सकती। कैवल्य प्राप्ति से पूर्व आत्मा की ज्ञानात्मक शक्ति ज्ञानावरण कर्म से न्यूनाधिक रूप में प्रभावित रहती है। अतः स्वरूपतः सभी आत्माएं समान होने पर भी उनमें ज्ञान का तारतम्य दृष्टिगोचर होता है। ज्ञान के तारतम्य के आधार पर हम आत्मा को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—अविकसित, अल्पविकसित एवं विकसित। एकेन्द्रिय जीव अविकसित, दोइन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक के जीव अल्पविकसित एवं संज्ञी पञ्चेन्द्रिय को विकसित विभाग में समाविष्ट कर सकते हैं। जैसे-जैसे आवरण विरल होता जाता है, ज्ञान प्रकाश की मात्रा वृद्धिंगत होती जाती है तथा आवरण की सघनता में वह ज्ञान मात्रा अत्यल्प हो जाती है। किन्तु आवरण कितना ही सघन क्यों न हो जाये, वह ज्ञान शक्ति को नष्ट नहीं कर सकता। मेघ समूह सूर्य को कितना ही आच्छादित क्यों न करें किन्तु दिन-रात का विभेद तो बना ही रहता है, वैसे ही कर्म आत्मा के ज्ञान गुण को सर्वथा नष्ट नहीं कर सकते। जीव में सम्पूर्ण ज्ञान का अनंतवें भाग जितना ज्ञान गुण अवश्य अनावृत रहता हैं। नंदी का यह कथन इसका साक्ष्य है "सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणंततमो भागो णिच्चुग्घाडियो चिट्ठइ। सो विअ जइ आवरिज्जा तेणं जीवा अजीवत्तणं पाविज्जा।"

9.1 उद्देश्य– इसके अध्ययन से केवलज्ञान का सम्यक् ज्ञान हो सकेगा।

9.2 केवलज्ञान की परिभाषा

नंदीसूत्र के अनुसार जो ज्ञान सर्व द्रव्य, सर्व क्षेत्र, सर्व काल और सर्व भाव को जानता देखता है वह केवलज्ञान है।

आचारचूला से फलित होता है—केवलज्ञानी सब जीवों के सब भावों को जानता देखता है। ज्ञेय-देखता है। ज्ञेय-रूप सब भावों की सूची इस प्रकार है—

1. आगति, 2. गति, 3. स्थिति, 4. च्यवन, 5. उपपात, 6. भुक्त, 7. पीत, 8. कृत, 9. प्रतिसेवित, 10. आविष्कर्म—प्रगट में होने वाला कर्म, 11. रहस्य कर्म, 12. लपित, 13. कथित, 14. मनो-मानसिक।

षटखण्डागम में भी इसी प्रकार का सूत्र उपलब्ध है। जो मूर्त्त और अमूर्त्त सब द्रव्यों को सर्वथा, सर्वत्र और सर्व काल में जानता-देखता है, वह केवलज्ञान है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने निश्चय और व्यवहार नय के आधार पर केवलज्ञान की परिभाषा की है। बृहत्कल्प भाष्य में केवलज्ञान के पांच लक्षण बतलाए गए हैं—

1. असहाय—इन्द्रिय मन निरपेक्ष।
2. एक—ज्ञान के सभी प्रकारों से विलक्षण।
3. अनिवरित व्यापार—अविरहित उपयोग वाला।
4. अनंत—अनंत ज्ञेय का साक्षात्कार करने वाला।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5. अविकल्पित—विकल्प अथवा विभाग रहित।

तत्त्वार्थभाष्य में केवलज्ञान को स्वरूप विस्तार से बतलाया गया है। वह सब भावों का ग्राहक, सम्पूर्ण लोक और अलोक को जानने वाला है। इससे अतिशायी कोई ज्ञान नहीं है। ऐसा कोई ज्ञेय नहीं है जो केवलज्ञान का विषय न हो।

आचार्य जिनभद्रगणी ने 'केवल' शब्द के पांच अर्थ किये हैं जिनकी आचार्य हरिभद्र एवं आचार्य मलधारी ने इस प्रकार व्याख्या की है—

1. एक—केवलज्ञान मति आदि क्षायोपशमिक ज्ञानों से निरपेक्ष है, अतः वह एक है।
2. शुद्ध—केवलज्ञान को आच्छादित करने वाली मलिनता से सर्वथा मुक्त होने के कारण केवलज्ञान सर्वथा निर्मल अर्थात् शुद्ध है।
3. सकल—आचार्य हरिभद्र के अनुसार केवलज्ञान प्रथम समय में ही सम्पूर्ण रूप में उत्पन्न हो जाता है, अतः सम्पूर्ण अर्थात् सकल है। आचार्य मलधारी के अनुसार सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थों को ग्रहण करने के कारण केवलज्ञान को सकल कहा गया है।
4. असाधारण—केवलज्ञान के समान कोई दूसरा ज्ञान नहीं होता, अतः वह असाधारण है।
5. अनन्त—केवलज्ञान अतीत, प्रत्युत्पन्न एवं अनागतकालीन अनंतज्ञेयों को प्रकाशित करने के कारण अनंत है। केवलज्ञान अप्रतिपाति है अतः उसका अंत न होने से वह अनंत है। मलधारी हेमचन्द्र ने काल की प्रधानता से तथा आचार्य हरिभद्रसूरि ने ज्ञेय-द्रव्य की अपेक्षा से केवलज्ञान की अनंतता का प्रतिपादन किया है।

अपरिमित क्षेत्र एवं अपरिमित भाव को अवभासित करने का सामर्थ्य मात्र केवलज्ञान में है। अनंत द्रव्यों की अपेक्षा अनंत पर्यायों को क्षायोपशमिक ज्ञान भी जान सकते हैं पर प्रत्येक द्रव्य की अनंतानंत पर्यायों का साक्षात्कार करना केवलज्ञान का वैशिष्ट्य है। 'केवल' शब्द अनंत—यह अर्थ एवं इसकी बहुविध दृष्टिकोणों से विभिन्न व्याख्याएं मात्र जैन साहित्य में ही उपलब्ध होती है, अन्यत्र नहीं होती है इससे यह स्पष्ट होता है कि अनंतज्ञान—सर्वज्ञता की मौलिक अवधारणा मुख्यतः जैन का ही अभ्युपगम है।

उक्त व्याख्याओं के संदर्भ में सर्व द्रव्य, क्षेत्र-काल और भाव की व्याख्या इस प्रकार फलित होती है—सर्व द्रव्य का अर्थ है—मूर्त्त और अमूर्त्त सब द्रव्यों को जानने वाला। केवलज्ञान के अतिरिक्त कोई भी ज्ञान अमूर्त्त का साक्षात्कार अथवा प्रत्यक्ष नहीं कर सकता।

सर्व क्षेत्र का अर्थ है—सम्पूर्ण आकाश (लोकाकाश और अलोकाकाश) को साक्षात् जानने वाला।

सर्व काल का अर्थ है—वर्तमान व अनंत (असीम)। अतीत और भविष्य को जानने वाला। शेष कोई ज्ञान असीम काल को नहीं जान सकता।

सर्व भाव का अर्थ है—गुरुलघु और अगुरुलघु सब पर्यायों को जानने वाला। अर्थात् केवलज्ञान सर्वत्र, सर्वदा, सर्वथा रूप से सर्व पदार्थों का साक्षात्कार करता है।

9.3 केवलज्ञान के भेद

केवलज्ञान आत्मा का स्वभाव है। स्वभाव में वस्तुतः भेद नहीं होता। वह क्षायिक ज्ञान है। क्षयोपशम से उत्पन्न अवस्थाओं में न्यूनाधिकता होती है पर क्षायिकभाव पूर्ण, अखण्ड एवं सकल होता है, अतः उसमें भेद नहीं होता। परन्तु नंदी, प्रज्ञापना, स्थानांग आदि सूत्रों में केवलज्ञान के भी भेद किये गये हैं। इस संदर्भ में यह मननीय है कि वस्तुतः ये भेद केवलज्ञान के न होकर केवलज्ञानी के हैं क्योंकि ज्ञान का ज्ञानी में ज्ञान का उपचार करने से केवलज्ञान के दो प्रकार होते हैं—1. भवस्थ केवलज्ञान और 2. सिद्ध केवलज्ञान।

9.3.1 भवस्थ केवलज्ञान

भवस्थ केवलज्ञान वह है जो मनुष्यभव में अवस्थित व्यक्ति के ज्ञानावरणीय आदि चार घातिकर्मों के क्षीण होने पर उत्पन्न होता है। जब तक शेष चार अघाति-कर्म क्षीण नहीं होते, तब तक वह भवस्थ केवलज्ञान कहलाता है। भवस्थ केवलज्ञान के दो भेद किए गए हैं—1. सयोगीभवस्थ केवलज्ञान, 2. अयोगीभवस्थ केवलज्ञान।

केवलज्ञान शरीरधारी मनुष्य के होता है। शरीर की प्रवृत्ति और केवलज्ञान में कोई विरोध नहीं है। अतः शारीरिक, मानसिक और वाचिक क्रियाओं के चलते केवलज्ञान का उपलब्ध होना तथा उसका बना रहना

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सयोगीभवस्थ केवलज्ञान है तथा इन क्रियाओं के निरूद्ध होने पर वही केवलज्ञान अयोगीभवस्थ केवलज्ञान कहलाता है। शरीर से मुक्त होने पर वही सिद्ध केवलज्ञान कहलाता है। भवस्थ और सिद्ध केवलज्ञान के ये दो भेद सापेक्ष हैं। मीमांसक दर्शन का अभिमत है कि मनुष्य सर्वज्ञ नहीं हो सकता। वैशेषिक दर्शन का अभिमत है कि मुक्त जीव में ज्ञान नहीं होता। ये दोनों अभिमत जैन दर्शन को स्वीकार नहीं हैं। भवस्थ केवलज्ञान इस तथ्य का सूचक है कि मनुष्य सर्वज्ञ हो सकता है। सिद्ध केवलज्ञान इस स्वीकृति का सूचक है कि मुक्त आत्मा में केवलज्ञान विद्यमान रहता है।

9.3.2 सिद्ध केवलज्ञान

जब केवली के संसार के हेतुभूत कर्म क्षीण हो जाते हैं, तब वह सिद्ध अवस्था को प्राप्त करता है। सिद्ध का केवलज्ञान सिद्ध केवलज्ञान कहलाता है। सिद्ध केवलज्ञान के दो भेद किए गये हैं—अनंतर सिद्ध केवलज्ञान और परस्पर सिद्ध केवलज्ञान। ये दो भेद काल-सापेक्ष किए गये हैं अनंतर सिद्ध केवलज्ञान के पन्द्रह भेद सिद्ध होने की पूर्व अवस्था के आधार पर किए गये हैं। ये भेद जैनधर्म की विशुद्ध आध्यात्मिकता का प्रतिपादक हैं। इनमें लिंग, वेश आदि बाह्य परिस्थिति से मुक्त होकर केवल आत्मा के आंतरिक विकास की स्वीकृति है। वे पन्द्रह भेद ये हैं—

1. तीर्थ सिद्ध—जो श्रमणसंघ में प्रव्रजित होकर मुक्त होता है।
2. अतीर्थ सिद्ध—श्रमणसंघ के अनस्तित्व काल में जो मुक्त होता है। चूर्णिकार ने मरूदेवी आदि का उदाहरण प्रस्तुत किया है। हरिभद्रसूरि ने बताया है—जो जातिस्मरण के द्वारा मोक्षमार्ग को प्राप्त कर सिद्ध होते हैं वे अतीर्थसिद्ध कहलाते हैं। चूर्णिकार ने जातिस्मरण का उल्लेख स्वयंबुद्ध के प्रसंग में किया है। स्वयंबुद्ध दो प्रकार के होते हैं—तीर्थंकर और तीर्थंकर से इतर। प्रस्तुत प्रसंग में तीर्थंकर से इतर विवक्षित हैं।
3. तीर्थंकर सिद्ध—ऋषभ आदि जो केवली के रूप में मुक्त होते हैं।
4. अतीर्थंकर सिद्ध—जो सामान्य केवली के रूप में मुक्त होते हैं।
5. स्वयंबुद्ध सिद्ध—जो स्वयंबुद्ध होकर मुक्त होता है। स्वयंबुद्ध के दो अर्थ किए गए हैं—
   क. जिसे जातिस्मरण के कारण बोधि प्राप्त हुई है।
   ख. जिसे बाह्य निमित्त के बिना बोधि प्राप्त हुई है। मलयगिरि ने भी इस प्रसंग में जातिस्मरण का उल्लेख किया है।
6. प्रत्येकबुद्ध सिद्ध—जो प्रत्येक बुद्ध होकर मुक्त होता है। प्रत्येक बुद्ध का अर्थ है किसी एक बाह्य निमित्त से प्रतिबुद्ध होने वाला।
7. बुद्धबोधित सिद्ध—जो बुद्धबोधित होकर मुक्त होता है। चूर्णिकार ने बुद्धबोधित के चार अर्थ किए हैं—1. स्वयंबुद्ध तीर्थंकर आदि के द्वारा बोधि प्राप्त। 2. कपिल आदि प्रत्येक बुद्ध के द्वारा बोधि प्राप्त। 3. बुद्धबोधित के द्वारा बोधि प्राप्त। 4. आचार्य के द्वारा प्रतिबुद्ध व्यक्ति से बोधि प्राप्त।
8. स्त्रीलिंग सिद्ध—जो स्त्री शरीर में मुक्त होता है। लिंग के तीन अर्थ हैं—1. वेद (कामविकार), 2. शरीर-रचना, 3. नेपथ्य (वेशभूषा)। यहां लिंग का अर्थ शरीर-रचना है।
9. पुरुषलिंग सिद्ध—जो पुरुष शरीर में मुक्त होता है।
10. नपुंसकलिंग सिद्ध—जो कृत्रिम नपुंसक के रूप में होता है। चूर्णि और वृत्तिद्वय में नपुंसक की व्याख्या उपलब्ध नहीं है। भगवती के अनुसार जन्मजात नपुंसक चारित्र का अधिकारी नहीं होता है, कृत नपुंसक ही चारित्र का अधिकारी होता है। अभयदेवसूरि ने नपुंसक का अर्थ कृत नपुंसक किया है।
11. स्वलिंगसिद्ध—जो जैन मुनि के वेश में मुक्त होता है।
12. अन्यलिंग सिद्ध—जो अन्य साधु के वेश में मुक्त होता है।
13. गृहलिंग सिद्ध—जो गृहस्थ के वेश में मुक्त होता है।
14. एकसिद्ध—एक समय में एक जीव का जीव होना।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

15. अनेकसिद्ध—एक समय में अनेक जीवों का सिद्ध होना। एक समय में जघन्यत: दो और उत्कृष्टत: एक सौ आठ सिद्ध हो सकते हैं। उत्तराध्ययन में उनकी संख्या इस प्रकार निर्दिष्ट हैं—

1. नपुंसक	स्त्री	पुरुष	2. गृहलिंग	अन्यलिंग	स्वलिंग
10	20	108	4	10	108
3. उत्कृष्ट अवगाहना		जघन्य अवगाहना			मध्यम अवगाहना
2		4			108
4. ऊर्ध्वलोक	समुद्र	अन्य जलाशय		नीचालोक	तिरछालोक
4	2	3		20	108

सिद्ध के पन्द्रह भेद नंदी सूत्रकार के स्वोपज्ञ हैं या इनका कोई प्राचीन आधार है? प्रतीत होता है यह परम्परा प्राचीन है। उमास्वाति ने सिद्ध की व्याख्या में बारह अनुप्रयोग द्वार बतलाए हैं। वे प्रस्तुत सूत्र में निर्दिष्ट पन्द्रह भेदों की अपेक्षा अधिक व्यापक है।

स्थानांग में सिद्ध के पन्द्रह प्रकारों का उल्लेख मिलता है। प्रज्ञापना में भी इनका उल्लेख है। स्थानांग संकलन सूत्र है इसलिए इसकी प्राचीनता के बारे में निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। प्रज्ञापना नंदी की अपेक्षा प्राचीन है। इसलिए प्रज्ञापना के पश्चात् तत्त्वार्थसूत्र और उसके पश्चात् नंदी में इन पन्द्रह भेदों का उल्लेख देखा जाता है। हो सकता है श्यामार्य ने किसी प्राचीन आगम से उनका अवतरण किया है।

9.3.3 केवली : योगनिरोध की प्रक्रिया

केवली का जीवनकाल जब अन्तर्मूहूर्त्त मात्र शेष रहता है, तब वह मन, वचन और काया की प्रवृत्ति का निरोध करता है। उसकी प्रक्रिया इस प्रकार है—

शुक्ल ध्यान के तृतीय चरण (सूक्ष्म-क्रिया-अप्रतिपाति) में स्थित होकर वह सर्वप्रथम मनोयोग का निरोध करता है। जो जीव पर्याप्त है, संज्ञी है, जघन्य मनयोगी (सबसे कम मन की प्रवृत्ति करने वाला) है, उसके जितने मनोद्रव्य (मन के पुद्‌गल) हैं और उनका जितना व्यापार (प्रवृत्ति) है, उससे असंख्येय गुणहीन (गुणा कम) मनोद्रव्य और व्यापार का प्रतिसमय निरोध करते-करते असंख्य समयों में उसका पूर्ण निरोध करता है।

उसके पश्चात् वचन योग का निरोध करता है। द्वीन्द्रिय प्राणी के जघन्य वचनयोग के पर्यायों से असंख्येय गुणहीन वचन-योग-पर्यायों का प्रतिसमय निरोध करते-करते असंख्य समयों में वचनयोग का पूर्ण निरोध करता है। फिर काययोग का निरोध करता है। प्रथम समय के उत्पन्न सूक्ष्म पनक जीव के जघन्य काययोग से असंख्येय गुणहीन काययोग के पुद्‌गल और व्यापार का प्रतिसमय निरोध करते-करते तथा शरीर की अवगाहना के तीसरे भाग को छोड़ते हुए असंख्य समयों में काययोग का (श्वासोच्छवास सहित) पूर्ण निरोध करता है। पूर्ण योगनिरोध होते ही अयोगी या शैलेशी अवस्था प्राप्त हो जाती है।

'अ, इ, उ, ऋ, लृ'—इन पांच ह्स्वाक्षरों के उच्चारण काल तक केवली शैलेशी अवस्था में रहता है। यह उच्चारण न अतिशीघ्र होता है, न प्रलम्ब, किन्तु मध्यम भाव में होता है। काययोग के निरोध के प्रारम्भिक समय में सूक्ष्मक्रिया अनिवृत्ति रूप शुक्लध्यान होता है और शैलेशी अवस्था के समय समुच्छिन्नक्रिया रूप शुक्लध्यान होता है।

9.4 केवलज्ञान और केवलदर्शन

केवलज्ञान का सहवर्ती दर्शन केवलदर्शन है। दर्शनयुग में इन दोनों के उपयोग के विषय में बड़ा ऊहापोह देखा जाता है। वह ऊहापोह इस रूप में सामने आता है कि केवलज्ञान और केवलदर्शन अपना कार्य साथ-साथ करते हैं या एक दूसरे के पश्चात् अथवा दोनों का कार्य एक ही है। इन्हें क्रमश: युगपत् क्रमिक तथा अभेद पक्ष के रूप में देखा जा सकता है। इन पक्षों के अपने-अपने तर्क हैं जो निम्नानुसार हैं—

1. क्रमपक्ष—इस मत के अनुसार केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों के उपयोग भिन्न-भिन्न हैं। वे एक साथ नहीं होते क्योंकि आगमों में बताया गया है कि जिस समय केवली आकार, हेतु, उपमा, दृष्टान्त आदि से युक्त रत्नप्रभा पृथ्वी को जानता है उस समय देखना नहीं क्योंकि ज्ञान साकार होता है और दर्शन अनाकार।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ऐतिहासिक दृष्टि से यह पक्ष आगमिक होने के कारण सबसे प्राचीन है। पर दार्शनिक युग में अन्य पक्षों का खण्डन कर इसकी स्थापना करने का श्रेय जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण को है जिन्होंने विशेषावश्यकभाष्य तथा विशेषणवती में अन्य दोनों पक्षों का खण्डन कर इसका युक्ति पुरःसर प्रतिपादन किया है। जिनदासगणी, हरिभद्रसूरि तथा मलयगिरि ने भी उन्हीं का अनुसरण कर क्रमपक्ष की प्रतिष्ठा की है। क्रमिक पक्ष न मानने पर मुख्यतः ये दोष आते हैं—

क. ज्ञान और दर्शन को आवृत करने वाली कर्मप्रकृतियां भिन्न-भिन्न हैं। अतः यदि दोनों को अभिन्न माना जाएगा तो एक गुण का आवरण दो कर्मों से मानना होगा अथवा उनमें से एक प्रकार के कर्म के अभाव का प्रसंग आएगा।

ख. युगपद् उपयोग वादियों ने जो क्रमिक पक्ष के आधार पर केवली पर दोष दिए हैं वे सभी छद्मस्थों पर भी आएंगे, अतः दोनों पक्ष इस विषय में समान तुल्य ही हैं।

ग. यदि उपयोगावस्था में ही ज्ञान, दर्शन आदि का सद्भाव माना जाए तो एक छद्मस्थ कभी भी चतुर्ज्ञानी और त्रिदर्शनी नहीं हो सकता, जो कि आगम सम्मत नहीं है।

घ. क्रमिक-उपयोगवाद केवल छद्मस्थ के लिए ही उपन्यस्त है अथवा यह पर वक्तव्यता है—जैसाकि सन्मतितर्क प्रकरण में कहा गया है। इस तर्क की अयुक्तता बताते हुए जिनभद्रगणी का मत है कि सूत्र में सर्वत्र जब छद्मस्थ के बाद छद्मातीत का ही उपदेश है तब प्रथम कल्पना कैसे युक्तिसंगत होगी तथा व्याख्याप्रज्ञप्ति के 25वें शतक में स्पष्टतया क्रमोपयोग का समर्थक सूत्र होने से उसे पर वक्तव्यता मानना भी समीचीन नहीं।

इस प्रकार प्रस्तुत मत के अनुसार जीवत्व के समान क्रमोपयोग भी जीव का स्वभाव है, अतः उसकी सिद्धि के लिए अन्य हेतु की अपेक्षा नहीं है। युगपत् उपयोगवाद और अभिन्नोपयोगवाद की ओर से क्रमिक पक्ष पर जो-जो आक्षेप किए गये, जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने उन सबका, विशेषणवती एवं विशेषावश्यकभाष्य में युक्तिपुरःसर समाधान किया है। जिनदासगणी ने विशेषवती की 153 से 256 तक की गाथाओं में से कुछ का उपयोग किया है, हरिभद्र एवं मलयगिरि की टीका भी उसी पर अवलम्बित है। मुख्यतः उन आक्षेपों का समाधान इस प्रकार है—

अ. केवलज्ञान-केवलदर्शन को सादि-अनंत उपयोग की दृष्टि से नहीं कहा गया है। जैसे मति आदि तीनों ज्ञानों की कालस्थिति 66 सागरोपम बताई जाती है किन्तु वह लब्धि की अपेक्षा से है। उपयोग की अपेक्षा तो वे आन्तमौहूर्तिक ही हैं।

आ. आवरणक्षय को मिथ्या कहना भी युक्त नहीं क्योंकि जिस प्रकार पंचविध अंतराय के क्षय के बावजूद भी केवली सदा दान, भोग आदि नहीं करते, वैसे ही ज्ञानावरण-दर्शनावरण के विषय में समझना चाहिए। अंतराय क्षय का तात्त्विक फल है—बाधा का अभाव, वैसे ही ज्ञानावरण एवं दर्शनावरण के समूल क्षय का तात्त्विक फल है कृत्स्न ज्ञान-दर्शन।

इ. असर्वज्ञ-असर्वदर्शी के आक्षेप का समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि जैसे एक साथ कोई भी चार ज्ञानों का उपयोग नहीं करता फिर भी चतुर्ज्ञानी कहलाता है वैसे ही सर्वज्ञ-सर्वदर्शित्व में कोई बाधा नहीं।

ई. जिनकी युगपत् उत्पत्ति हो, उनका उपयोग भी युगपत् होता है—यह कोई नियम नहीं है। सम्यक्त्व, मतिज्ञान, एवं श्रुतज्ञान की उत्पत्ति एक साथ होती है पर वे न तो एक हैं और न समकालीन उपयोग, वैसे ही केवलज्ञान-केवलदर्शन न अभिन्न है और न एककालीन उपयोग।

उ. अभेदवादी का यह कहना है कि 'क्षीणावरण में जैसे देशज्ञान संभव नहीं, वैसे ही केवलदर्शन भी संभव नहीं' भी अयुक्त है क्योंकि जैसे देशज्ञान के अपगम से केवलज्ञान होता है वैसे चक्षु आदि देशदर्शन के अपगम से सर्वदर्शन क्यों नहीं होगा? केवल इच्छामात्र से वस्तुस्थिति नहीं होती।

ऊ. अभेदवादी यह कहे कि—द्रव्यतः केवलज्ञानी सर्वद्रव्यों को जानता देखता है इत्यादि सूत्र केवलज्ञान-दर्शन के अभेद का प्रतिपादन है तब तो उसके मत से अवधिज्ञान आदि में भी ज्ञानदर्शन की एकता का प्रसंग आएगा, जो उसे भी मान्य नहीं है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

युक्तित: अबाधित एवं सूत्र में अनेकश: कथित होने से यह स्पष्ट है कि क्रमोपयोगवाद ही निर्दिष्ट है। जिनभद्रगणी का मत है कि जिस प्रकार अनाकार उपयोग एवं साकारोपयोग के विषय में ग्रंथों में बहुत से प्रश्न प्रश्नोत्तर उपलब्ध हैं वैसे अभिन्न उपयोग के विषय में एक भी प्रमाण नहीं हैं।

2. युगपत् उपयोग पक्ष—इस मत के अनुसार भी केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों भिन्न-भिन्न उपयोग हैं पर वे क्रमश: उत्पन्न न होकर एकसाथ उत्पन्न होते हैं। एक ही समय में केवली जानता भी है और देखता भी है। सम्पूर्ण दिगम्बर आम्नाय में एकसाथ इसी पक्ष के दर्शन होते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द, पूज्यपाद और समन्तभद्र ने जहां दोनों मतों की चर्चा तक नहीं की है, वहां अकलंक ने अष्टशती एवं राजवार्तिक में क्रमिकपक्ष के मानने वालों को सर्वज्ञनिन्दक कहा है। श्वेताम्बर आम्नाय में इसके प्रवेश का श्रेय संभवत: उमास्वाति को है। उपाध्यायजी के अनुसार इस पक्ष को युक्तित: स्थापित करने का श्रेय मल्लवादि को है। इस पक्ष की मुख्य युक्ति है कि सूत्र में केवलज्ञान एवं केवलदर्शन को सादि-अपर्यवसित बताया है। अत: दोनों उपयोगों को युगपत् मानना आवश्यक है। इस मत के अनुसार क्रमिक उपयोगपक्ष में मुख्यत: निम्नलिखित दोषों का प्रसंग आता है—

क. अर्थात् एक समय ज्ञान और दूसरे समय दर्शन मानने से दोनों सादि-सान्त हो जाएंगे।

ख. प्रथम समय केवलज्ञान हुआ, दूसरे समय केवलदर्शन। इसका अभिप्राय यह होगा कि दूसरे समय केवलज्ञानावरण का क्षय और प्रथम समय केवलदर्शनावरण का क्षय व्यर्थ है। अत: आवरण रहित दो प्रदीपों के समान उन्हें युगपत् ही प्रकाश करना चाहिए।

ग. दोनों का एक साथ उपयोग न माना जाए तो परस्पर आवरण का प्रसंग आएगा क्योंकि कर्मावरण के अभाव होने पर भी एक के सद्भाव में दूसरे का अभाव माना जाता है।

घ. दोनों आवरणों के क्षय होने पर भी यदि केवलज्ञान-दर्शन का आविर्भाव न माना जाए तो दो भिन्न-भिन्न आवरण मानना समीचीन न होगा।

ङ. क्रमपक्ष में असर्वज्ञत्व का प्रसंग आएगा क्योंकि जब सर्वज्ञ होगा तब सर्वदर्शी नहीं होगा और सर्वदर्शी होगा तब सर्वज्ञ नहीं होगा।

2. अभेदपक्ष—अभेदपक्ष के अनुसार केवलज्ञान और केवलदर्शन नामक दो भिन्न-भिन्न उपयोग नहीं हैं। वस्तुत: उपयोग एक ही है। छद्मस्थ की चेतना आवृत्त होती है, अत: वह एक साथ सामान्य और विशेष को नहीं जान सकता। फलत: ज्ञान और दर्शन दो भिन्न-भिन्न समयवर्ती उपयोगों की उपयुज्यता है। पर जहां चेतना निरावरण हो गयी है वहां सामान्य और विशेष का समकालीन ग्रहण होता है अत: कैवल्य अवस्था में ज्ञान और दर्शन में न अवस्था-भेद है और न कालभेद। जैनदर्शन के इतिहास में अभेद पक्ष के पुरस्कर्ता एकमात्र सिद्धसेन दिवाकर को कहा जाए तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। उपाध्याय यशोविजय ने अभेद पक्ष के स्थापन में उन्हीं की युक्तियों का अनुसरण किया है।

सिद्धसेन के अनुसार अस्पृष्ट विषय का ग्रहण, सामान्य अवबोध दर्शन कहलाता है। केवली के केवलोपयोग में अस्पृष्ट एवं स्पृष्ट, सामान्य और विशेष, व्यक्त और अव्यक्त का भेद नहीं होता। अत: एक ही उपयोग को विशेषग्रहण की अपेक्षा ज्ञान और सामान्यग्रहण की अपेक्षा दर्शन कह दिया जाता है। यहां प्रवृत्तिनिमित्तक धर्मों का भेद है न कि उपयोग का। सिद्धसेन ने भी अभेदपक्ष के स्थापन में युगपत् पक्ष के समान केवल उपयोग की सादि-अनंत की युक्ति का ही प्रयोग किया है। उनका मत है कि जो युक्तियां क्रमिकपक्ष की सदोषता के लिए उपन्यस्त की गई हैं वे ही युगपत् पक्ष की भी सदोषता को ख्यापित करती हैं। अत: ये पक्ष वस्तुत: परवक्तव्यता की अपेक्षा से शास्त्रों में कहे गए हैं। उनके अनुसार केवलज्ञान और केवलदर्शन को भिन्न मानने पर निम्नांकित दोष आते हैं—

क. केवलज्ञान और दर्शन की अनंतता खण्डित हो जाएगी।

ख. क्षीणावरण केवली में अव्यक्त व्यक्त का भेद युक्तियुक्त नहीं है अत: अव्यक्त (दर्शन) और व्यक्त (ज्ञान)—ये दो उपयोग नहीं हो सकते।

ग. इन पक्षों के अनुसार केवली अज्ञातभाषी और अदृष्टभाषी हो जाएगा।

घ. केवलज्ञान मात्र विशेषग्राही और केवलदर्शन मात्र सामान्यग्राही माना जाए तो सर्वज्ञत्व एवं सर्वदर्शित की उत्पत्ति कैसे होगी?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ड. अनाकार उपयोग साकार उपयोग की अपेक्षा नियमत: अल्पविषयक होता है अत: क्रमिक उपयोग मानने पर केवलदर्शन को अनंत नहीं माना जा सकता।
च. लब्धि की दृष्टि से केवली को सर्वज्ञ सर्वदर्शी कहना भी युक्त नहीं क्योंकि फिर तो उसे पंचज्ञानी भी कहा जा सकेगा, जो कि शास्त्र विरूद्ध है।

उपाध्याय यशोविजयजी ने ज्ञानबिन्दु में केवलज्ञान-दर्शन के विषय में मुख्यत: सिद्धसेन दिवाकर के ही मत का अवलम्बन लिया है। इसके साथ ही उन्होंने भिन्न-भिन्न नय-दृष्टियों से उनका समन्वय करते हुए कहा कि व्यवहार नय की अपेक्षा से मल्लवादी का युगपद् उपयोगवाद, ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा से जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण का क्रमिक पक्ष और अभेद प्रधान संग्रहनय की अपेक्षा से सिद्धसेन दिवाकर का अभिन्नोपयोगवाद युक्तिसंगत है।

आचार्य महाप्रज्ञजी ने केवलज्ञान और केवलदर्शन के क्रमिक पक्ष को स्वीकृत करते हुए लिखा है कि केवली की ज्ञानचेतना अनावृत होती है, अत: वह पहले द्रव्य के परिवर्तन और उसकी क्षमता को जानता है और उसके बाद उसकी एकता को जानता है। जहां एक सामान्य व्यक्ति को द्रव्य की सामान्य सत्ता को जानने में असंख्यात कालखण्ड लग जाते हैं फिर वह एक-एक कर उसकी विशेषता को जान पाता है वहां असीम चेतना में पहले द्रव्य की अनंत शक्तियों का पृथक्-पृथक् आकलन होता है और बाद में उन-उन शक्तियों में अनुस्यूत एकता का ज्ञान होता है अर्थात् पहले क्षण में केवलज्ञान होता है उसके बाद केवलदर्शन होता है।

9.5 सर्वज्ञवाद और विभिन्न दर्शन

ज्ञान के दो विभाग हैं—क्षायोपशमिक और क्षायिक। मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यव—ये चार ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होते हैं इसलिए क्षायोपशमिक हैं। केवलज्ञान ज्ञानावरण के सर्वथा क्षय से उत्पन्न होता है इसलिए वह क्षायिक है। क्षायोपशमिक ज्ञान का विषय है मूर्त्त द्रव्य, पुद्गलद्रव्य। क्षायिक ज्ञान का विषय मूर्त्त और अमूर्त्त—दोनों द्रव्य हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और जीव—ये अमूर्त्त द्रव्य हैं। क्षायोपशमिक ज्ञान के द्वारा इनका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। अमूर्त्त का परोक्ष रूप से ज्ञान शास्त्र से होता है।

दार्शनिक युग में केवलज्ञान की विषयवस्तु के आधार पर सर्वज्ञवाद की विशद चर्चा हुई है। पण्डित सुखलालजी ने उस चर्चा का समवतार इस प्रकार किया है ..... "न्याय वैशेषिक दर्शन जब सर्व विषयक साक्षात्कार का वर्णन करता है तब वह सर्व शब्द से अपनी परम्परा में प्रसिद्ध द्रव्य, गुण आदि सातों पदार्थों को संपूर्ण भाव से लेता है। वेदान्त दर्शन सर्व शब्द से अपनी परम्परा में पारमार्थिक रूप से प्रसिद्ध एकमात्र पूर्ण ब्रह्म को ही लेता है। जैनदर्शन भी सर्व शब्द से अपनी परम्परा में प्रसिद्ध षड्द्रव्यों को पूर्णरूपेण लेता है। इस तरह उपर्युक्त सभी दर्शन अपनी परम्परा में मान्य पदार्थों के साक्षात्कार को पूर्ण साक्षात्कार मानते हैं और तदनुसारी लक्षण भी करते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने केवल ज्ञान का लक्षण व्यवहार और निश्चय—दो दृष्टियों से किया है—व्यवहार नय से केवली भगवान् सबको जानते हैं और देखते हैं। निश्चय से केवलज्ञानी अपनी आत्मा को जानते हैं और देखते हैं। जैनदर्शन के अनुसार ज्ञान स्व-पर प्रकाशी है। वह स्वप्रकाशी है इस आधार पर केवलज्ञानी निश्चय नय से आत्मा को जानता-देखता है, यह लक्षण संगत है। वह पर-प्रकाशी है, इस आधार पर वह सबको जानता-देखता है, यह लक्षण संगत है।

केवलज्ञान आत्मा का स्वभाव है। वह स्वभाव है इसलिए मुक्त अवस्था में भी विद्यमान रहता है। प्रत्यक्ष अथवा साक्षात्कारित्व उसका स्वाभाविक गुण है। ज्ञानावरण कर्म से आच्छन्न होने के कारण उसके चार भेद किए गए हैं—मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यव। ज्ञान के तारतम्य के आधार पर असंख्य भेद बन सकते हैं। ज्ञानावरण का सर्वविलय होने पर ज्ञान के तारतम्यजनित भेद समाप्त हो जाते हैं और केवलज्ञान प्रकट हो जाता है।

केवलज्ञान का अधिकारी सर्वज्ञ होता है। सर्वज्ञ और सर्वज्ञता न्याय प्रधान दर्शन युग का एक महत्त्वपूर्ण चर्चनीय विषय रहा है। जैनदर्शन को केवलज्ञान मान्य है इसलिए सर्वज्ञवाद उसका सहज स्वीकृत पक्ष है। आगम युग में उसके स्वरूप और कार्य का वर्णन मिलता है किन्तु उसकी सिद्धि के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया गया। दार्शनिक युग में मीमांसक, चार्वाक आदि ने सर्वज्ञत्व को अस्वीकार किया तब जैन दार्शनिकों ने सर्वज्ञत्व की सिद्धि के लिए कुछ तर्क प्रस्तुत किए। ज्ञान में तारतम्य होता है किन्तु कहीं वही

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पूर्णता को भी प्राप्त करता है। जहां तारतम्य समाप्त हो जाता है। वह पूर्णता की स्थिति है केवलज्ञान है। इस युक्ति का उपयोग मल्लवादी हेमचन्द्र, उपाध्याय यशोविजय आदि सभी दार्शनिकों ने किया है।

जैनदर्शन के अनुसार ज्ञान आत्मा का गुण है। वह अनावृत अवस्था में भेद या विभाग शून्य होता है। आवरण के कारण उसके विभाग होते हैं और तारतम्य होता है। ज्ञान के तारतम्य के आधार पर उसकी पराकाष्ठा को केवलज्ञान मानना एक पक्ष है किन्तु इससे अधिक संगत पक्ष यह है कि केवलज्ञान आत्मा का स्वभाव अथवा गुण है। ज्ञानावरण कर्म के कारण उसमें तारतम्य होता है। ज्ञानावरण के क्षय होने पर स्वभाव अपने पूर्ण रूप में प्रगट हो जाता है। किसी अन्य दर्शन में ज्ञान आत्मा का स्वभाव या गुण रूप में स्वीकृत नहीं है। इसलिए उनमें सर्वज्ञता का वह सिद्धान्त मान्य नहीं है जो जैनदर्शन में है। न्याय वैशेषिक आदि दर्शनों में ज्ञान आत्मा के गुण के रूप में सम्मत नहीं है इसलिए उन्हें मनुष्य की सर्वज्ञता का सिद्धान्त मान्य नहीं हो सकता। बौद्ध दर्शन में स्थाई आत्मा मान्य नहीं है इसलिए बौद्ध भी सर्वज्ञवाद को स्वीकार नहीं करते। वेदान्त के अनुसार केवल ब्रह्म ही सर्वज्ञ हो सकता है, कोई मनुष्य नहीं। सांख्य दर्शन में केवलज्ञान अथवा कैवल्य की अवधारणा स्पष्ट है।

जैनदर्शन सम्मत सर्वज्ञता के विरोध में मीमांसकों ने प्रबल तर्क उपस्थित किए। उनके अनुसार प्रत्यक्ष, उपमान, अनुमान, आगम, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि किसी भी प्रमाण से सर्वज्ञता की सिद्धि नहीं हो सकती। न्याय और वैशेषिक ईश्वरवादी दर्शन हैं। वे ईश्वर को सर्वज्ञ मानते हैं। कालक्रम से उनमें योगी-प्रत्यक्ष की अवधारणा प्रविष्ट हुई है पर जैनदर्शन में केवलज्ञान या सर्वज्ञता मोक्ष की अनिवार्य शर्त है। न्याय और वैशषिक का मत है कि ज्ञान मुक्त अवस्था में नहीं रहता। ईश्वर का ज्ञान नित्य है और योगी-प्रत्यक्ष अनित्य। शांतरक्षित ने कुमारिल के तर्कों का उत्तर दिया। किन्तु शांतरक्षित के उत्तर सर्वज्ञत्व की सिद्धि में बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं हो सकते। बौद्ध दर्शन सर्वज्ञत्व के विरोध में अग्रणी रहा है। उत्तरवर्ती बौद्धों ने सर्वज्ञत्व का जो स्वीकार किया है, वह अस्वीकार और स्वीकार के मध्य झूलता दिखाई देता है। सर्वज्ञत्व की सिद्धि में सर्वाधिक प्रयत्न जैन दार्शनिकों का है। इस प्रयत्न की पृष्ठभूमि में दो हेतु हैं—1. सर्वज्ञता आत्मा का स्वभाव है। 2. मोक्ष के लिए सर्वज्ञता प्रभाचन्द्र आदि ने दिया है। जिसका सारांश यही है कि ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। ज्ञानावरण के क्षीण होने पर सकल ज्ञेय को जानने की उसमें क्षमता है।

9.6 सारांश

पण्डित सुखलालजी ने 'निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्' योग दर्शन के इस सूत्र को सर्वज्ञ-सिद्धि का प्रथम सूत्र माना है। जैन आचार्यों ने भी इस युक्ति का अनुसरण किया है किन्तु सर्वज्ञता की सिद्धि का मूल सूत्र भगवती सूत्र में विद्यमान है। वह प्राचीन है तथा योग दर्शन के सूत्र से सर्वथा भिन्न है। सर्वज्ञता की सिद्धि का हेतु है अतीन्द्रियता। इन्द्रिय ज्ञान स्पष्ट है। उसका प्रतिपक्ष अवश्य है। सर्वज्ञता इन्द्रिय और मन से सर्वथा निरपेक्ष है। वह अतीन्द्रिय ज्ञान है।

9.7 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. केवलज्ञान को परिभाषित करते हुए उसके भेदों का वर्णन करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. सर्वज्ञवाद की अवधारणा को स्पष्ट करें। अथवा
   केवलज्ञान एवं केवलदर्शन के उपयोग की प्रक्रिया के मतों का उल्लेख करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. केवलज्ञान प्रत्यक्ष है—क. क्षायिक ख. क्षायोपशमिक ग. औदयिक घ. औपशमिक
2. केवलज्ञान एवं केवलदर्शन के उपयोग के संदर्भ में कितने मत प्रचलित हैं—
   क. दो ख. पांच ग. तीन घ. आठ।
3. कितने काल तक केवली शैलेशी अवस्था में रहता है—
   क. दो दीर्घ स्वरों के उच्चारण तक ख. दो ह्रस्व स्वर के उच्चारण तक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ग. दो दीर्घ एवं एक स्वर के उच्चारण तक घ. पांच ह्रस्वाक्षरों के उच्चारण तक।

4. केवली के योग निरोध की प्रक्रिया क्या है—
   क. क्रमशः वचनयोग, मनयोग एवं काययोग ख. क्रमशः मनयोग, वचनयोग एवं का योग
   ग. क्रमशः मनयोग का योग एवं वचनयोग घ. क्रमशः काय योग, मनयोग एवं वचनयोग।
5. केवलज्ञान होता है—
   क. जो मूर्त्त द्रव्यों को जानता है। ख. जो मात्र अमूर्त्त द्रव्यों को जानता है
   ग. जो मूर्त्त एवं अमूर्त्त सम्पूर्ण द्रव्य पर्याय को जानता है घ. जो केवल प्र्याय को जानता है।
6. तीर्थसिद्ध किसे कहते हैं—
   क. जो श्रमण संघ में प्रव्रजित होकर मुक्त होता है। ख. जो तीर्थ की स्थापना करके मुक्त होता है।
   ग. जो प्रव्रजित हुए बिना ही मुक्त हो जाता है। घ. वह संघ में प्रव्रजित हो भी सकता है और नहीं भी।
7. न्याय और वैशेषिक दर्शन है—क. अनीश्वरवादी ख. ईश्वरवादी ग. कर्मवादी घ. प्रकृतिवादी।
8. सर्वज्ञता है—क. आत्म का स्वभाव ख. विभाव ग. जड़ का स्वभाव घ. केवल मनुष्य का स्वभाव।
9. सर्वक्षेत्र के ज्ञाता का अर्थ—क. सम्पूर्ण आकाश (लोकाकाश और अलोकाकाश) को साक्षात् जानने वाला। ख. लोकाकाश को जानने वाला ग. अलोकाकाश को जानने वाला घ. मनुष्यलोक को जानने वाला।
10. भवस्थ केवलज्ञान के दो भेद कौन-से हैं—क. सयोगी भवस्थ केवलज्ञान एवं अयोगी भवस्थ केवलज्ञान ख. सयोगी एवं सिद्ध अवस्था का केवलज्ञान ग. अयोगी एवं मनयोगी भवस्थ केवलज्ञान घ. अयोगी एवं वचनयोगी भवस्थ केवलज्ञान।

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संवर्ग-4 : जैन न्याय एवं प्रत्यक्ष प्रमाण

इकाई-10 : जैन-न्याय का उद्‌भव एवं विकास

संरचना

10.0 प्रस्तावना
10.1 उद्देश्य
10.2 जैन न्याय के तीन युग
10.3 आगमयुग का जैन न्याय
10.4 ज्ञान का स्वरूप
10.5 ज्ञान का मूल स्रोत और उत्पत्ति
10.6 ज्ञान की सीमा
10.7 इन्द्रिय ज्ञान और प्रमाणशास्त्र
10.8 दर्शनयुग का जैन न्याय
10.9 आगम और हेतु का समन्वय
10.10 अहेतुगम्य पदार्थ
10.11 हेतुगम्य पदार्थ
10.12 ज्ञान का प्रमाणीकरण
10.13 प्रत्यक्ष प्रमाण की संपर्कसूत्रीय परिभाषा
10.14 अनेकान्त-व्यवस्था और दर्शन समन्वय
10.15 समन्वय के आयाम
10.16 सारांश
10.17 अभ्यास प्रश्नावली

10.0 प्रस्तावना

इस अध्याय में जैन न्याय के विकास को दर्शाया गया है। जैन न्याय के विकास की चर्चा से पूर्व न्याय को परिभाषित करना आवश्यक है।

न्याय की परिभाषा

वस्तु का अस्तित्व स्वतः सिद्ध होता है। ज्ञाता उसे जाने या न जाने, इससे उसके अस्तित्व में कोई अन्तर नहीं आता। वह ज्ञाता के द्वारा जानी जाती है तब प्रमेय बन जाती है और ज्ञाता जिससे जानता है वह ज्ञान यदि सज़्यक् या निर्णायक होता है तो प्रमाण बन जाता है। इसी आधार पर न्यायशास्त्र की परिभाषा निर्धारित की गई। न्याय-भाष्यकार वात्स्यायन के अनुसार प्रमाण के द्वारा अर्थ का परीक्षण 'न्याय' कहलाता है। उमास्वाति के अनुसार अर्थ का अधिगम प्रमाण और नय के द्वारा होता है। इस तथ्य के आधार पर जैन तर्क परज़्परा में न्याय की परिभाषा इस प्रकार होगी- 'प्रमाणनयैरर्थाधिगमो न्यायः'-प्रमाण और नय के द्वारा अर्थ का अधिगम (निर्णय या परीक्षण) करना 'न्याय' है। उद्योतकर ने प्रमाण-व्यापार के द्वारा किये जाने वाले अर्थाधिगम को 'न्याय' माना है। जैन परज़्परा में 'न्याय' की अपेक्षा 'युक्ति' शब्द अधिक प्रचलित रहा है। यति-वृषभ का अभिमत है कि जो व्यक्ति प्रमाण, नय और निक्षेप के द्वारा अर्थ का निरीक्षण नहीं करता, उसे युक्त अयुक्त और अयुक्त युक्त प्रतीत होता है।

प्रमाण का अर्थ है-सज़्यग् ज्ञान। नय का अर्थ है-वस्तु के एक धर्म को जानने वाला ज्ञाता का अभिप्राय। निक्षेप का अर्थ है-प्रस्तुत अर्थ को जानने का उपाय। प्रमाण, नय और निक्षेप की युक्ति के द्वारा होने वाला अर्थ का अधिगम 'न्याय' है। यतिवृषभ के शब्दों में यह न्याय आचार्य परज़्परा से चला आ रहा है। आचार्य समन्तभद्र के अभिमत में जैन न्याय का प्रतिनिधि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

शब्द 'स्यात्' है। वह सर्वथा विधि और सर्वथा निषेध को स्वीकार नहीं करता। उक्त तथ्यों के आधार पर जैन तर्क-परम्परा के अनुसार न्याय की परिभाषा यह होगी-प्रमाण, नय और निक्षेप के द्वारा किया जाने वाला वस्तु का सापेक्ष अधिगम 'न्याय' है।

10.1 उद्देश्य- इसके अध्ययन से जैन न्याय के उद्‌भव एवं विकास को समझ सकेंगे।

10.2 जैन न्याय के तीन युग

जैन न्याय तीन युगों में विभक्त होता है-

1. आगमयुग का जैन-न्याय। 2. दर्शनयुग का जैन-न्याय। 3. प्रमाण-व्यवस्थायुग का जैन-न्याय।

महावीर का अस्तित्व काल ई. पू. 599-527 है। उस समय से ईसा की पहली शती तक का युग आगमयुग है। ईसा की दूसरी शती से दर्शनयुग का प्रारम्भ होता है। ईसा की आठवीं-नौवीं शती से प्रमाण-व्यवस्थायुग का प्रारम्भ होता है।

10.3 आगमयुग का जैन न्याय

आगमयुग के न्याय में ज्ञान और दर्शन की विशद चर्चा प्राप्त है। आवृत चेतना के दो रूप हैं-लब्धि और उपयोग। ज्ञेय को जानने की क्षमता का विकास लब्धि है और जानने की प्रवृत्ति का नाम उपयोग है। उपयोग दो प्रकार का होता है-साकार और अनाकार। आकार का अर्थ है-विकल्प। आकार सहित चेतना की प्रवृत्ति 'साकार' (सविकल्प) उपयोग कहलाता है। इसे ज्ञान कहा जाता है। आकार रहति चेतना की प्रवृत्ति 'अनाकार' उपयोग कहलाती है। इसे दर्शन कहा जाता है। जैन आगमों में सविकल्प और निर्विकल्प शब्दों का प्रयोग नहीं मिलता। साकार और अनाकार का प्रयोग बहुत प्राचीन है। साकार और सविकल्प तथा अनाकार और निर्विकल्प में अर्थ-भेद नहीं है। दर्शन चेतना निर्विकल्प और ज्ञानचेतना सविकल्प होती है।

जिसके द्वारा जाना जाता है वह ज्ञान है। आत्मा ज्ञाता है। वह ज्ञान के द्वारा ज्ञेय को जानता है। ज्ञान उसका गुण है। आत्मा और ज्ञान में गुणी और गुण का सम्बन्ध है। गुण गुणी से सर्वथा अभिन्न नहीं होता और सर्वथा भिन्न भी नहीं होता। आत्मा गुणी है और ज्ञान उसका गुण है-इस दृष्टि से वह आत्मा से कथंचिद् भिन्न है। ज्ञान आत्मा ही होता है-इस दृष्टि से वह आत्मा से कथंचिद् अभिन्न है।

ज्ञान के पांच प्रकार हैं : -

1. मति 2. श्रुत 3. अवधि 4. मन: पर्यव 5. केवल

मति और श्रुत-ये दो इन्द्रियज्ञान और शेष तीन अतीन्द्रियज्ञान हैं। चार ज्ञान केवल स्वार्थ-स्वबोध के लिये हैं। श्रुतज्ञान स्वार्थ और परार्थ-दोनों है। ज्ञान स्व-प्रत्यायक ही होता है। पर-प्रत्यायक होता है-शब्द। श्रुतज्ञान भी पर-प्रत्यायक नहीं है। शब्द का उससे सम्बन्ध है। इस अपेक्षा से श्रुतज्ञान को पर-प्रत्यायक माना गया है। ज्ञान के इस वर्गीकरण में प्रत्यक्ष और परोक्ष का विभाग मुख्य नहीं है। दूसरे वर्गीकरण में प्रत्यक्ष और परोक्ष का विभाग मुख्य है-इन्द्रियज्ञान परोक्ष और अतीन्द्रियज्ञान प्रत्यक्ष।

आचार्य कुन्कुन्द का तर्क है कि इन्द्रियां आत्मिक नहीं हैं। वे पर-द्रव्य हैं। जो पर है वह आत्मा का स्वभाव कैसे हो सकता है? जो आत्मा का स्वभाव नहीं है, उसके द्वारा उपलब्ध ज्ञान आत्मा के प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है? इसलिए पर के द्वारा होने वाला जो ज्ञान है, वह परोक्ष है। प्रत्यक्ष ज्ञान वही है जो केवल आत्मा से होता है, जिसमें इन्द्रिय, मन और प्रज्ञा की सहायता अपेक्षित नहीं होती। जिस ज्ञान के द्वारा अमूर्त्त द्रव्य और अतीन्द्रिय मूर्त्त द्रव्य तथा प्रच्छन्न द्रव्य जाने जा सकते हैं वह ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। अविद्यमान पर्याय को इन्द्रिय-ज्ञान के द्वारा नहीं जाना जा सकता किन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा जाना जा सकता है। स्थूल पर्याय में अन्तर्लीन सूक्ष्म पर्याय इन्द्रिय-ज्ञान के द्वारा नहीं जाना जा सकता किन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा जाना जा सकता है। अत: इन्द्रिय और मन से होने वाला ज्ञान परोक्ष तथा केवल आत्मा के द्वारा होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है।

इन्द्रिय-ज्ञान को परोक्ष मानने का कारण यह है कि उसमें संशय और विपर्यय का अवकाश रहता है। जिनभद्रगणी ने इसके समर्थन में लिखा है-संशय और विपर्यय की संभावना के कारण इन्द्रिय-ज्ञान और मनोज्ञान परोक्ष होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान में संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय-ये नहीं होते।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

10.4 ज्ञान का स्वरूप

आत्मा की चेतना एक और अखण्ड है। वह सूर्य की भांति सहज प्रदीप्त है। उसके दो रूप होते हैं-अनावृत्त और आवृत। पूर्णतया अनावृत चेतना का नाम केवल ज्ञान है। यह स्वभाव-ज्ञान है। इसे निरुपाधिक-ज्ञान भी कहा जाता है। अनावृत चेतना की अवस्था में जानने का प्रयत्न नहीं करना होता, इसलिए वह ज्ञान सहज होता है। आवृत अवस्था में भी चेतना सर्वथा आवृत नहीं होती। वह कुछ न कुछ अनावृत रहती ही है। सूर्य को आवृत करने वाले बादल सघन होते हैं तो प्रकाश मंदतर होता है। पर दिन-रात का विभाग हो सके इतना प्रकाश अवश्य रहता है। चेतना पर आवरण सघन होता है तो ज्ञान मंद होता है। वह सघनतर होता है तो ज्ञान मंदतर होता। फिर भी जीव-अजीव का विभाग हो सके इतना चैतन्य निश्चित ही अनावृत रहता है। यह ज्ञान विभावज्ञान या सोपाधिकज्ञान है। ज्ञान केवल इन्द्रियानुभव से होने वाला प्रत्यय या विज्ञान ही नहीं है, वह आत्मा का स्वरूप है। वह आत्मा के साथ निरन्तर रहता है। हम ज्ञान को जन्म के साथ लाते हैं और मृत्यु के साथ उसे ले जाते हैं। आत्मा के साथ उसका सज़्बन्ध इस पौद्गलिक शरीर जैसा नहीं है जो जन्म के साथ बने और मृत्यु के साथ छूट जाए। आत्मा उस कोरे कागज जैसा नहीं है जिस पर अनुभव अपने संवेदन और स्व-संवेदनरूपी अंगुलियों से ज्ञानरूपी अक्षर लिखता रहे।

10.5 ज्ञान का मूल स्रोत और उत्पत्ति

ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक गुण है और यह न्यूनाधिक मात्रा में अनावृत रहता है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि ज्ञान का मूल स्रोत चैतन्य की अनावृत अवस्था है। इसके अतिरिक्त तीन स्रोत और हैं-इन्द्रिय, मन और आत्मा। हमारा इन्द्रिय-विकास चैतन्य-विकास के आधार पर होता है। ज्ञान-विकास की तरतमता के आधार पर शारीरिक इन्द्रियों की रचना में भी तरतमता होती है। मानसिक विकास भी चैतन्य-विकास पर निर्भर है। इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना होने वाला ज्ञान केवल आत्मा पर निर्भर होता है। इस प्रकार चैतन्य-विकास की दृष्टि से ज्ञान के मूल स्रोत तीन हैं-इन्द्रिय, मन और आत्मा।

ज्ञान की उत्पत्ति अन्तरंग और बहिरंग-दोनों कारणों से होती है। बाहरी पदार्थों का उचित सामीप्य होने पर ज्ञान उत्पन्न होता है तो आन्तरिक मनन के द्वारा भी ज्ञान उत्पन्न होता है।

10.6 ज्ञान की सीमा

इन्द्रियां पांच हैं-स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। प्रत्येक इन्द्रिय में एक-एक विषय को जानने की क्षमता होती है।

	इन्द्रिय	विषय
1.	स्पर्शन	स्पर्श।
2.	रसन	रस।
3.	घ्राण	गन्ध।
4.	चक्षु	रूप।
5.	श्रोत्र	शब्द।

ये विषय इन्द्रिय-ज्ञान को उत्पन्न नहीं करते किन्तु उचित सामीप्य होने पर ज्ञाता अपने प्रयत्न से इन्द्रियों के द्वारा उन्हें जान लेता है। इन्द्रियां द्रव्य को साक्षात् नहीं जानती। एक गुण या पर्याय के माध्यम से उसे जान सकती हैं, इसलिए इन्द्रियों का पर्याय-ज्ञान प्रत्यक्ष होता है और द्रव्य-ज्ञान परोक्ष। वे केवल वर्तमान को जानती हैं। अतीत और भविष्य को जानने की क्षमता उनमें नहीं है। अनुभववादी दार्शनिक केवल इन्द्रियानुभव को ही वास्तविक ज्ञान मानते हैं, किन्तु इन्द्रियों के बिखरे हुए ज्ञान का संकलन करने वाला कोई ज्ञान न हो तो हम किसी भी सामान्य नियम का निर्धारण नहीं कर सकते। मन स्पर्श आदि विषयों को साक्षात् नहीं जानता, इन्द्रियों के माध्यम से ही जानता है। अत: वह वस्तु-स्पर्शी नहीं है पर उसमें इन्द्रियों द्वारा गृहीत सब विषयों का संकलन और त्रैकालिक पर्यालोचन करने की क्षमता है। इस दृष्टि से इन्द्रिय-ज्ञान की अपेक्षा मानसिक-ज्ञान अधिक विकसित है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इन्द्रियों के द्वारा जो अनुभव अर्जित होते हैं, वे प्रत्यक्ष या विज्ञान कहलाते हैं। हम केवल विज्ञानों को ही नहीं जानते किन्तु ऐसे नियमों और संबंधों को भी जान लेते हैं जो पहले ज्ञात नहीं होते। ज्ञान की इस क्षमता का नाम प्रज्ञा या बुद्धि है। इन्द्रिय-ज्ञान, मानसिक-ज्ञान और प्रज्ञा-यह मतिज्ञान की सीमा है।

हम संकेतों और शब्दों के माध्यम से भी ज्ञेय विषय को जान लेते हैं। हम अग्नि नामक पदार्थ को देखकर उसके वाचक शब्द को जानने का प्रयत्न करते हैं, अथवा अग्नि शब्द का अर्थबोध कर उसके वाच्य-अर्थ को जानने का प्रयत्न करते हैं। यह प्रज्वलित पदार्थ अग्नि शब्द का वाच्य है, इस प्रकार वाच्य-वाचक संबंध की योजना से होने वाले ज्ञान, अध्ययन से प्राप्त ज्ञान और प्रायोगिक ज्ञान की निश्चयकता श्रुतज्ञान की सीमा है।

मूर्त्त द्रव्यों का साक्षात् ज्ञान करना अवधि ज्ञान की सीमा है।

मन का साक्षात् ज्ञान करना मनः पर्यव ज्ञान की सीमा है।

केवल ज्ञान सर्वथा अनावृत्त ज्ञान है, इसलिए उसमें सब द्रव्यों और पर्यायों को साक्षात् जानने की क्षमता है। यही उसकी सीमा है।

10.7 इन्द्रिय-ज्ञान और प्रमाणशास्त्र

अतीन्द्रिय ज्ञान एक विशिष्ट उपलब्धि है। वह सार्वजनिक नहीं है, इसलिए वह न्याय-शास्त्र का बहुचर्चित भाग नहीं है। उसका बहुचर्चित भाग इन्द्रिय-ज्ञान (मति-श्रुत ज्ञान) है। मतिज्ञान क्रमिक होता है। उसका क्रम यह है-

1. विषय और विषयी का सन्निपात।
2. दर्शन-निर्विकल्प बोध, सत्तामात्र का बोध.
3. अवग्रह- 'कुछ है' की प्रतीति।
4. ईहा- 'यह होना चाहिए'-इस आकार का ज्ञान।
5. अवाय- 'यही है'-इस प्रकार का निर्णय।
6. धारणा-निर्णीत विषय की स्थिरता, वासना, संस्कार।
7. स्मृति-संस्कार के जागरण से होने वाला 'वह'-इस आकार का बोध।
8. संज्ञा-स्मृति और प्रत्यक्ष से होने वाला 'यह वही है'-इस आकार का बोध।
9. चिन्ता- 'चिन्तन मन के होने पर ही होता है'-इस प्रकार के नियमों का निर्णायक बोध, तर्क या ऊह।
10. अभिनिबोध-हेतु से होने वाला साध्य का ज्ञान, अनुमान।

हेतु चार प्रकार का होता है-

1. विधि-साधक विधि हेतु
2. विधि-साधक निषेध हेतु
3. निषेध साधक विधि हेतु
4. निषेध-साधक निषेध हेतु

विषय-विषयी के सन्निपात और दर्शन के बिना अवग्रह नहीं होता। अवग्रह के बिना ईहा, ईहा के बिना अवाय, अवाय के बिना धारणा, धारणा के बिना स्मृति, स्मृति के बिना संज्ञा, संज्ञा के बिना चिन्ता और चिन्ता के बिना अभिनिबोध नहीं हो सकता।

श्रुतज्ञान का विस्तार दो रूपों में हुआ है-एक स्याद्वाद और दूसरा नय। जैन तार्किकों ने प्रमेय की व्यवस्था श्रुतज्ञान (आगम) के आधार पर की, स्याद्वाद और नय के द्वारा की। प्रामाणिकों की परिषद् में श्रुतज्ञान का ही आलंबन लिया गया और

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उसी के आधार पर न्याय का विकास हुआ। उसे इस भाषा में प्रस्तुत किया जा सकता है- 'जावइया वयणपहा तावइया हुंति सुयविगप्पा'-जितने वचन के प्रकार हैं उतने ही श्रुतज्ञान के विकल्प हैं। वे असंज्य हैं। प्रमाण भी असंज्य हो सकते हैं। हम सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो यह प्राप्त होगा कि देखने, सोचने और कहने के जितने निर्णायक प्रकार हैं उतने प्रमाण हैं। नय के विषय में यही बात कही गई हैं- 'जावइया वयणपहा तावइया हुंति णयवाया'-जितने बोलने के प्रकार उतने ही नय। जितने आशय, जितनी स्वीकृतियां उतने ही नय। इसका अर्थ यह हुआ कि जैन न्याय के अनुसार प्रमाणों का संज्या-निर्धारण सापेक्ष है।

10.8 दर्शन युग का जैन न्याय

जैन न्याय के विकास का द्वितीय युग प्रथम की तुलना में क्रान्तिकारी कहा जा सकता है। इस युग में अन्यान्य दर्शनों के साथ वैचारिक सामञ्जस्य स्थापित करने की दृष्टि से कुछ नई प्रस्थापनाएं और नए प्रयास किये गये।

दर्शन की मीमांसा ईसा पूर्व आठवीं शताब्दी में प्रारञ्भ हो चुकी थी। ईसा की पहली शताब्दी तक उसमें योगीज्ञान या प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमुख था और तर्क गौण। उसके बाद दर्शन के क्षेत्र में प्रमाण-मीमांसा या न्याय-शास्त्र का विकास हुआ। दर्शन में प्रमाण का महत्त्वपूर्ण स्थान है, इसलिए प्रमाण के द्वारा समर्थित दर्शनयुग का प्रारञ्भ ईसा की दूसरी शताब्दी से होता है। इस युग में प्रमाणशास्त्र या न्याय-शास्त्र का दर्शनशास्त्र के साथ गठबंधन हो गया।

प्रो. जेकोबी के अनुसार ई. 200-450, प्रो. ध्रुव के अनुसार ईसा पूर्व की शताब्दी में गौतम ऋषि ने न्यायसूत्र की रचना की। ईसा की पहली शती में कणाद ऋषि ने वैशेषिकसूत्र की रचना की। ईसा की चौथी शती में बादरायण ने ब्रह्मसूत्र की रचना की। ई.पू. 6-7वीं शती में कपिलमुनि ने सांज्यसूत्र का प्रणयन किया। ईसा की दूसरी से चौथी शती के बीच ईश्वरकृष्ण ने सांज्यकारिका की रचना की।

न्याय-शास्त्र के विकास में बौद्धों और नैयायिकों ने पहल की। बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन (ई. 300) ने गौतम के न्यायसूत्र की आलोचना की। वात्स्यायन (ई. 400) ने 'न्यायसूत्र भाष्य' से उस आलोचना का उत्तर दिया। बौद्ध आचार्य दिङ्नाग (ई.500) ने वात्स्यायन के विचारों की समीक्षा की। उद्योत्तकर (ई. 600) ने 'न्यायवार्तिक' में उनका उत्तर दिया। बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति (ई. 700) ने 'न्यायबिन्दु' में उद्योतकर की समीक्षा की प्रत्यालोचना की। बौद्ध आचार्य धर्मोत्तर (ई. 8-9 शती) ने 'न्यायबिन्दु' की टीका में दिङ्नाग और धर्मकीर्त्ति की मान्यताओं की पुष्टि की। वाचस्पति मिश्र (ई. 800) ने 'न्यायवार्तिक की तात्पर्य टीका' में बौद्धों के आक्षेपों का निरसन कर उद्योतकर की मान्यताओं का समर्थन किया।

ईसा की तीसरी शताब्दी से आठवीं शताब्दी तक बौद्धों और नैयायिकों में खण्डन-मंडन का तीव्र संघर्ष चला। इस संघर्ष में न्याय-शास्त्र के नये युग का सूत्रपात हुआ।

जहां दर्शनों का परस्पर संघर्ष होता है, सब दार्शनिक अपने-अपने मतों की स्थापना और दूसरों के मतों का निरसन करते हैं वहां आगम का गौण और हेतु का मुज्य होना स्वाभाविक है। दार्शनिक साध्य की सिद्धि के लिए आगम का समर्थन नहीं चाहता, वह हेतु चाहता है।

10.9 आगम और हेतु का समन्वय

दर्शनयुगीन जैन न्याय की कुछ विशिष्ट उपलब्धियां है। पहली उपलब्धि है-आगम और हेतु का समन्वय। आगम युग में अंतिम प्रामाण्य आगम-ग्रन्थ या व्यक्ति का माना जाता था। मीमांसक अन्तिम प्रामाण्य वेदों का मानते हैं। उनका अभिमत है कि वेद अपौरुषेय हैं—पुरुष के द्वारा निर्मित नहीं है। ईश्वरीय निर्देश हैं इसलिए अन्तिम प्रामाण्य उन्हीं का हो सकता है। जैन आचार्य वीतराग मनुष्य को अन्तिम प्रमाण मानते हैं। जैन परिभाषा में आगम का अर्थ होता है-पुरुष। वह पुरुष जिसके सब दोष क्षीण हो जाते हैं, जो वीतराग या केवली बन जाता है। स्थानांग सूत्र में पांच व्यवहार निर्दिष्ट है-आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत। केवलज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनः पयार्यज्ञानी, चतुर्दशपूर्वी, दशपूर्वी और अभिन्नदशपूर्वी (नौ पूर्व तथा दसवें पूर्व की तीसरी आचार चूला को जानने वाला)-ये छहों पुरुष आगम होते हैं। आगमपुरुष की उपस्थिति में वे ही सर्वोपरि प्रमाण हैं। उनकी अनुपस्थिति

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

में श्रुत (आगम पुरुष का वचन-संकलन) प्रमाण होता है। आगमयुग में आगम पुरुष का और उसकी अनुपस्थिति में श्रुत का प्रामाण्य था। दर्शनयुग में आगम का प्रामाण्य गौण, हेतु या तर्क का प्रामाण्य मुज़्य हो गया।

जैन आचार्यों द्वारा आगम युग में भी हेतु अस्वीकृत नहीं था। 'तर्कोऽप्रतिष्ठ:'-तर्क अ-प्रतिष्ठ हैं-यह विचार जैन न्याय में कभी प्रतिष्ठित नहीं हुआ। इसका कारण समझने के लिए पूर्व चर्चित पांच ज्ञानों की विषय-वस्तु को समझना होगा।

मति और श्रुतज्ञान के द्वारा सब द्रव्य जाने जा सकते हैं, किन्तु उनके सब पयार्य नहीं जाने जा सकते। द्रव्य दो प्रकार के हैं-मूर्त्त और अमूर्त्त। अमूर्त्त द्रव्य इन्द्रियों के द्वारा ज्ञेय नहीं है, मन के द्वारा वे जाने जा सकते हैं। वे परोपदेश के द्वारा भी जाने जा सकते हैं। जैन आगमों में षट्द्रव्य की व्यवस्था है-धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्‌गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और काल। इनमें पुद्‌गलास्तिकाय मूर्त्त है और शेष सब अमूर्त्त। अमूर्त द्रव्य इन्द्रियों के द्वारा गज़्य नहीं होते, इसका तात्पर्य है कि उनकी व्याप्ति नहीं हो सकती-अविनाभाव के नियम का निर्धारण नहीं हो सकता। जिनकी व्याप्ति नहीं हो सकती उनका अनुमान नहीं हो सकता। अत: अमूर्त्त द्रव्य केवल परोपदेश (श्रुतज्ञान) के द्वारा ही जाने जा सकते हैं। अतीन्द्रिय -द्रष्टा पुरुषों ने अमूर्त्त द्रव्यों का साक्षात् किया और उनका प्रतिपादन किया। उस प्रतिपादन के आधार हम जान सकते हैं कि अमूर्त्त द्रव्य हैं। मूर्त्त द्रव्यों को इन्द्रियों के द्वारा जान सकते हैं। उन्हें कुछेक पर्यायों द्वारा नहीं जान सकते हैं, सब पर्यायों द्वारा नहीं जान सकते। चक्षु के द्वारा वस्तु के रूप को जान सकते हैं, सब पर्यायों द्वारा नहीं जान सकते। चक्षु के द्वारा वस्तु के रूप को जान सकते है किन्तु अन्य पर्यायों को नहीं जान सकते। परोपदेश शब्द के माध्यम से होता है। शब्द संज़्येय है। पर्याय संज़्येय, असंज़्येय और अनन्त हैं, इसलिए परोपदेश के द्वारा भी सब पयार्य नहीं जाने जा सकते।

अवधि और मन:पर्यव के द्वारा मूर्त्त द्रव्य ही जाने जा सकते हैं। केवलज्ञान से मूर्त्त और अमूर्त्त-दोनों साक्षात् होते हैं।

केवलज्ञान के द्वारा ज्ञेय का साक्षात् होता है, इसलिए उसमें हेतु का कोई अवकाश नहीं होता। श्रुतज्ञान के द्वारा पदार्थ का ज्ञान नहीं होता इसलिए उसमें हेतु का अवकाश है। सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमीचन्द्र ने श्रुतज्ञान के दो प्रकार बतलाए हैं-शब्दज और लिंगज। शब्द के सहारे होने वाला श्रुतज्ञान शब्दज होता है और लिंग (हेतु) से होने वाला श्रुतज्ञान लिंगज कहलाता है। एक अर्थ के द्वारा दूसरे अर्थ का बोध होना श्रुतज्ञान है। जब हम धूम के द्वारा अग्नि का ज्ञान करते हैं तब धूम नामक अर्थ से अग्नि नामक अर्थ का बोध होता है। इस प्रकार श्रुतज्ञान में हेतु की स्वीकृति नहीं है। इसका तात्पर्य है कि आगमयुग में भी हेतु मान्य रहा है। किन्तु आगमपुरुष की उपस्थिति में उसकी उपयोगिता कम हो जाती है। जब तक केवलज्ञानी और विशिष्ट ज्ञानसज़्पन्न (पूर्वधर) आचार्य थे तब तक जैन परज़्परा में हेतुवाद या प्रमाण-मीमांसा का विकास नहीं हुआ। ईसा की पहली शताब्दी में आर्य रक्षित ने अनुयोगद्वार सूत्र में प्रमाण की विशद चर्चा की है। इससे पूर्ववर्ती साहित्य में प्रमाण की इतनी विशद चर्चा प्राप्त नहीं होती। दर्शनयुग में जब हेतुवाद की प्रमुखता हुई और विशिष्ट श्रुतधर आचार्यों की उपस्थिति नहीं रही तब जैन आचार्य भी हेतुवाद की ओर आकृष्ट हुए। इसका संकेत निर्युक्ति साहित्य में मिलता है। निर्युक्तिकार का निर्देश है कि मन्दबुद्धि श्रोता के लिए उदाहरण और तीव्र बुद्धि श्रोता के लिए हेतु का प्रयोग करना चाहिए।

यतिवृषभ ने हेतुवाद के समर्थन में एक महत्वपूर्ण उल्लेख किया है। उनके अनुसार अतीन्द्रिय पदार्थों के विषय में छद्‌मस्थ मनुष्य (जिसे केवलज्ञान प्राप्त नहीं है) के विकल्प नियमत: अविसंवादी नहीं होते। वे विसंवादी भी होते हैं। इसलिए पूर्वाचार्यों की व्याज़्याओं के साथ-साथ हेतुवाद की दिशा भी स्वीकृत होनी चाहिए। उससे दो लाभ हो सकते हैं-व्युत्पन्न शिष्यों की बुद्धि की संतुष्टि हो सकती है और अव्युत्पन्न शिष्यों को तत्त्व की ओर आकृष्ट किया जा सकता है। हेतुवाद के प्रयोग की दो दृष्टियों से अपेक्षा हुई। दूसरे दार्शनिक जब हेतुवाद के द्वारा खंडन-मंडन करने लगे तब अपने सिद्धान्तों की सुरक्षा के लिए हेतुवाद का प्रयोग करना आवश्यक प्रतीत हुआ। प्रज्ञावान् जैन मुनि भी विषय के स्पष्ट बोध के लिए हेतुवाद की मांग करने लगे। इस प्रकार भीतरी और बाहरी दोनों कारणों से हेतुवाद को विकसित करना अपेक्षित हो गया।

जैन आचार्यों के पीछे आगमपुरुषों के निरूपणों की एक पुष्ट परज़्परा थी। उसमें अनेक अतीन्द्रियगज़्य तत्त्व निरूपित थे। वे हेतुगज़्य नहीं थे। इस स्थित में हेतु के प्रयोग की मर्यादा करना आवश्यक हुआ। इस आवश्यकता की पूर्ति आचार्य समन्तभद्र और सिद्धसेन ने की। आचार्य सिद्धसेन ने 'सन्मति' में आगम और हेतुवाद-इन दो पक्षों की स्वतन्त्रता स्थापित की और यह बतलाया कि आगमवाद के पक्ष में आगम का और हेतुवाद के पक्ष में हेतु का प्रयोग करने वाला तत्त्व का सज़्यक् व्याज़्याता होता है तथा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आगमवाद के पक्ष में हेतु का और हेतुवाद के पक्ष में आगम का प्रयोग करने वाला तत्त्व का सज़्यक् व्याज़्याता नहीं होता। आगमग्रन्थों में केवलज्ञानी के वचन संकलित होते हैं। उनमें प्राय: अतीन्द्रिय अर्थ निरूपित होते हैं। वे हेतु या तर्क से अतीत होते हैं। इसलिए उनमें हेतु का प्रयोग नहीं किया जा सकता। इद्रियगज़्य विषय हेतु के द्वारा समझे जा सकते हैं अत: उनकी सिद्धि हेतु के द्वारा की जानी चाहिए। उनकी सिद्धि के लिए आगम का प्रयोग करना उपयुक्त नहीं होता।

10.10 अहेतुगज़्य पदार्थ

शरीरमुक्त आत्मा अतीन्द्रिय है। उसकी सिद्धि के लिए कोई तर्क नहीं है। मति उसे ग्रहण नहीं कर पाती। भृगपुत्रों ने अपने पिता से कहा-आत्मा अमूर्त्त है, अत: इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाना जा सकता। वनस्पति के जीव श्वास लेते हैं। उनमें आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ- ये सारी संज्ञाएं होती हैं। हर्ष और शोक होता है। पृथ्वीकाय के जीवों में उन्माद होता है। ये अतीन्द्रिय विषय हैं। हेतु के द्वारा इन्हें प्रमाणित नहीं किया जा सकता। अमूर्त्त तत्त्व, सूक्ष्म मूर्त्त तत्त्व और सूक्ष्म पर्याय-ये सब आगम के प्रामाण्य से ही सिद्ध हो सकते हैं। अतीन्द्रिय पदार्थ आगम-साधित पदार्थ होते हैं।

10.11 हेतुगज़्य पदार्थ

शरीरयुक्त जीव हेतु के द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। जिसमें सजातीय से उत्पन्न होने और सजातीय को उत्पन्न करने की क्षमता होती है वह जीव होता है। जिसमें ये क्षमताएं नहीं होती वह जीव नहीं होता। जिसमें श्वास का स्पंदन होता है वह जीव होता है। शरीरधारी आत्मा का जीवत्व हेतु के द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। अत: हेतु-साधित पदार्थों के लिए हेतु का प्रयोग अपेक्षित है।

आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है-अनाप्त (जो सत्य का साक्षात् करने वाला नहीं होता) वक्ता की उपस्थिति में तत्त्व की सिद्धि हेतु से की जाती है। वह हेतु-साधित तत्त्व होता है। आप्त वक्ता की उपस्थिति में तत्त्व की सिद्धि उसके वचन से की जाती है। वह आगम-साधित तत्त्व होता है।

10.12 ज्ञान का प्रमाणीकरण

दूसरी उपलब्धि है-ज्ञान का प्रमाण के रूप में प्रस्तुतीकरण। आर्यरक्षित द्वारा अनुयोगद्वार सूत्र में किया हुआ प्रमाण-निरूपण न्यायदर्शनावलज़्बी होने के कारण जैन न्याय में प्रतिष्ठित नहीं हो सका। अन्य दार्शनिक प्रमाण की चर्चा प्रस्तुत करते थे, वहां जैन दर्शन में ज्ञान की प्रतिष्ठा थी। प्रमाण-समर्थित दर्शनयुग में जब सभी दार्शनिक प्रमाण का विकास कर रहे थे, उस समय समन्वय की दृष्टि से जैन आचार्यों के सामने भी प्रमाण के विकास का प्रश्न उपस्थित हुआ। इस प्रश्न का समाधान सर्वप्रथम वाचक उमास्वाति ने किया। उन्होंने ज्ञान और प्रमाण का समन्वय प्रस्तुत किया। यह आगमयुगीन ज्ञान-परज़्परा और प्रमाण-व्यवस्था के बीच समन्वय-सेतु बना। सिद्धसेन और अकलंक ने प्रमाण को स्वतंत्र रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। वाचक उमास्वाति का समन्वय इन सूत्रों में प्रस्तुत है-

मतिश्रुतावधिमन:पर्ययकेवलानि ज्ञानम्। (तत्त्वार्थ सूत्र ; 1/8)
तत् प्रमाणे। (वही ; 1/9)
आद्ये परोक्षम्। (वही ; 1/10)
प्रत्यक्षमन्यत्। (वही ; 1/11)
मति, श्रुत, अवधि, मन: पर्यव और केवल-ये पांच ज्ञान हैं।
ये ज्ञान ही प्रमाण हैं।
मति और श्रुत-ये दो ज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं।
अवधि, मन:पर्यव और केवल-ये तीन ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

वाचक उमास्वाति द्वारा प्रस्तुत प्रमाण-व्यवस्था में प्रथम दो ज्ञानों को परोक्ष तथा शेष तीन ज्ञानों को प्रत्यक्ष मानने की आगमिक परज़्परा सुरक्षित है। इस व्यवस्था में केवल इतना परिवर्तन है कि प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण के रूप में प्रस्थापित किए गए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्राचीन परज़्परा में ज्ञान का वही अर्थ था जो दर्शनयुग में प्रमाण का किया गया। वाचक उमास्वाति ने प्रमाण का लक्षण सज़्यग्ज्ञान किया है। जो ज्ञान प्रशस्त, अव्यभिचारी या संगत होता है वह सज़्यग् है। उन्होंने अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति, सज़्भव और अभाव-विभिन्न तार्किकों द्वारा सज़्मत इन प्रमाणों का मति और श्रुतज्ञान में समावेश किया है। इन प्रमाणों में इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष निमित्त होता है, इसलिए ये मति और श्रुतज्ञान के अन्तर्गत ही हैं।

सिद्धसेन दिवाकर ने न्यायावतार की रचना की। जैन परज़्परा में न्यायशास्त्र का यह पहला ग्रन्थ है। इसकी कुल बत्तीस कारिकाएं हैं। इसमें प्रमाण के लक्षण, प्रकार तथा अनुमान के अंगों की व्यवस्था की है। इसमें प्रमाण-व्यवस्था का विकसित रूप उपलब्ध नहीं है। फिर भी न्याय-शास्त्र का आदि-ग्रन्थ होने का गौरव इसे प्राप्त है।

आचार्य समन्तभद्र ने न्यायशास्त्र का कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं लिखा, किन्तु आप्तमीमांसा तथा स्वयंभूस्तोत्र में उन्होंने न्यायशास्त्रीय विषयों की चर्चा की। उन्होंने प्रमाण का स्व-पर-प्रकाशी के रूप में प्रयोग किया है।

10.13 प्रत्यक्ष प्रमाण की संपर्कसूत्रीय परिभाषा

बौद्ध दार्शनिक इन्द्रियाश्रित ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण मानते थे। इन्द्रियों से वस्तु का साक्षात्कार होता है इसलिए उससे होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। वह कल्पनात्मक नहीं होता और भ्रान्त नहीं होता-ये उसकी दो विशेषताएं हैं।

नैयायिक इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं। नव्य नैयायिकों ने प्रत्यक्ष के दो भेद माने हैं-लौकिक और अलौकिक। लौकिक प्रत्यक्ष में इन्द्रिय का अर्थ के साथ साधारण सन्निकर्ष होता है। अलौकिक प्रत्यक्ष में इन्द्रिय का पदार्थ के साथ असाधारण या अलौकिक सन्निकर्ष होता है।

जैन परज़्परा में इन्द्रियज्ञान परोक्ष माना जाता था। आचार्य कुन्दकुन्द ने इन्द्रियज्ञान के परोक्ष होने का तर्कपूर्ण पद्धति से समर्थन किया। उमास्वाति ने भी मति-श्रुत को परोक्ष प्रमाण मानकर इन्द्रियज्ञान के परोक्ष होने की पुष्टि की।

इस प्रकार इन्द्रियज्ञान के विषय में प्रामाणिकों में दो परज़्पराएं चल रही थीं-एक प्रत्यक्षवादी और दूसरी परोक्षवादी। इस स्थिति में कुछ जैन दार्शनिकों ने दो परज़्पराओं के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न प्रारज़्भ किया।

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का पहला उल्लेख अनुयोगद्वार सूत्र में मिलता है। स्थानांग सूत्रगत ज्ञान-मीमांसा में प्रत्यक्ष के 'केवल' (केवलज्ञान) और 'नो-केवल' (अवधि, मन: पर्यव) ये दो प्रकार मिलते हैं। अनुयोगद्वार सूत्र में प्रत्यक्ष के दो प्रकार किए गए हैं-इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और नोइन्द्रिय-प्रत्यक्ष। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के पांच प्रकार हैं-

1. श्रोत्र-इन्द्रिय-प्रत्यक्ष।
2. चक्षु-इन्द्रिय-प्रत्यक्ष।
3. घ्राण-इन्द्रिय-प्रत्यक्ष।
4. रस-इन्द्रिय-प्रत्यक्ष।
5. स्पर्श-इन्द्रिय-प्रत्यक्ष।

नोइन्द्रिय-प्रत्यक्ष

नोइन्द्रिय-प्रत्यक्ष के तीन प्रकार हैं -

1. अवधिज्ञान।
2. मन:पर्यवज्ञान।
3. केवल ज्ञान।

नंदी सूत्र में भी अनुयोगद्वारगत प्रत्यक्ष विषयक परज़्परा का अनुसरण हुआ है। इन दो ही आगमों में इन्द्रियज्ञान को प्रत्यक्ष की कोटि में रखा गया है। अनुयोग-द्वार का रचनाकाल ईसा की पहली शताब्दी और नंदी सूत्र का रचनाकाल ईसा की पांचवीं शताब्दी है। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण का अस्तित्व काल ईसा की सातवीं शताब्दी है। वे आगमिक परज़्परा के प्रतिनिधि आचार्य थे। उन्होंने मति और श्रुतज्ञान के परोक्ष होने का समर्थन किया है किन्तु साथ-साथ उसमें एक नया उन्मेष भी जोड़ा है। उन्होंने प्रतिपादित किया कि अनुमान एकान्तत: परोक्ष है। इन्द्रिय ज्ञान और मानस-ज्ञान संव्यवहार प्रत्यक्ष है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

साधन से होने वाला साध्य का ज्ञान अनुमान है। वृक्ष-दर्शन से जो बीज का ज्ञान होता है, वह इन्द्रियों के भी साक्षात् नहीं होता। इसलिए अनुमान एकान्तत: परोक्ष है। अवधि आदि से होने वाला अर्थ का ज्ञान साक्षात् होता है, उसमें किसी माध्यम की अपेक्षा नहीं होती, इसलिए वह एकान्तत: प्रत्यक्ष है। इन्द्रियों से जो स्पर्श आदि विषयों का ज्ञान होता है वह इन्द्रिय साक्षात्कार है। अत: वह इन्द्रिय के लिए प्रत्यक्ष है और आत्मा के लिए वह परोक्ष है। इन्द्रियां स्वयं अचेतन है। उन्हें विषयों का ज्ञान नहीं होता। वे ज्ञान के माध्यममात्र हैं। इस दृष्टि से यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि इन्द्रियज्ञान व्यावहारिक दृष्टि से प्रत्यक्ष है और पारमार्थिक दृष्टि से परोक्ष है।

ज्ञाता, ज्ञेय, पारमार्थिक प्रत्यक्ष।

ज्ञाता, इन्द्रिय, ज्ञेय- सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष। (इस आकार में ज्ञेय ज्ञाता के लिए परोक्ष और इन्द्रिय के लिए प्रत्यक्ष होता है)

ज्ञाता, मन, धूम, अग्नि-केवल परोक्ष।

इन्द्रियज्ञान को सांव्यवहारिक कोटि के प्रत्यक्ष की स्वीकृति ने संपर्क-सूत्र का काम किया। जैन प्रामाणिकों तथा अन्य प्रामाणिकों के बीच प्रत्यक्ष विषयक जो समस्या थी उसका समाधान हो गया। प्रमाण-व्यवस्था के युग में भी सांव्यवहारिक और पारमार्थिक प्रत्यक्ष की परज़्परा मान्य रही। प्रमाण-व्यवस्था के मुज़्य सूत्रधार आचार्य अकलंक ने इस परज़्परा को मान्यता देकर इसे स्थायित्व दे दिया।

10.14 अनेकान्त-व्यवस्था और दर्शन-समन्वय

चौथी उपलब्धि है -दर्शन समन्वय और उसके लिए अनेकान्त की व्यवस्था का विकास और उसका व्यापक प्रयोग।

उपनिषद् काल से दो प्रश्न चर्चित होते रहे हैं ?

1. क्या पूर्ण सत्य जाना जा सकता है ?

2. क्या पूर्ण सत्य की व्याज़्या की जा सकती है ?

इन पर विभिन्न दर्शनों ने विभिन्न समाधान प्रस्तुत किए हैं। जैन दर्शन ने भी इनका समाधान किया है। प्रथम प्रश्न का समाधान ज्ञान-मीमांसा के आधार पर दिया और दूसरे का समाधान अनेकान्त के आधार पर दिया।

1. केवलज्ञानी पूर्ण सत्य को जान सकता है। उसका ज्ञान सर्वथा अनावृत होता है। इसलिए उसके ज्ञान में कोई अवरोध नहीं होता, अन्तराय नहीं होता। जो केवलज्ञानी नहीं है वह पूर्ण सत्य को नहीं जान सकता। क्योंकि वह ज्ञानी ही नहीं होता, अज्ञानी भी होता है। हम अकेवली के ज्ञान को स्वीकार करते हैं तो साथ-साथ उसके अज्ञान को भी स्वीकार करते हैं। चेतना की आवृत व्यवस्था में ज्ञान और अज्ञान-दोनों जुड़े रहते हैं। केवलज्ञानी को ही हम पूर्णज्ञानी कह सकते हैं। केवलज्ञानी का एक अर्थ यह भी किया जा सकता है- 'कोरा-ज्ञानी'। वह केवलज्ञानी। वह केवलज्ञानी है, अज्ञानी नहीं है। ज्ञान के स्तर पर केवलज्ञानी से नीचे जितने भी लोग हैं वे सब ज्ञानी भी हैं और अज्ञानी भी हैं। ज्ञान और अज्ञान की सह-स्वीकृति का फलित है कि पूर्ण सत्य को केवलज्ञानी ही जान सकता है, दूसरा नहीं जान सकता।

सत्य के मुज़्य पहलू दो हैं-द्रव्य और पर्याय। श्रुतज्ञानी मूर्त्त और अमूर्त्त-सभी द्रव्यों को जान लेता है, पर सब पर्यायों को नहीं जानता। केवली सब द्रव्यों और सब पर्यायों को जानता है, इसलिए वह पूर्ण सत्य को जानता है। श्रुतज्ञानी श्रुत के आधार पर सब द्रव्यों को जानता है। केवलज्ञानी उन्हें साक्षात् जानता है, इसलिए वह पूर्ण सत्य को जानता है। आचार्य समन्तभद्र के शब्दों में स्याद्वाद और केवलज्ञान-दोनों सब तत्त्वों को प्रकाशित करने वाले हैं। दोनों में इतना अन्तर है कि केवलज्ञान के द्वारा वे साक्षात् प्रकाशित होते हैं और स्यादवाद् के द्वारा वे परोक्षत: प्रकाशित होते हैं।

2. जैन तत्त्व-मीमांसा के अनुसार मूल द्रव्य दो हैं-चेतन और अचेतन। प्रत्येक द्रव्य अनन्त-अनन्त स्वतंत्र इकाइयों में विभक्त है। प्रत्येक इकाई में अनन्त-अनन्त पर्याय हैं। इन सब द्रव्यों, उनकी स्वतंत्र इकाइयों और उनके पर्यायों की समष्टि का नाम पूर्ण सत्य है। अद्वैतवादी निरपेक्ष सत्य को मान्यता दे सकते हैं किन्तु द्वैतवादी उसे स्वीकृति नहीं दे सकते। इसीलिए जैन दर्शन ने अनेकान्तवाद के आधार पर सत्य की व्याज़्या की। सत्य अनन्त पर्यायात्मक है और भाषा की शक्ति सीमित है। एक क्षण में एक शब्द के द्वारा एक ही पयार्य का प्रतिपादन किया जा सकता है। पूरे जीवन में भी सीमित पर्यायों का ही प्रतिपादन किया जा सकता है, अत: पूर्ण सत्य की व्याज़्या नहीं की जा सकती, सत्यांश की व्याज़्या की जा सकती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

स्पिनोजा ने द्रव्य को अनिर्वचनीय बतलाकर इस समस्या से मुक्ति पाने का प्रयत्न किया है।

अद्वैतवादी भारतीय दर्शनों ने भी सत्य को अनिर्वचनीय माना है। जैन तार्किकों ने द्रव्य की अनिर्वचनीयता को मान्यता नहीं दी। उनका तर्क है कि द्रव्य यदि अनिवर्चनीय है तो उसका निर्वचन नहीं किया जा सकता और उसका निर्वचन किए बिना अनिर्वचनीयता भी सिद्ध नहीं होती। अत: द्रव्य सर्वथा अनिर्वचनीय नहीं है और सर्वथा निर्वचनीय भी नहीं है। द्रव्य के अनन्त पयार्य युगपत् नहीं कहे जा सकते। इस दृष्टि से वह अनिर्वचनीय है, किन्तु जिन धर्मों का निवर्चन किया जाता है, उनकी दृष्टि से वह निर्वचनीय भी है. यह व्याज़्या उन्होंने स्याद्वाद के आधार पर की। 'अस्ति रक्तो घट'-घड़ा लाल है-इस वाक्य में वर्ण के द्वारा घट की व्याज़्या की गई है। घट केवल वर्णात्मक नहीं है। उसमें रस, गन्ध, स्पर्श आदि अन्य अनेक धर्म विद्यमान है। हम एक धर्म के द्वारा उसकी व्याज़्या करते हैं तब शेष धर्मों को उससे पृथक नहीं कर सकते और युगपत् सब धर्मों को कह सकें, ऐसा कोई उपाय नहीं है। इस निरुपायता की समस्या को सुलझाने के लिए 'स्यात्' शब्द का आविष्कार किया गया। स्याद्वाद के अनुसार यह नहीं कहा जा सकता 'अस्ति रक्तो घट:', किन्तु यह कहना वास्तविक होगा कि 'स्याद् अस्ति रक्तो घट:'-सापेक्षता की दृष्टि से घड़ा लाल है। 'स्यात्' शब्द का प्रयोग इस वास्तविकता का सूचक है कि आप घट के रक्तवर्ण को मुज़्य मानकर घट का निर्वचन कर रहे हैं और शेष धर्मों को गौण बनाकर उपेक्षित कर रहे हैं, किन्तु उन्हें अस्वीकार नहीं कर रहे हैं। रक्तवर्ण को घट के शेष धर्मो से विभक्त नहीं कर रहे, किन्तु उसका निर्वचन करते हुए भी घट की समग्रता का बोध कर रहे हैं। 'स्याद् अस्ति घट:'-इसमें 'अस्ति' धर्म घट के शेष धर्मों से विच्छिन्न नहीं है उसके विच्छिन्न होने पर घट का घटत्व भी समाप्त हो जाता है। एक धर्म की मुज़्यता से वस्तु का प्रतिपादन और उसके शेष धर्मों की मौन स्वीकृति-यही हमारे पास अखण्ड वस्तु की व्याज़्या का एक उपाय है जिसके आधार पर हम वस्तु को अनिर्वचनीय और निर्वचनीय-दोनों मान सकते हैं। हम बहुत बार सापेक्षता के आधार पर केवल एक धर्म का ही प्रतिपादन करते हैं, एक धर्म के माध्यम से शेष धर्मों के प्रतिपादन का प्रयत्न नहीं करते। इस व्याज़्या-पद्धति में अनिर्वचनीय जैसा कुछ नहीं होता। एक धर्म की व्याज़्या-पद्धति को 'नय' तथा एक धर्म के माध्यम से अखण्ड वस्तु की व्याज़्या-पद्धति को स्याद्वाद कहा जाता है। अखण्ड और खण्ड की व्याज़्या की इन दोनों पद्धतियों का विकास अनेकान्त-व्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण प्रतिफलन है।

10.15 समन्वय के आयाम

बौद्ध, नैयायिक और मीमांसक-ये सब अपने-अपने सिद्धान्त का समर्थन और दूसरों के सिद्धान्तों का निरसन कर रहे थे। इस पद्धति में तीव्र व्यंग्य और कटू आक्षेप प्रयुक्त हो रहे थे। अहिंसा प्रिय जैनों को यह पद्धति रुचिकर नहीं लग रही थी। वे इस आगम-वाणी से प्रभावित थे-जो अपने सिद्धान्त की प्रशंसा और दूसरों के सिद्धान्तों की निन्दा करते हैं वे समस्या का समाधान नहीं कर सकते। लज़्बी अवधि तक जैन विद्वान इस तर्क-मीमांसा की सीमा में प्रविष्ट ही नहीं हुए। वे अपनी सीमा में रहे और विभिन्न वादी-प्रतिवादियों के बीच जो कुछ चल रहा था उसे मौन भाव से देखते रहे। साज़्प्रदायिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों ने ऐसी विवशता उत्त्पन्न कर दी कि तार्किकों की परिषद् में उपस्थित होकर अपने सिद्धान्तों को तर्क-समर्थित किए बिना अस्तित्व की सुरक्षा संभव नहीं रही। उस स्थिति में जैन विद्वानों ने अपने सिद्धान्तों का समर्थन और दूसरों के सिद्धान्तों का निरसन शुरू किया। किन्तु उनकी निरसन-पद्धति आक्षेपप्रधान नहीं थी। उन्होंने अहिंसा की सुरक्षा और सत्य की संपुष्टि के लिए निरसन को समन्वय से जोड़ दिया। उनकी चिन्तनधारा का प्रतिबिज़्ब हरिभद्रसूरी की इस उक्ति में मिलता है।

''शास्त्रकारा महात्मान:, प्रायो वीतस्पृहा भवे।
सत्त्वार्थसज़्प्रवृत्ताश्च, कथं तेऽयुक्तभाषिण: ?''

- 'जितने शास्त्रकार हैं वे सब महात्मा हैं, परमार्थदृष्टि वाले हैं। वे मिथ्या बात कैसे कहेंगे ?' प्रश्न उठा, फिर उनके दर्शनों में इतना अन्तर क्यों ? तो हरिभद्र ने कहा- 'उनके अभिप्राय की खोज करनी चाहिए कि उन्होंने यह किस आशय से कहा है। हम तात्पर्य को समझे बिना विरोध प्रदर्शित करते हैं, जो सत्योन्मुखी प्रयत्न नहीं है।'

निरसन की पद्धति को समन्वय की दिशा देने का महान् श्रेय आचार्य समन्तभद्र और सिद्धसेन को है। वे अनेकान्त-व्यवस्था के साथ-साथ समन्वय के भी सूत्रधार हैं। आचार्य सिद्धसेन ने सांज़्य, बौद्ध, वैशेषिक आदि दर्शनों की समीक्षात्मक समन्वय-पद्धति में अद्भुत कौशल प्रदर्शित किया है। उन्होंने लिखा है-सांज़्य दर्शन द्रव्यार्थिक नय की वक्तव्यता है। वह

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कूटस्थनित्य की स्वीकृति है। एक कूटस्थनित्यवाद और दूसरा क्षणिकवाद। दोनों में से एक मिथ्या होगा। या तो बौद्धों के क्षणिकवाद को मिथ्या मानना होगा या सांज़्यों के कूटस्थनित्यवाद को। दोनों सही नहीं हो सकते। वैशेषिक दर्शन सामान्य और विशेष-दोनों को मान्य करता है। अत: वह द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक-दोनों नयों को स्वीकृति देता है। किन्तु वह सामान्य और विशेष-दोनों को परस्पर निरपेक्ष और स्वतंत्र मानता है। इसलिए ये सब वक्तव्यताएं एकांगी होने के कारण मिथ्या है। बौद्ध और वैशेषिक सांज़्यों के सत्कार्यवाद को मिथ्या मानते हैं और सांज़्य उनके असत्कार्यवाद को मिथ्या मानते हैं। उक्त सब वक्तव्यताएं सत्य हैं। उनमें कोई भी वक्तव्यता मिथ्या नहीं है। वे निरपेक्ष होने के कारण मिथ्या हैं। वे यदि सापेक्ष हों तो कोई भी वक्तव्यता मिथ्या नहीं है। घट मिट्टी से पृथक् नहीं है, इसलिए वह उससे अभिन्न है। घटावस्था से पहले मिट्टी में घट नहीं था। घटाकार परिणति होने पर घट बना है, इसलिए वह मिट्टी से भिन्न है। इस प्रकार अभेद और भेद या सामान्य और विशेष को सापेक्ष दृष्टि से देखने पर कोई भी वक्तव्यता मिथ्या नहीं होती।

जितने वचन-पथ हैं उतने ही नयवाद हैं। जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय हैं-अन्य दर्शन हैं। प्रत्येक विचार एक नय है। वह किसी दृष्टिकोण से निरूपित है। कोई भी विचार पूर्ण नहीं है। वह शेष सब विचारों से संबद्ध होकर पूर्ण होता है, इसलिए कोई भी निरपेक्ष विचार सत्य नहीं होता और कोई भी सापेक्ष विचार मिथ्या नहीं होता। प्रश्न हो सकता है कि यदि निरपेक्ष विचार मिथ्या हैं तो वे समुदित होकर सत्य कैसे होंगे? मिथ्या का समूह मिथ्या ही होगा। वह सज़्यक् कैसे होगा? इस प्रश्न का आचार्य समन्तभद्र ने समाधान दिया कि विचार मिथ्या नहीं है। वे निरपेक्ष हैं इसलिए मिथ्या हैं। वे सापेक्ष या समुदित होते ही वास्तविक हो जाते हैं।

जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने समन्वय की धारा को इतना विशाल बना दिया कि उसमें स्व-दर्शन और पर-दर्शन का भेद परिलक्षित नहीं होता। उनका तर्क है कि मिथ्यात्वों (असत्यों) का समूह सज़्यक्त्व (सत्य) है। अन्य-दर्शन सज़्यग् दृष्टि के लिए उपकारक होने के कारण वस्तुत: वह स्व-दर्शन ही है। सामान्यवाद, विशेषवाद, नित्यवाद, क्षणिकवाद-ये सब सज़्यक्त्व की महाधारा के कण हैं। इन सबका समुदित होना ही सज़्यक्त्व है और वही जैन दर्शन है। वह किसी एक नय के खण्डन या मंडन में विश्वास नहीं करता, किन्तु सब नयों को समुदित कर सत्य की अखण्डता प्रदर्शित करता है।

10.16 सारांश

इस अध्याय में हमने 'प्रमाण-व्यवस्था युग के जैन न्याय की चर्चा नहीं की है। इसका कारण इसके पश्चात्वर्ती सभी अध्याय तृतीय युग से सज़्बन्धित न्याय के विकास की ही चर्चा पर आधारित हैं। अत: विद्यार्थी उन्हीं अध्यायों से उस युग को जानने का प्रयत्न करेंगे।'

10.17 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न :

1. जैन न्याय के विकास पर प्रकाश डालें।

लघुत्तरात्मक प्रश्न :

1. न्याय क्या है ?
2. आगम युग के जैन न्याय की विशिष्टताओं पर प्रकाश डालें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न : एक शब्द में उत्तर दें :

1. ज्ञान और प्रभाव में क्या अन्तर हैं।
2. जैन न्याय पर प्रथम पुस्तक कौनसी हैं।
3. बौद्धों की दृष्टि में प्रत्यक्ष किसे कहते हैं?
4. किन दो आगमों में इन्द्रिय-ज्ञान को प्रत्यक्ष के अन्तर्गत रखा गया।
5. उपनिषद् काल तक कौन से दो प्रश्न दार्शनिक चर्चा के विषय थे?

लेखक-आचार्य महाप्रज्ञ

प्रस्तोत्री-डॉ. समणी चैतन्य प्रज्ञा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–11 : भारतीय न्याय के विकास में जैन आचार्यों का योगदान

संरचना

11.0 प्रस्तावना
11.1 उद्देश्य
11.2 जैन न्याय
11.3 प्रमाण लक्षण
11.4 प्रमाण विभाग
11.5 पुरुष का स्वत: प्रामाण्य
11.6 प्रत्यक्ष का तात्त्विकत्व
11.7 परोक्ष के प्रकार
11.8 हेतु का स्वरूप
11.9 अवयवों की प्रायोगिक व्यवस्था
11.10 निग्रह स्थान या जय-पराजय व्यवस्था
11.11 प्रमेय और प्रमाता का स्वरूप
11.12 आचार्य हेमचन्द्र
11.13 प्रमाण मीमांसा
11.14 सारांश
11.15 अभ्यास प्रश्नावली

11.0 प्रस्तावना

भारतीय न्यायशास्त्र या प्रमाणशास्त्र के विकास में जैनाचार्यों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। जैन परम्परा में भगवान् महावीर के पश्चात् उनके तथा उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकरों के विचारों को संकलित करने के लिये प्राकृत भाषा में विभिन्न आगमों, यथा—भगवती, सूत्रकृतांग, नंदी, अनुयोगद्वार, षट्खण्डागम आदि ग्रन्थों की सर्जना हुई। विभिन्न आगमों को सूत्रबद्ध करते हुये आचार्य उमास्वाति ने सर्वप्रथम संस्कृत भाषा में तत्त्वार्थसूत्र की रचना की। जिसमें उन्होंने सर्वप्रथम प्रमाण की चर्चा की। यद्यपि जैनों का पञ्चज्ञान का सिद्धान्त प्राचीन है, फिर भी जहां तक प्रमाणशास्त्र का क्षेत्र है, जैनों का प्रवेश नैयायिकों, मीमांसकों और बौद्धों के पश्चात् ही हुआ है। न्याय या प्रमाण चर्चा के प्रसंग में जैनों का प्रवेश भले ही परवर्ती हो, किन्तु इस कारण वे इस क्षेत्र में कुछ विशिष्ट अवदान दे सके हैं।

11.1 उद्देश्य– इसके अध्ययन से जैन न्याय के विकास में जैन आचार्यो का योगदान का ज्ञान हो सकेगा।

11.2 जैन न्याय

इस क्षेत्र में परवर्ती होने का लाभ यह हुआ कि जैनों ने पक्ष और प्रतिपक्ष के सिद्धान्तों के गुण-दोषों का सम्यक् मूल्यांकन करके फिर अपने मन्तव्य को इस रूप में प्रस्तुत किया कि वह पक्ष और प्रतिपक्ष की तार्किक कमियों का परिमार्जन करते हुये एक व्यापक और समन्वयात्मक सिद्धान्त बन सके। पण्डित सुखलालजी के अनुसार जैन ज्ञान मीमांसा ने मुख्यत: तीन युगों में अपने क्रमिक विकास को पूरा किया है—1. आगम युग, 2. अनेकान्त स्थापना युग और 3. न्यायप्रमाण स्थापना युग। यहां हम इन युगों की विशिष्टताओं की चर्चा न करते हुये केवल इतना कहना चाहेंगे कि जैनों ने अपने अनेकान्त सिद्धान्त को स्थिर करके फिर प्रमाण विचार के क्षेत्र में कदम रखा। उनके इस परवर्ती प्रवेश का एक लाभ तो यह हुआ कि पक्ष और प्रतिपक्ष का अध्ययन कर वे उन दोनों की कमियों और तार्किक असंगतियों को समझ सकें तथा दूसरे पूर्व-विकसित उनकी अनेकान्त दृष्टि का लाभ यह हुआ कि वे उन दोनों के मध्य समन्वय स्थापित कर सके। उन्होंने पक्ष और प्रतिपक्ष के बीच समन्वय स्थापित करने का जो प्रयास किया, उसी में उनका सिद्धान्त भी स्थिर हो गया और यही उनका इस क्षेत्र में विशिष्ट अवदान कहलाया। इस संदर्भ में पण्डित

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सुखलालजी ने अपने प्रमाणमीमांसा ग्रन्थ की प्रस्तावना में कुछ बिन्दुओं पर चर्चा की है, जिनका विवरण इस प्रकार है—

1. अनेकान्त

सबसे पहली और सबसे श्रेष्ठ सब देनों की चाबीरूप जैनाचार्यों की मुख्य देन है अनेकान्तवाद तथा नयवाद का शास्त्रीय निरूपण। प्रमाणशास्त्र में अनेकान्तवाद को जो स्थान जैनदर्शन में दिया गया है, अन्यत्र कहीं नहीं उपलब्ध होता है। जब विश्व स्वरूप के संदर्भ में विचार चला तब विभिन्न विचारकों के भिन्न-भिन्न विचार सामने आये। उनमें मुख्यतः दो दृष्टियां सामने आईं, एक अभेदगामिनी और दूसरी भेदगामिनी। अभेदगामिनी दृष्टि का आधार समानता रहा। उनका झुकाव अभेद की ओर रहा। वे पदार्थ का संश्लेष करते-करते इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि तत्त्व वास्तव में एक ही है। ब्रह्माद्वैतवादी इसके अन्तर्गत आते हैं। इसी दृष्टिकोण का परिणाम यह उक्ति है—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।' अर्थात् एकमात्र ब्रह्म की ही सत्ता है, यह दृश्यमान् जगत् मिथ्या है। वे उसकी केवल व्यावहारिक सत्ता स्वीकार करते हैं। दूसरी भेदगामिनी दृष्टि का झुकाव भेद की ओर रहा। वे पदार्थ का विश्लेषण करते-करते भेद की इतनी पराकाष्ठा पर पहुंच गये कि उनकी दृष्टि में यह जगत् अत्यन्त भिन्न परमाणुओं का समूहमात्र है। बौद्ध दृष्टि का समावेश इसमें होता है। ये दोनों दृष्टियां दो विरोधी दशा में चलने वाली दो परम्परायें हैं। ये दोनों ही अपने अंतिम तत्त्व को अनुभवगम्य बताते हैं। इन विचारधाराओं से प्रभावित होकर अनेक विचारधारायें प्रारम्भ हुईं।

वेदान्त के अभेदमूलक दृष्टिकोण का प्रभाव सांख्य पर पड़ा तथा सत्कार्यवाद का जन्म हुआ। इसमें कार्य-कारण के अभेद को स्वीकार किया गया। भेदपरक दृष्टिकोण का प्रभाव न्याय-वैशेषिक पर पड़ा तथा असत्कार्यवाद का जन्म हुआ तथा इस मत में कारण-कार्य, गुण-गुणी आदि में भिन्नता स्वीकार की गई। जब कार्य-कारण का सिद्धान्त आया तो प्रश्न हुआ कि कार्य नित्य है या अनित्य? जिन्होंने पदार्थ को तीनों काल में अखण्डरूप से देखा वे नित्यवादी कहलाये। उनकी दृष्टि अनादि अनन्तता की थी। उनके अनुसार सत् केवल ब्रह्म है और वह नित्य है। जिन्होंने कालखण्ड को अंशरूपों में विभाजित कर वस्तु को देखा, उन्होंने अनित्यवाद को स्वीकार किया।

अभेदवादी और भेदवादी दोनों ने ही अपने पारमार्थिक तत्त्व को वाणी का विषय नहीं माना। उनके मतानुसार परम तत्त्व तर्क और वाणी से परे है, निर्वचन का विषय नहीं है, इस प्रकार अनिर्वचनीयवाद का प्रादुर्भाव हुआ। इसके प्रतिपक्ष के रूप में लक्षणवादी वैशेषिक आये जिनके अनुसार वस्तु का लक्षण बताया जा सकता है और वह वास्तविक भी है। इस प्रकार उन्होंने निर्वचन को प्रमुखता दी।

इस प्रकार विरोधी वादों के प्रादुर्भाव के साथ दर्शन युग में खण्डन-मण्डन का काल आया। सभी अपने विचार को यथार्थ और दूसरे के सिद्धान्त को अयथार्थ सिद्ध करने में लग गये। उस समय एक ऐसे दृष्टिकोण की आवश्यकता थी जो इस ऊहापोह को मिटाकर भारतीय प्रमाणशास्त्र में अपना एक विशिष्ट स्थान बना सके और यह काम अनेकान्तवाद के द्वारा हुआ।

अनेकान्तवाद जैनदर्शन का आधारभूत सिद्धान्त रहा है। आगमयुग में अनेकान्त का उपयोग द्रव्यमीमांसा के लिये होता था, किन्तु जब समय बदला, खण्डन-मण्डन का युग आया तब अनेकान्त का उपयोग क्षेत्र भी बदल गया। दर्शन युग में अनेकान्त का उपयोग विभिन्न दार्शनिक समस्याओं को सुलझाने एवं एकान्तवादी दार्शनिक सिद्धान्तों के मध्य समन्वय स्थापित करने में होने लगा। प्रमाण व्यवस्था का विकास होने पर वहां भी अनेकान्त का व्यापक उपयोग हुआ। जैन नैयायिकों ने न्याय के प्रमुख अंग—प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति और प्रमाता की व्याख्या में अनेकान्त का भरपूर उपयोग किया अतः जैन न्याय भी अनेकान्तवाद पर ही आधारित है। इसके लिए उन्होंने स्याद्वाद की भाषा-शैली को अपनाया। स्याद्वाद की शैली के दो प्रमुख घटक या तत्त्व हैं—सापेक्षता और समन्वय। सापेक्षता को व्याख्यायित करते हुये देवसेनाचार्य ने लिखा है—

अवरोप्पर सावेक्खं णयविसयं अह पमाणविसयं वा।
तं सावेक्खं तत्तं णिरवेक्खं ताण विपरीयं॥

अर्थात् प्रमाण और नय के विषय परस्पर तथा नय और नय के विषय परस्पर अपेक्षा करते हैं, यही सापेक्ष है और तदितर निरपेक्ष है। स्याद्वाद में प्रयुक्त स्यात् शब्द सापेक्षता की सिद्धि करता है। आचार्य महाप्रज्ञ ने 'जैन न्याय का विकास' नामक अपनी कृति में लिखा है—"सापेक्षता का सिद्धान्त समग्रता का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सिद्धान्त है। वह समग्रता के संदर्भ में ही प्रतिपादित होता है। अनन्त धर्मात्मक द्रव्य के एक धर्म का जब प्रतिपादन किया जाता है तब उसके साथ 'स्यात्' शब्द जुड़ा रहता है। वह इस तथ्य का सूचन करता है कि जिस धर्म का प्रतिपादन किया जा रहा है वह समग्र नहीं है। हम समग्रता को एक साथ नहीं जान सकते, क्योंकि हमारा ज्ञान इतना विकसित नहीं है। हम उसे खण्डों में जानते है, किन्तु सापेक्षता का सिद्धान्त खण्ड की पृष्ठभूमि में रही हुई अखण्डता से हमें अनभिज्ञ नहीं होने देता। निरपेक्ष सत्य की बात करने वाले इस वास्तविकता को भुला देते हैं कि प्रत्येक द्रव्य अपने स्वत्व में निरपेक्ष है, किन्तु सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में कोई भी निरपेक्ष नहीं है।"

व्याप्ति या अविनाभाव के नियमों का निर्धारण सापेक्षता के सिद्धान्त पर ही होता है। स्थूल जगत् के नियम सूक्ष्म जगत् में खण्डित हो जाते हैं। इसीलिए विश्व की व्याख्या दो नयों से की गई। वास्तविक या सूक्ष्म सत्य की व्याख्या निश्चय नय से और स्थूल जगत् या दृश्य सत्य की व्याख्या व्यवहार नय से की गई।

हम किसी को हल्का मानते हैं और किसी को भारी, किन्तु हल्कापन और भारीपन देश-सापेक्ष हैं। गुरुत्वाकर्षण की सीमा में एक वस्तु दूसरी वस्तु की अपेक्षा हल्की-भारी होती है। गुरुत्वाकर्षण की सीमा का अतिक्रमण करने पर वस्तु भारहीन हो जाती है।

हम वस्तु की व्याख्या लम्बाई और चौड़ाई के रूप में करते हैं। मूर्त्त वस्तु के लिये यह व्याख्या ठीक है, किन्तु अमूर्त्त की यह व्याख्या नहीं हो सकती, क्योंकि उसमें लम्बाई चौड़ाई है ही नहीं। वह आकाश-देश का अवगाहन करती है पर स्थान नहीं रोकती। अतः लम्बाई और चौड़ाई मूर्त्त-द्रव्य सापेक्ष हैं। इन कुछ उदाहरणों से हम समझ सकते हैं कि विशिष्ट देश और काल की व्याप्तियां सर्वत्र लागू नहीं होती। इसलिये उनका निर्धारण सापेक्षता के सिद्धान्त के आधार पर किया जाता है।

स्याद्वाद की दूसरी निष्पत्ति है—समन्वय। जैन मनीषियों ने विरोधी धर्मों का एक साथ होना असंभव नहीं माना। उन्होंने अनुभवसिद्ध अनित्यता आदि धर्मों को केवल स्वीकार ही नहीं किया अपितु नित्यता आदि के साथ उनका समन्वय स्थापित किया। यथा—एक तर्क परम्परा का अभ्युपगम है कि शब्द अनित्य है, क्योंकि वह कृतक है। जो-जो कृतक होता है वह अनित्य होता है, जैसे—घड़ा। दूसरी तर्क परम्परा ने इसका निराकरण तर्क के द्वारा करते हुए कहा कि शब्द नित्य है, क्योंकि वह अकृतक है। जो-जो अकृतक होता है वह-वह नित्य होता है, जैसे-आकाश। अनेकान्त के अनुसार इन दो विरोधी तर्कों में भी समन्वय खोजा जा सकता है, क्योंकि विरोध समन्वय का जनक होता है। 'शब्द अनित्य है' यह अभ्युपगम इसलिये सत्य है कि एक क्षण में शब्द श्रोत्रेन्द्रिय का विषय बनता है और अगले क्षण में वह अतीत हो चुका होता है। इस परिवर्तन की दृष्टि से शब्द को अनित्य मानना अनुचित नहीं है। मीमांसकों ने शब्द के उपादानभूत स्फोट को नित्य माना, वह भी अनुचित नहीं है, क्योंकि भाषा वर्गणा के पुद्गल शब्द रूप में परिणत होते हैं। किन्तु वे पुद्गल कभी भी अपुद्गल नहीं बनते हैं। इस अपेक्षा से उनकी नित्यता भी स्थापित की जा सकती है। सापेक्ष सिद्धान्त के अनुसार वस्तु का निरपेक्ष धर्म सत्य नहीं होता। वे समन्वित होकर ही सत्य होते हैं।

जैन तार्किकों ने नय के माध्यम से सभी दर्शनों का समन्वय स्थापित किया। यथा—

"बौद्धानामृजुसूत्रतो मतमभूद् वेदान्तिनां संग्रहात्, सांख्यानां तत एव नैगमनयाद् योगश्च वैशेषिकः।
शब्दाद्वैतविदोऽपि शब्दनयतः सर्वैर्नयैर्गुम्फिता, जैनी दृष्टिरितीह सारतरता प्रत्यक्षमुद्वीक्ष्यते॥"

अर्थात् बौद्ध-अभिमत ऋजुसूत्र नय में वेदान्त और सांख्य-अभिमत संग्रह नय में नैयायिक और वैशेषिक-अभिमत नैगम नय में तथा शब्दाद्वैत-अभिमत शब्द नय में समन्वित होते हैं। जैनदर्शन सब नयों को सापेक्ष दृष्टि से स्वीकार करता है इसलिये वह सर्वसंग्राही दर्शन है, जबकि अन्य दर्शन ऐसा नहीं कर पाते।

जैन तार्किकों ने तत्त्वचिन्तन में अनेकान्त दृष्टि का व्यापक उपयोग करके अपने आगमिक प्रमेयों तथा सर्वसाधारण न्याय के प्रमेयों में से जो-जो मन्तव्य तार्किक दृष्टि से स्थिर किये और प्रमाण शास्त्र में जिनका निरूपण किया उनमें से कुछ मन्तव्यों का निर्देश पंडित सुखलालजी ने प्रमाणमीमांसा की प्रस्तावना में किया है जो कि जैन तार्किकों की विशेषता दिखलाने वाले हैं एवं भारतीय न्याय के विकास में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देने वाले हैं। प्रमाण लक्षण, प्रमाण विभाग, पुरुष का स्वतः प्रामाण्य अवयवों की प्रायोगिक व्यवस्था, निग्रह स्थान, प्रमेय और प्रमाता का स्वरूप इत्यादि।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

11.3 प्रमाण लक्षण

जैन आगम ज्ञान मीमांसा प्रधान रहे हैं किन्तु आगमोत्तर युग में जैसे-जैसे न्याय-विद्या का विकास हुआ वैसे-वैसे प्रमाणमीमांसा की आवश्यकता महसूस होने लगी। जैन आचार्यों ने अपनी ज्ञान मीमांसा को ही प्रमाण मीमांसा के रूप में विकसित किया और ज्ञान को ही प्रमाण रूप में प्रतिष्ठित किया। चूंकि प्रमाण के क्षेत्र में जैनों का प्रवेश नैयायिकों, मीमांसकों एवं बौद्धों के पश्चात् हुआ अतः जैनाचार्यों ने पक्ष और प्रतिपक्ष के सिद्धान्तों के गुण-दोषों का सम्यक् मूल्यांकन करके अपनी अनेकान्त दृष्टि के आधार पर एक व्यापक परिभाषा की। उन्होंने देखा कि नैयायिक ज्ञान को स्वसंवेदी न मानकर ज्ञानान्तरवेद्य मान रहे हैं, वहीं विज्ञानवादी बौद्ध ज्ञान को स्वसंवेदी स्वीकार कर रहे हैं। जैन आचार्यों ने इन दो विरोधों के बीच अनेकान्त के आधार पर समन्वय स्थापित करते हुये ज्ञान को स्वपरावभासी माना, जो कि अनुभवसिद्ध है क्योंकि जो ज्ञान स्व (अपने) को नहीं जान सकता वह पर (पदार्थ) को भी नहीं जान सकता। इस प्रकार जैन आचार्यों ने ज्ञान को ही प्रमाण कहकर अज्ञानरूप इन्द्रियसन्निकर्ष, कारकसाकल्य, इन्द्रियवृत्ति आदि के प्रमाण का निषेध किया।

प्रमाण स्वरूप के साथ-साथ प्रमाण के प्रामाण्य की चर्चा में भी उन्होंने 'प्रामाण्य निश्चयः स्वतः परतो वा' कहकर एकान्तिक मतों के बीच समन्वय स्थापित किया।

11.4 प्रमाण विभाग

जैनदर्शन का प्रमाण-विभाग सम्बन्धी विचार भी अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। जैन परम्परा में प्रमाण के दो भेद स्वीकार किये गये—प्रत्यक्ष और परोक्ष। हम पदार्थ को या तो साक्षात् जानते हैं या फिर किसी माध्यम से जानते हैं। जानने की ये दो ही पद्धतियां हैं और इन्हीं के आधार पर प्रमाण के दो विभाग प्रत्यक्ष और परोक्ष किये गये हैं। यह विभाग दो दृष्टियों से अन्य परम्पराओं की अपेक्षा विशेष महत्त्व रखता है। एक तो यह है कि यह विभाग एक ऐसे सर्वानुभवसिद्ध वैलक्षण्य पर अवलम्बित है कि इसमें एक विभाग में आने वाले प्रमाण दूसरे विभाग के प्रमाणों से असंकीर्णरूप से अलग हो जाते हैं, जैसाकि इतर परम्पराओं के प्रमाण विभाग में नहीं हो पाता। दूसरी दृष्टि यह है कि दूसरे दर्शनों की न्यून या अधिक प्रमाण संख्या बिना किसी खींचतान के इस विभाग में समाहित हो जाती है। यथा—न्यायदर्शन में मान्य उपमान प्रमाण का समावेश परोक्ष के एक भेद प्रत्यभिज्ञान में, प्रभाकर (मीमांसक) के अर्थापत्ति प्रमाण का समावेश अनुमान प्रमाण में तथा कुमारिल भट्ट (मीमांसक) के अभाव प्रमाण का समावेश बिना किसी व्यवधान के प्रत्यक्ष प्रमाण में हो जाता है। इसमें न तो चार्वाक की तरह परोक्षानुभव का अपलाप है और न बौद्ध, वैशेषिक की तरह आगम प्रमाण का अपलाप है अपितु उपयोगी समझ पर आधाारित होने के कारण यह जैन प्रमाणशास्त्र की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है और अन्य प्रमाणशास्त्रों में अपना विशेष महत्त्व रखती है।

11.5 पुरुष का स्वतः प्रामाण्य

तर्कशास्त्र में स्वतः प्रामाण्य का प्रश्न बहुत चर्चित रहा है। जैन तर्क-परम्परा में स्वतः प्रमाण मनुष्य का स्वीकृत है। मनुष्य ही स्वतः प्रमाण होता है, ग्रन्थ स्वतः प्रमाण नहीं होता। ग्रन्थ के स्वतः प्रामाण्य की अस्वीकृति और मनुष्य के स्वतः प्रामाण्य की स्वीकृति एक बहुत विलक्षण सिद्धान्त है। पूर्व मीमांसा ग्रन्थ का स्वतः प्रामाण्य मानती है, मनुष्य वीतराग नहीं हो सकता और वीतराग हुये बिना कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता और असर्वज्ञ स्वतः प्रमाण नहीं हो सकता। जैन चिन्तन के अनुसार मनुष्य वीतराग हो सकता है और वह केवलज्ञान को प्राप्त कर सर्वज्ञ हो सकता है। इसलिये स्वतः प्रमाण मनुष्य ही होता है। उसका वचनात्मक प्रयोग, ग्रन्थ या वाड्.मय भी प्रमाण होता है, किन्तु वह मनुष्य की प्रामाणिकता के कारण प्रमाण होता है इसलिये वह स्वतः प्रमाण नहीं हो सकता। पुरुष के स्वतः प्रामाण्य का सिद्धान्त जैन तर्कशास्त्र की मौलिक देन है। समूची भारतीय तर्क-परम्परा में सर्वज्ञत्व का समर्थन करने वाली जैन परम्परा ही प्रधान है। बौद्धों ने बुद्ध को स्वतः प्रमाण मानकर ग्रन्थ का परतः प्रामाण्य माना है, किन्तु वे बुद्ध को धर्मज्ञ मानते हैं सर्वज्ञ नहीं मानते हैं। पूर्वमीमांसा के अनुसार मनुष्य धर्मज्ञ भी नहीं हो सकता। बौद्धों ने इससे आगे प्रस्थान किया और कहा कि मनुष्य धर्मज्ञ हो सकता है। जैनों का प्रस्थान इससे भी आगे हैं। उन्होंने कहा—मनुष्य सर्वज्ञ भी हो सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

11.6 प्रत्यक्ष का तात्त्विकत्व

जैन दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष को स्वीकार करने में भी अनेकान्त दृष्टि अपनाई। जहां सभी भारतीय दार्शनिक इन्द्रिय और मन से होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष मान रहे थे वहां जैन दृष्टि के अनुसार इन्द्रिय और मन से होने वाला ज्ञान परोक्ष है तथा आत्मा से सीधा होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है। 'संबद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना' इन्द्रियां अपने विषय को ग्रहण करने में कितनी ही पटु क्यों न हों पर वे अन्तत: परतंत्र ही हैं अत: उससे उत्पन्न होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष मानने की अपेक्षा आत्मा से होने वाले ज्ञान को ही प्रत्यक्ष मानना चाहिये। तत्त्वचिन्तन में जैनों का यह विचार मौलिक है। किन्तु कालान्तर में सभी दार्शनिकों के साथ समन्वय स्थापित करने की दृष्टि से आचार्य जिनभद्रगणी और अकलंक ने आगमिक और दार्शनिक युग का समन्वय किया और इन्द्रिय और मन से होने वाले ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के रूप में स्वीकार कर अनेकान्त दृष्टि का उपयोग किया।

11.7 परोक्ष के प्रकार

परोक्ष को प्रमाण रूप में स्वीकारना भी जैनदर्शन के मौलिक विचार का ही परिचायक है। साथ ही अन्य जितने भी प्रमाण स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, आगम आदि जिनका अन्य शास्त्रों में कहीं खण्डन किया गया कहीं मण्डन। उन सभी प्रमाणों का समावेश परोक्ष प्रमाण में करके जैन आचार्यों ने अपनी समन्वय दृष्टि का परिचय दिया है।

11.8 हेतु का स्वरूप

जिस प्रकार परोक्ष प्रमाण को स्वीकार कर अन्य सभी प्रमाणों को भी एक ही प्रमाण के अन्तर्गत स्वीकार कर लिया गया। उसी प्रकार हेतु के विषय में भी जैन तार्किकों का यह चिन्तन चला कि क्या हेतु का भी कोई एक ऐसा लक्षण हो सकता है, जिसके अन्तर्गत अन्य सभी लक्षण गर्भित हो जाये। इस ऊहापोह से उन्होंने एक ऐसा लक्षण स्वीकारा जो निर्दोष साबित होता है। वह है—'अन्यथानुपपत्ति' या 'अविनाभाव'। इस प्रकार हेतु की एकरूपता को स्वीकार करने का श्रेय जैन तार्किकों को ही जाता है।

11.9 अवयवों की प्रायोगिक व्यवस्था

परार्थानुमान के प्रयोग में कितने अवयवों का प्रयोग करना चाहिये, इस विषय में प्रतिद्वन्द्वीभाव प्रमाणक्षेत्र में कायम हो गया था। जैन तार्किकों ने इस विषय के पक्ष भेद की यथार्थता-अयथार्थता का निर्णय श्रोता की योग्यता के आधार पर ही किया, जो वस्तुत: सच्ची कसौटी हो सकती है। इस कसौटी में से उन्हें अवयव प्रयोग की व्यवस्था ठीक-ठीक सूझ गई, जो वस्तुत: अनेकान्तदृष्टि मूलक होकर सर्वसंग्राहिणी है और वैसी स्पष्ट व्यवस्था अन्य परम्पराओं में शायद ही देखी जाती है।

11.10 निग्रह स्थान या जय-पराजय व्यवस्था

निग्रह स्थान की चर्चा अन्य परम्पराओं में पहले से ही काफी चर्चित थी। जैन तार्किकों ने इस विषय में भी अपनी चिन्तन की मौलिकता प्रदान की। उन्होंने कहा जय-पराजय निग्रह स्थान पर आधारित नहीं अपितु अपने पक्ष की सिद्धि और असिद्धि पर टिकी हुई है। यह चिन्तन आज भी तर्कशास्त्र में अपनी प्रतिष्ठा पाये हुए है।

11.11 प्रमेय और प्रमाता का स्वरूप

प्रमेय जड़ हो या चेतन, पर सबका स्वरूप जैन तार्किकों ने अनेकान्त-दृष्टि का उपयोग करके ही स्थापित किया और सर्वव्यापक रूप से कह दिया कि वस्तु-मात्र परिणामी नित्य है। नित्यता के ऐकान्तिक आग्रह की धुन में अनुभव-सिद्ध अनित्यता का इनकार करने की अशक्यता देखकर कुछ तत्त्व-चिन्तक गुण, धर्म आदि में अनित्यता घटाकर उसका जो मेल नित्य-द्रव्य के साथ खींचातानी से बिठा रहे थे और कुछ तत्त्व-चिन्तक अनित्यता के ऐकान्तिक आग्रह की धुन में अनुभवसिद्ध नित्यता को भी कल्पना मात्र बतला रहे थे उन दोनों में जैन तार्किकों ने स्पष्टतया अनुभव की आंशिक असंगति देखी और पूरे विश्वास के साथ बलपूर्वक प्रतिपादन कर दिया कि जब अनुभव न केवल नित्यता का है और न केवल अनित्यता का तब किसी एक अंश को मान कर दूसरे अंश का बलात् मेल बैठाने की अपेक्षा दोनों अंशों को तुल्य सत्यरूप में स्वीकार करना ही न्यायसंगत है। इस प्रतिपादन में दिखाई देने वाले विरोध का परिहार उन्होंने द्रव्य और पर्याय या सामान्य और विशेष ग्राहिणी दो दृष्टियों के स्पष्ट पृथक्करण से कर दिया। द्रव्य-पर्याय की व्यापक दृष्टि का यह विकास जैन परम्परा की ही देन है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रमाता के स्वरूप के संदर्भ में भी जैनाचार्यों ने अनेकान्तवाद का सहारा लेकर एकान्तवादी मन्तव्यों के बीच समन्वय स्थापित किया। जहां विज्ञानवादी बौद्ध आत्मा के स्वावभासित्व को स्वीकार कर रहे थे वहां परोक्षज्ञानवादी कुमारिल आदि मीमांसक आत्मा का परावभासित्व सिद्ध कर रहे थे। वेदान्त, सांख्य आदि जहां आत्मा को कूटस्थ नित्य मान रहे थे वहां बौद्ध आत्मा को क्षणिक मान रहे थे। जैन दार्शनिकों ने आत्मा को स्वपरावभासी एवं परिणामी नित्य मानकर इन ऐकान्तिक मतों के बीच समन्वय कर इस क्षेत्र में भी अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इस क्षेत्र में जैन तार्किकों की भूमिका सदैव एक तटस्थ न्यायाधीश की रही। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती सिद्धान्तों की समीक्षा के माध्यम से सदैव अपने आपको समृद्ध किया और जहां आवश्यक लगा, वहां अपनी पूर्व मान्यताओं को भी संशोधित और परिमार्जित किया। चाहे सिद्धसेन हो या समन्तभद्र, अकलंक हो या हेमचन्द्र सभी ने अपने ग्रन्थों के निर्माण में जहां अपनी परम्परा के पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों का अध्ययन किया,वहीं अन्य परम्परा के पक्ष और प्रतिपक्ष का भी गंभीर अध्ययन किया। अत: जैन न्याय या प्रमाण विचार स्थिर न होकर सतत् गतिशील बना रहा और वह युग-युग में परिष्कृत, विकसित और समृद्ध होता रहा।

आचार्य सिद्धसेन से लेकर आचार्य यशोविजय जी तक अनेक ऐसे जैन तार्किक हुये जिन्होंने जैन न्याय के विकास में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। यहां हम सबकी चर्चा न करके मात्र आचार्य हेमचन्द्र और उनकी कृति प्रमाणमीमांसा जो कि जैनन्याय के विकास का एक चरण है उसकी संक्षिप्त चर्चा करेंगे।

11.12 आचार्य हेमचन्द्र

जैनाचार्यों की प्रभावशाली परम्परा में आचार्य हेमचन्द्र का अपना विशिष्ट स्थान है। इसीलिए परम्परा उन्हें कलिकालसर्वज्ञ मानती आयी है। भारत के प्राचीन आचार्यों के सम्बन्ध में हमें जो थोड़ी बहुत सामग्री उपलब्ध होती है वह उन आचार्यों के जीवन से जुड़ी हुई चमत्कारपूर्ण घटनाओं से इतनी अधिक आवृत है कि उसमें से इतिहास के तथ्यों को निकालना कठिन हो जाता है। आचार्य हेमचन्द्र के सम्बन्ध में जो ऐतिहासिक तथ्य हमें उपलब्ध होते हैं वे संक्षेप में इस प्रकार हैं—

आचार्य प्रभाचन्द्रसूरि कृत 'प्रभावक चरित्र' के अनुसार आचार्य हेमचन्द्र का जन्म कार्त्तिक पूर्णिमा वि. सं. 1145 में हुआ। उनका जन्मनाम चंगदेव था। उन्होंने बाल्यकाल में ही दीक्षा स्वीकार कर ली। एकमत के अनुसार दीक्षा के समय उनकी आयु पांच वर्ष की थी और दूसरे मतानुसार आठ वर्ष। इनमें दूसरा मत शास्त्र सम्मत होने के कारण उचित प्रतीत होता है। 21 वर्ष की अवस्था में इन्हें सूरिपद मिला और इसी समय इनका हेमचन्द्र नाम प्रसिद्ध हुआ। इनके दीक्षा गुरु देवचन्द्रसूरि की स्थानांगसूत्र पर टीका प्रसिद्ध है। इस प्रकार वैदुष्य इन्हें अपनी साम्प्रदायिक परम्परा की धरोहर के रूप में प्राप्त हुआ था। विद्या की दृष्टि से इनका सम्बन्ध काश्मीरी पंडितों से रहा प्रतीत होता है क्योंकि सिद्धहेम लिखने के लिये उन्होंने उत्साह नामक काश्मीरी पंडित को काश्मीर भेजा था जो वहां से आठ व्याकरण लाया था।

वि.सं. 1181 में वे जयसिंह सिद्धराज की सभा में उपस्थित थे। इनके उपदेश से जयसिंह की रुचि जैनधर्म में हो गई। कुल-परम्परा से जयसिंह कट्टर शैव थे। अजैन राजा की राजसभा में रहने के कारण आचार्य हेमचन्द्र ने अनेकान्त दृष्टि का अनुसरण करते हुये जैनेतर दर्शनों के प्रति उदार दृष्टि अपनायी जैसाकि 'अयोगव्यवच्छेद' नामक ग्रन्थ के निम्न श्लोक से स्पष्ट होता है—

"यत्र तत्र समये यथा तथा योऽसि सोऽसि अभिधया यया तया।
स वीतदोषकलुषः स चेद् भवानेक एव भगवन् नमोऽस्तुते ॥"

जयसिंह के आश्रय में रहते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने 54 वर्ष की अवस्था तक विपुल साहित्य रचना की। आचार्य हेमचन्द्र के उपदेशों का जयसिंह की अपेक्षा कुमारपाल पर अधिक प्रभाव पड़ा जिससे उसने अपने राज्य में द्यूत और मद्य का सेवन निषिद्ध कर दिया तथा यज्ञ में पशुहिंसा भी प्रतिबंधित कर दी। कुमारपाल के समय में आचार्य हेमचन्द्र ने अनेक ग्रन्थ लिखे जिसमें 'सिद्धहेमशब्दानुशासन, प्राकृतद्व्याश्रय, योगशास्त्र, त्रिषष्टीशलाकापुरुषचरित' प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त द्वात्रिंशिकाएं, वीतरागस्तुति, महावीरस्तोत्र, अभिधानचिन्तामणि, अनेकार्थसंग्रह निघुण्टु तथा देशीनाममाला जैसे कोश और योगशास्त्र जैसे साधना के ग्रन्थों का भी निर्माण किया। प्रमाण मीमांसा नामक न्याय-ग्रन्थ इनकी अंतिम कृति प्रतीत होती है। इनकी इन सब कृतियों का वर्णन डॉ. वि.भा.मुसलगांवकर की कृति 'आचार्य हेमचन्द्र' में विस्तार से उपलब्ध होता है। आचार्य हेमचन्द्र 84 वर्ष की अवस्था में वि.सं. 1229 में दिवंगत हुए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

11.13 प्रमाण मीमांसा

आचार्य हेमचन्द्र का प्रमाणमीमांसा नामक यह ग्रन्थ भी जैन न्याय के विकास का एक चरण है। प्रमाण मीमांसा एक अपूर्ण ग्रन्थ है। न तो मूल ग्रन्थ ही और न उसकी वृत्ति ही पूर्ण है। उपलब्ध मूल सूत्र 100 हैं और इन्हीं पर वृत्ति भी उपलब्ध है। इसका तात्पर्य यही है कि यह ग्रन्थ आचार्य हेमचन्द्र अपने जीवनकाल में पूर्ण नहीं कर सके थे। इसका फलित यह है कि उन्होंने अपने जीवन के अंतिम चरण में ही इस कृति का लेखन प्रारम्भ किया होगा। यह ग्रन्थ भी कणादसूत्र या वैशेषिकसूत्र, ब्रह्मसूत्र एवं तत्त्वार्थसूत्र की तरह सूत्रशैली का ग्रन्थ है, फिर भी इस ग्रन्थ का वर्गीकरण शैली भिन्न ही है। आचार्य की योजना इसे पांच अध्यायों में समाप्त करने की थी और वे प्रत्येक अध्याय को दो-दो आह्निकों में विभक्त करना चाहते थे, किन्तु आज मात्र उसके दो अध्याय अपूर्ण ही उपलब्ध हैं। अपूर्ण होने पर भी इस ग्रन्थ की मूल्यवत्ता अक्षुण्ण बनी हुई है।

आचार्य हेमचन्द्र ने इस ग्रन्थ के लेखन में अपनी परम्परा और अन्य दार्शनिक परम्पराओं के न्याय सम्बन्धी ग्रन्थों का पूरा अवलोकन किया है। पंडित सुखलालजी के शब्दों में "आगमिक साहित्य के अतिविशाल खजाने के उपरान्त 'तत्त्वार्थ' से लेकर 'स्याद्वादरत्नाकर' तक के संस्कृत तार्किक जैन साहित्य की भी बहुत बड़ी राशि हेमचन्द्र के परिशीलन-पथ में आई, जिससे हेमचन्द्र का सर्वाङ्ग.ीण सर्जक व्यक्तित्व संतुष्ट होने के बजाय एक ऐसे नये सर्जन की ओर प्रवृत्त हुआ, जो अब तक के जैन वाङ्मय में अपूर्व स्थान रख सके।"वस्तुतः निर्युक्ति, विशेषावश्यकभाष्य, तत्त्वार्थ और उसका भाष्य जैसे आगमिक ग्रन्थ तथा सिद्धसेन दिवाकर, समन्तभद्र, अकलंक, माणिक्यनंदी और विद्यानन्द की प्रायः समग्र कृतियां इसकी उपादान सामग्री बनी हैं।

इसी प्रकार बौद्ध और वैदिक परम्परा के वे सभी ग्रन्थ जिनका उपयोग उनकी कृति की आधारभूत, पूर्वाचार्यों की जैन न्याय की कृतियों में हुआ है, स्वाभाविक रूप से उनकी कृति के आधार बने हैं। पंडित सुखलालजी स्पष्ट रूप से कहते हैं कि "बौद्ध परम्परा के दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, अर्चट और शांतरक्षित तथा वैदिक परम्परा के कणाद्, भासर्वज्ञ, श्रीधर, अक्षपाद, वात्स्यायन, उद्योतकर, जयन्त, वाचस्पतिमिश्र, शबर, प्रभाकर और कुमारिल की कृतियां उनके अध्ययन का विषय रही हैं।" वस्तुतः अपनी परम्परा के और प्रतिपक्षी बौद्ध एवं वैदिक परम्परा के इन विविध ग्रन्थों के अध्ययन के परिणामस्वरूप ही हेमचन्द्र जैन-न्याय के क्षेत्र में एक विशिष्ट कृति प्रदान कर सके। प्रश्न हो सकता है कि हेमचन्द्र को इस कृति की आवश्यकता क्यों अनुभूत हुई? जब उनके सामने अभयदेव का 'वादार्णव' और वादिदेव के 'स्याद्वादरत्नाकर' जैसे अपनी परम्परा के सर्वसंग्राहक ग्रन्थ उपस्थित थे, फिर उन्होंने यह ग्रन्थ क्यों रचा? इस सम्बन्ध में पंडित सुखलाल जी कहते हैं कि "यह सब हेमचन्द्र के सामने था, पर उन्हें मालूम हुआ कि न्याय-प्रमाण विषयक इस साहित्य में कुछ भाग तो ऐसा है, जो अति महत्त्व का होते हुए भी एक-एक विषय की ही चर्चा करता है या बहुत संक्षिप्त है। दूसरा कुछ भाग ऐसा है जो सर्वविषय संग्राही तो है पर वह उत्तरोत्तर इतना अधिक विस्तृत तथा शब्दक्लिष्ट है कि सर्वसाधारण के अभ्यास का विषय नहीं बन सकता। इस विचार से आचार्य हेमचन्द्र ने एक ऐसा प्रमाण विषयक ग्रन्थ बनाना चाहा जो उनके समय तक चर्चित एक भी दार्शनिक विषय की चर्चा से खाली न रहे तथा पाठ्यक्रम योग्य मध्यम कद का हो, सामान्य बुद्धि के पाठक भी जिसे समझ सकें। इसी दृष्टि में से 'प्रमाण मीमांसा' का जन्म हुआ।

यह ठीक है कि प्रमाण मीमांसा सामान्य बौद्धिक स्तर के पाठकों के लिए मध्यम आकार का पाठ्यक्रम योग्य ग्रन्थ है, किन्तु इससे उसके वैदुष्यपूर्ण और विशिष्ट होने में कोई आंच नहीं आती है। यद्यपि हेमचन्द्र ने इस ग्रन्थ की रचना में अपने एवं इतर परम्परा के पूर्वाचार्यों का उपयोग किया है, फिर भी इस ग्रन्थ में यत्र-तत्र अपने स्वतंत्र चिन्तन और प्रतिभा का उपयोग भी उन्होंने किया है। अतः इसकी मौलिकता को नकारा नहीं जा सकता है। इस ग्रन्थ की रचना में अनेक स्थलों पर हेमचन्द्र ने विषय को अपने पूर्वाचार्यों की अपेक्षा अधिक सुसंगत ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है और इसी कारण ग्रन्थ में यत्र-तत्र उनके वैदुष्य और स्वतंत्र चिन्तन के दर्शन होते हैं। पंडित सुखलालजी ने आचार्य हेमचन्द्र के वैशिष्ट्य की चर्चा अपने भाषा-टिप्पणों में की है, जिज्ञासु पाठक वहां देख सकते हैं।

पंडित सुखलाल सिंघवी ने प्रमाण-मीमांसा की अपनी हिन्दी भूमिका में यह स्पष्ट किया है कि प्रमाण-मीमांसा में जैनों के मूल सिद्धान्त अनेकान्त का अनुसरण करते हुए उन सभी विषयों पर प्रकाश डाला गया है जो जैन प्रमाण मीमांसा का वैशिष्ट्य था। यहां प्रमाण-मीमांसा के विषयों का हम एक सिंहावलोकन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मात्र इस दृष्टि से करेंगे कि हेमचन्द्राचार्य के जैन न्याय विषयक विवेचन की एक स्थूल रूपरेखा आपके सामने आ सके।

स्वाभाविक है कि आचार्य हेमचन्द्र अपनी कृति का प्रारम्भ प्रमाण के लक्षण को देने के साथ करते हैं। उनके अनुसार प्रमाण मीमांसा का लक्ष्य केवल शब्द-जाल में उलझाना न होकर मोक्ष मार्ग का प्रतिपादन करना है। प्रमाण का कार्य है पदार्थ का सम्यक् निर्णय करना। जैन दृष्टि से प्रमाण ज्ञानरूप है। दीपक के समान ज्ञान पर-प्रकाशक होने के साथ स्व-प्रकाशक भी होता है। किन्तु ज्ञान की यह स्वप्रकाशता प्रमाण और अप्रमाण दोनों में होती है, अतः अनेक जैनाचार्यों द्वारा स्वनिर्णय को प्रमाण के लक्षण में दिए जाने पर भी आचार्य हेमचन्द्र ने उसे प्रमाण के लक्षण का अंग नहीं बनाया है, जो कि उनके स्वतंत्रचिन्तक होने का प्रमाण है। स्पष्ट है कि आचार्य हेमचन्द्र जैनाचार्यों का अनुकरण भी आंख मूंदकर नहीं करते। इसीलिए वे जैनाचार्यों द्वारा दिए गए 'अपूर्वार्थ' विशेषण को भी प्रमाण के लक्षण में नहीं देते और 'गृहीतग्राही' को गृहीष्यमानग्राही के समान ही प्रमाण मानते हैं। इस स्थल पर वे दिगम्बर आचार्यों से सहमत नहीं है किन्तु धारणा का लक्षण देते समय वे अकलंक और विद्यानन्द जैसे दिगम्बर आचार्यों का भी अनुसरण करते हैं। इससे स्पष्ट है कि वे साम्प्रदायिक अभिनिवेश से ऊपर उठे हुए हैं।

प्रमाण के लक्षण की समीक्षा करते समय बौद्ध नैयायिकों का जो मत उद्धृत किया है वह वर्तमान में किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता। स्पष्ट है कि आचार्य हेमचन्द्र ने अपने समय में उपलब्ध जैन तथा जैनेतर सभी सामग्री का उपयोग प्रमाण मीमांसा लिखते समय पूरी तरह किया था।

प्रमाण की संख्या सम्बन्धी विवाद उपस्थित करते समय आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि चार्वाक एक प्रत्यक्ष प्रमाण को, बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाणों को, वैशेषिक तथा सांख्य प्रत्यक्ष अनुमान और आगम इन तीन प्रमाणों को, नैयायिक उपमान सहित चार प्रमाणों को, प्रभाकर अर्थापत्ति सहित पांच प्रमाणों को और भाट्ट अभाव सहित छः प्रमाणों को मानते हैं। ये कुछ इस प्रकार के प्रसंग हैं जिनको पढ़कर पाठक न केवल जैनदर्शन में अपितु सम्पूर्ण भारतीय दर्शन में तुलनात्मक और व्यापक दृष्टि प्राप्त कर लेता है। प्रमाणों की इन संख्याओं के संदर्भ में चार्वाक और मीमांसक के मतों का खण्डन प्रस्तुत करने वाले अंश आचार्य हेमचन्द्र के प्रखर तार्किक प्रतिभा के परिचायक हैं।

सर्वज्ञ की सिद्धि के सम्बन्ध में आचार्य हेमचन्द्र ने विस्तार से चर्चा की है क्योंकि वे जानते थे कि सर्वज्ञ की सिद्धि पर ही जैन आगमों की प्रामाणिकता टिकी हुई है। उन्होंने इस विषय का भी विवेचन किया है कि क्या सर्वज्ञ जैसे बुद्धिसिद्ध धर्मी को अथवा षष्ठभूत जैसे बुद्धिसिद्ध धर्मी को भी क्रमशः अस्तित्व और नास्तित्व साध्य बनाकर अनुमान का विषय बनाया जा सकता है। इस संदर्भ में पूर्वपक्ष के रूप में वे प्रमाण-वार्तिक के मत को पूरी ईमानदारी से प्रस्तुत करते हुए उसका उत्तर देते हैं। ऐसे प्रसंगों में वे एक तटस्थ न्यायाधीश की भांति दार्शनिक प्रश्नों पर सत्यासत्य का निर्णय करते हुए दिखाई देते हैं।

आचार्य हेमचन्द्र का इन्द्रियों का विशद विवेचन वर्तमान वैज्ञानिकों के लिए भी उपयोगी सिद्ध हो सकता है। प्रत्यक्ष की प्रक्रिया के विविध सोपान मनोवैज्ञानिकों के लिए आकर्षण का विषय बन सकता है। तत्त्व-मीमांसा के क्षेत्र में उन्होंने अनेकान्त के आधार पर वस्तु का कथंचित् नित्यत्व और कथंचित् अनित्यत्व बहुत विस्तार से प्रतिपादित किया है। उनका कहना है कि वस्तु को नित्यानित्य माने बिना उसका अर्थक्रियाकारित्व ही सिद्ध नहीं हो सकता। एकान्ततः नित्य पदार्थ या तो कभी भी अर्थक्रिया नहीं करेगा या सर्वदा ही अर्थक्रिया करता रहेगा और एकान्ततः अनित्य पदार्थ को अर्थक्रिया में कोई क्रमिकता होना संभव नहीं है, क्योंकि ऐसा पदार्थ दूसरे क्षण में रहेगा ही नहीं। अतः पदार्थ को नित्यानित्य ही मानना होगा। उन्होंने स्पष्ट किया है कि पदार्थ को नित्यानित्य मानने पर उसमें नित्यता और अनित्यता के पक्ष में आने वाले दोष इसलिए नहीं आएंगे कि वे नित्य और अनित्य का समुच्चय नहीं अपितु अनित्य के समन्वय से उत्पन्न होने वाला एक जात्यन्तर है। इसी प्रकार प्रमाण और प्रमाण-फल में भेदाभेद स्थापित करने में हेमचन्द्र की कुशलता दृष्टिगोचर होती है। वे कहते हैं कि कर्मोन्मुख ज्ञान का व्यापार प्रमाण का फल है और कर्त्ता के व्यापार के रूप में होने वाला ज्ञान प्रमाण है। जिस प्रकार वस्तु परिणमनशील है, प्रमाता भी परिणमनशील है। यदि उसे एकान्त नित्य मानें तो उसमें सुख-दुःख आदि पदार्थ पर्यायों का अभाव हो जाएगा और यदि उसे एकान्त अनित्य मानें तो कर्मफल की व्यवस्था नहीं बन पाएगी, क्योंकि कर्म करने वाले कर्मफल निष्पन्न होने तक रहेंगे ही नहीं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इस प्रकार कर्म का कर्त्ता कोई और होगा और कर्म के फल का भोक्ता कोई ओर। प्रत्यभिज्ञान में नैयायिकों के उपमान को गर्भित करते हुए जिन सोदाहरण तर्कों से आचार्य हेमचन्द्र ने प्रत्यभिज्ञान को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित किया है, वह किसी भी मध्यस्थ पाठक को आकर्षित किये बिना नहीं रह सकता। यही स्थिति ऊह को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित करते समय दिए जाने वाले तर्कों की है।

आचार्य हेमचन्द्र की गुणग्राहकता अनेक स्थलों पर प्रकट होती है। व्याप्ति—साधन और साध्य के बीच का सम्बन्ध साधन के साथ किस प्रकार का है और साध्य के साथ किस प्रकार का सम्बन्ध है? इस प्रश्न के उत्तर में जो कुछ बौद्धग्रन्थ 'हेतुबिन्दु टीका लिखित' में कहा गया था उसे थोड़े से परिवर्तन के साथ हेमचन्द्राचार्य ने ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है। इस प्रकार उन्होंने जैन न्याय को अन्य दर्शनों से सामग्री लेकर समृद्ध बनाया है। इसी प्रकार मोक्षाकारीय तर्कभाषा से हेतु के भेदोपभेद ज्यों के त्यों आचार्य हेमचन्द्र ने ले लिए हैं।

आचार्य हेमचन्द्र को बहुत-सी मान्यताएं जैन परम्परा से प्राप्त हुई थी। उन्होंने उन मान्यताओं को अपने स्वतंत्र चिन्तन से परिपुष्ट करते हुए प्रस्तुत किया है। उदाहरणत: अनुमान वाक्य के अवयवों की संख्या के संदर्भ में जैन दृष्टि कोई विशेष आग्रह नहीं रखती। आचार्य हेमचन्द्र ने भी उसी लचीलेपन को प्रमाण-मीमांसा में प्रतिपादित किया है। हेत्वाभास तथा दृष्टान्ताभासों के उदाहरण देने में उन्होंने बहुत कुछ न्याय परम्परा से लिया है किन्तु अनेक स्थानों पर अपनी मौलिकता भी प्रदर्शित की है। उन्होंने अनन्वय और अव्यतिरेक दृष्टान्ताभास को अलग न मानकर शेष आठ-आठ भेदों के अन्दर ही समावेश किया है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि एक पद की दो बार आवृत्ति अर्थात् वीप्सा, सर्वपद का प्रयोग और अवधारणा सूचक एव पद का प्रयोग व्याप्ति को प्रदर्शित करने के उपाय हैं। उनका मानना है कि दूषणाभासों की संख्या निर्धारित करना संभव नहीं तथापि गौतम द्वारा प्रदर्शित 24 जात्युत्तरों का उन्होंने विस्तार से वर्णन किया है। ऐसा संभवत: उन्होंने अपने शिष्यों की बुद्धि बढ़ाने के लिए किया है। यहां उनकी दृष्टि में पाठक का ज्ञानवर्धन मुख्य है न कि साम्प्रदायिक प्रतिपादन। हेमचन्द्राचार्य अपनी वीतरागवृत्ति के कारण वाद के समर्थक हैं, जल्प या छल के नहीं। निग्रहस्थानों के सम्बन्ध में भी आचार्य हेमचन्द्र नैयायिकों के मत से सहमत नहीं है तथापि निग्रहस्थान का ज्ञान उपयोगी मानकर उसका विशद वर्णन करते हैं। धर्मकीर्ति ने ऋषभ और वर्धमान पर कटाक्ष किया था। वादिदेव ने बदले में सुगत पर कटाक्ष किया। आचार्य हेमचन्द्र ने ऐसे साम्प्रदायिक प्रसंगों को अपने ग्रन्थों में नहीं रखा जो उनके सूक्ष्म सूझ-बूझ का सूचक हैं। इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं—

1. आचार्य हेमचन्द्र की प्रमाण-मीमांसा जैन न्याय का एक आदर्श पाठ्यग्रन्थ है जो न अति विस्तृत है न अति संक्षिप्त।
2. प्रमाण-मीमांसा में परम्परा का अनुकरण है किन्तु अन्धानुकरण नहीं। आचार्य हेमचन्द्र अपनी स्वतंत्र विवेक बुद्धि का सर्वत्र उपयोग करते हैं।
3. हेमचन्द्राचार्य मीमांसक, बौद्ध आदि जैनेतर आचार्यों की भी युक्तियुक्त व्याख्याओं को प्रमाणमीमांसा में नि:संकोच भाव से अंगीकार कर लेते हैं।
4. नैयायिकों की अनेक स्थापनाओं को युक्तिसंगत न मानते हुए भी हेमचन्द्राचार्य उन स्थापनाओं को इसलिये विस्तृत रूप में दे देते हैं कि पाठकों का ज्ञानवर्धन हो।
5. आचार्य हेमचन्द्र साम्प्रदायिक अभिनिवेशों से मुक्त होकर तर्कसंगतता को सर्वोपरि मानते हैं।
6. आचार्य हेमचन्द्र की भाषा शैली अत्यन्त परिनिष्ठित, विषयानुरूप तथा वृथा शब्दाडम्बर से रहित है।
7. हेमचन्द्राचार्य अपनी युक्तियों को सरल भाषा में ही प्रस्तुत करते हैं किन्तु जहां कहीं अन्य आचार्यों के अंशों को ले लिया है वहां जटिलता भी आ गयी है,किन्तु यह जटिलता आचार्य हेमचन्द्र-निर्मित नहीं है।

11.14 सारांश

इस प्रकार अन्यान्य विधाओं में अपने योगदान के समान जैन प्रमाण के क्षेत्र में भी अपने योगदान के लिये हेमचन्द्राचार्य जैनदर्शन के इतिहास में सदा याद किये जाते रहेंगे।

प्रमाण-मीमांसा के प्रथम अध्याय के दो आह्निकों के अन्तर्गत आये हुए सूत्र—

प्रमाणमीमांसाया: सूत्रपाठ: 1

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अथ प्रमाणमीमांसा ॥1॥
सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम् ॥2॥
स्वनिर्णयः सन्नप्यलक्षणम्, अप्रमाणेऽपिभावात् ॥3॥
ग्रहीष्यमाणग्रहिण इव गृहीतग्रहिणोऽपि नाप्रामाण्यम् ॥4॥
अनुभयत्रोभयकोटिस्पर्शी प्रत्ययः संशयः ॥5॥
विशेषानुल्लेख्यनध्यवसायः ॥6॥
अतस्मिंस्तदेवेति विपर्ययः ॥7॥
प्रामाण्यनिश्चयः स्वतः परतो वा ॥8॥
प्रमाणं द्विधा ॥9॥
प्रत्यक्षं परोक्षं च ॥10॥
व्यवस्थान्यधीनिषेधानां सिद्धेः प्रत्यक्षेतरप्रमाणसिद्धिः ॥11॥
भावाभावात्मकत्वाद्वस्तुनो निर्विषयोऽभावः ॥12॥
विशदः प्रत्यक्षम् ॥13॥
प्रमाणान्तरानपेक्षेदन्तया प्रतिभासो वा वैशद्यम् ॥14॥
तत् सर्वथावरणविलये चेतनस्य स्वरूपाविर्भावोमुख्यं
केवलम् ॥15॥
प्रज्ञातिशयविश्रान्त्यादिसिद्धेस्तत्सिद्धिः ॥16॥
बाधकाभावाच्च ॥17॥
तत्तारतम्येऽवधिमनःपर्यायौ च ॥18॥
विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयभेदात् तद्भेदः ॥19॥
इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवग्रहेहावायधारणात्मा सांव्यवहारिकम् ॥20॥
स्पर्शरसगन्धरूपशब्दग्रहणलक्षणानि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुः
श्रोत्राणीन्द्रियाणि द्रव्यभावभेदानि ॥21॥
द्रव्येन्द्रियं नियताकाराः पुद्गलाः ॥22॥
भावेन्द्रियं लब्ध्युपयोगौ ॥23॥
सर्वार्थग्रहणं मनः ॥24॥
नार्थालोकौ ज्ञानस्य निमित्तमव्यतिरेकात् ॥25॥
अक्षार्थयोगे दर्शनानन्तरमर्थग्रहणमवग्रहः ॥26॥
अवगृहीतविशेषाकाङ्क्षणमीहा ॥27॥
ईहितविशेषनिर्णयोऽवायः ॥28॥
स्मृतिहेतुर्धारणा ॥29॥
प्रमाणस्य विषयो द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु ॥30॥
अर्थक्रियासामर्थ्यात् ॥31॥
तल्लक्षणत्वाद्वस्तुनः ॥32॥
पूर्वोत्तराकारपरिहारस्वीकारस्थितिलक्षणपरिणामे
नास्यार्थक्रियोपपत्तिः ॥33॥
फलमर्थप्रकाशः ॥34॥
कर्मस्था क्रिया: ॥35॥
कर्तृस्था प्रमाणम् ॥36॥
तस्यां सत्यामर्थप्रकाशसिद्धेः ॥37॥
अज्ञाननिवृत्तिर्वा ॥38॥
अवग्रहादीनां वा क्रमोपजनधर्माणां पूर्वं पूर्वं
प्रमाणमुत्तरमुत्तरं फलम् ॥39॥
हानादिबुद्धयो वा ॥40॥
प्रमाणाद्भिन्नाभिन्नम् ॥41॥
स्वपराभासी परिणाम्यात्मा प्रमाता ॥42॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां प्रमाणमीमांसायां प्रथमस्याध्यायस्य प्रथममाह्निकम्त. ॥

अविशदः परोक्षम् ॥1॥
स्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानुमानागमास्तद्विधयः ॥2॥
वासनोद्बोधहेतुका तदित्याकारा स्मृतिः ॥3॥
दर्शनस्मरणसंभवं तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं
तत्प्रतियोगीत्यादिसङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानम् ॥4॥
उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानम् ऊहः ॥5॥
व्याप्तिर्व्यापकस्य व्याप्ये सति भाव एव
व्याप्यस्य वा तत्रैव भावः ॥6॥
साधनात्साध्यविज्ञानम् अनुमानम् ॥7॥
तत् द्विधा स्वार्थं परार्थं च ॥8॥
स्वार्थं स्वनिश्चितसाध्याविनाभावैकलक्षणात्
साधनात् साध्यज्ञानम् ॥9॥
सहक्रमभाविनोः सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः ॥10॥
ऊहात् तन्निश्चयः ॥11॥
स्वभावः कारणं कार्यमेकार्थसमवायि
विरोधि चेति पञ्चधा साधनम् ॥12॥
सिषाधयिषितमसिद्धमबाध्यं साध्यं पक्षः ॥13॥
प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनप्रतीतयो बाधाः ॥14॥
साध्यं साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी, क्वचित्तु धर्मः ॥15॥
धर्मी प्रमाणसिद्धः ॥16॥
बुद्धिसिद्धोऽपि ॥17॥
न दृष्टान्तोऽनुमानाङ्ग.म् ॥18॥
साधनमात्रात् तत्सिद्धेः ॥19॥
स व्याप्तिदर्शनभूमिः ॥20॥
स साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां द्वेधा ॥21॥
साधनधर्मप्रयुक्तसाध्यधर्मयोगी साधर्म्यदृष्टान्तः ॥22॥
साध्यधर्मनिवृत्तिप्रयुक्तसाधनधर्मनिवृत्तियोगी वैधर्म्यदृष्टान्तः ॥23॥

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां प्रमाणमीमांसायां प्रथमस्याध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्।

अब हम इन समस्त सूत्रों के आधार पर निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत क्रमशः पांच पाठों में विवेचन करेंगे—

1. प्रमाणस्वरूप	(सूत्र 1 से 8 तक)
2. प्रत्यक्ष प्रमाण (1)	(सूत्र 9 से 19 तक)
प्रत्यक्ष प्रमाण (2)	(सूत्र 20 से 29 तक)
3. प्रमेय, प्रमिति, प्रमाता स्वरूप	(सूत्र 30 से 42 तक)
4. परोक्ष प्रमाण	(सूत्र 1 से 6 तक)
5. अनुमान प्रमाण	(सूत्र 7 से 23 तक)

11.15 प्रश्नावली

1. निबंधात्मक प्रश्न

1. भारतीय न्याय के विकास में जैनाचार्यों का क्या योगदान रहा है?

2. लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. आचार्य हेमचन्द्र का परिचय लिखें?
2. सिद्ध करें कि अनेकान्त समन्वय एवं सापेक्षता का सिद्धान्त है?

3. वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. आचार्य हेमचन्द्र का जन्म कब हुआ?
2. हेमचन्द्राचार्य द्वारा रचित ग्रन्थ कौन-कौन से हैं?
3. जैन के अनुसार हेतु का लक्षण क्या है?
4. जय-पराजय का आधार क्या है?
5. प्रमाण-मीमांसा को कितने अध्यायों में रचने की आचार्य हेमचन्द्र की योजना थी?
6. जैन तर्क परम्परा में आगम का स्वतः प्रामाण्य स्वीकृत है या पुरुष का?
7. बौद्ध अभिमत का समन्वय किस नय में होता है?
8. कालिकाल सर्वज्ञ किसे कहा गया है?
9. यज्ञ में पशुहिंसा का प्रतिबंध किस राजा ने किया?
10. प्रत्यक्ष का सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भेद सर्वप्रथम किसने किया?

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–12 : प्रमाण का लक्षण

संरचना

12.0 प्रस्तावना
12.1 उद्देश्य
12.2 जैन दर्शन में प्रमाण स्वरूप
12.3 आगमोत्तर युग में प्रमाण का क्रमिक विकास
12.4 स्वतः प्रामाण्य निश्चय
12.5 परतः प्रामाण्य निश्चय
12.6 सारांश
12.7 अभ्यास प्रश्नावली

12.0 प्रस्तावना

आचार्य हेमचन्द्र प्रमाण के स्वरूप का विवेचन प्रारम्भ करने के अभिप्राय से प्रथम सूत्र में कहते हैं—

अथप्रमाणमीमांसा ॥1॥

यहाँ से प्रमाण की मीमांसा प्रारम्भ होती है।

भारतीय शास्त्र रचना में यह प्रणाली बहुत पहले से चली आ रही है कि सूत्र रचना में पहला सूत्र ऐसा बनाया जाये जिससे ग्रन्थ का विषय सूचित हो और जिसमें ग्रन्थ का नामकरण भी आ जाये। जैसे—पातञ्जल योगशास्त्र का प्रथम सूत्र है 'अथ योगानुशासनम्', विद्यानन्द की प्रमाणपरीक्षा का प्रथम सूत्र है 'अथ प्रमाणपरीक्षा।' आचार्य हेमचन्द्र ने भी उसी प्रणाली का अनुसरण करके यह सूत्र रचा है। इससे जो व्यक्ति प्रमाणशास्त्र में रुचि रखता है वह उसे पढ़ने के लिये प्रवृत्त हो सकता है। यहां 'अथ' शब्द के तीन अर्थ हैं—1. अधिकार अर्थ 2. आनन्तर्य अर्थ और 3. मंगलसूचक अर्थ।

'अथ' शब्द का 'अधिकार' अर्थ प्राचीन समय से ही प्रसिद्ध है। इसका तात्पर्य यह है कि इस ग्रन्थ में अन्त तक प्रमाण का अधिकार चलेगा। अधिकार अर्थ के साथ-साथ 'अथ' का आनन्तर्य अर्थ भी प्रसिद्ध रहा है। इसका तात्पर्य यह है कि आचार्य हेमचन्द्र ने यह ग्रन्थ काव्यानुशासन, छन्दोऽनुशासन आदि के अनन्तर अर्थात् पश्चात् लिखा है और इसका तीसरा अर्थ यह माना गया है कि 'अथ' शब्द का श्रवण भी मंगल का सूचक है। मंगल होने पर निर्विघ्न रूप से शीघ्र ही शास्त्र की पूर्णता होती है और श्रोता या पाठक की परम्परा भी चलती है। सूत्र के प्रारम्भ में प्रयुक्त 'अथ' इन तीनों अर्थों को प्रकट करता है।

प्रमाण—संशय, विपर्यय आदि से रहित वस्तु तत्त्व का जिससे ज्ञान किया जाता है, वह प्रमाण है। मीमांसा—'पूजितविचारवचनश्च मीमांसाशब्दः' अर्थात् प्रमाण मीमांसा का लक्ष्य केवल तर्क जाल में उलझना न होकर मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करना है।

सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम् ॥2॥

पदार्थ का सम्यक् ज्ञान प्रमाण कहलाता है।

दर्शन जगत् का प्रमुख विषय है प्रमाण। ज्ञान मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है और ज्ञान के साधन को प्रमाण कहते हैं 'यथार्थानुभवः प्रमा। तत्साधनं प्रमाणम्।' प्रमाण के इस सामान्य लक्षण के विषय में सभी दार्शनिक एकमत हैं। पर उसके लाक्षणिक स्वरूप एवं विभाग व्यवस्था के विषय में विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं में मतभेद देखा जाता है। कुछ नैयायिकों के मतानुसार प्रमा का साधकतम साधन है—इन्द्रियसन्निकर्ष। अतः वही प्रमाण है, जबकि कुछ प्राचीन नैयायिकों के अनुसार वह ज्ञानात्मक और अज्ञानात्मक सामग्री जो प्रमा का साधन है, वही प्रमाण है अतः इन्द्रिय, मन, पदार्थ, प्रकाश आदि सभी प्रमाण हैं। सांख्य इन्द्रियवृत्ति से; मीमांसक इन्द्रिय से, बौद्ध सारुप्य एवं योग्यता से यथार्थ ज्ञान स्वीकार करते हैं, अतः उनके यहां क्रमशः इन्द्रियवृत्ति, इन्द्रिय, सारुप्य एवं योग्यता को प्रमाण माना गया है, क्योंकि ये ही प्रमा के साधन बनते हैं।

12.1 उद्देश्य– इसके अध्ययनसे प्रमाण के लक्षण को समझा जा सकेगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

12.2 जैन दर्शन में प्रमाण स्वरूप

जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान ही प्रमा का सर्वाधिक निकट का साधन बनता है, क्योंकि जानना चेतन-क्रिया है अतः उसका साधन भी चेतन होना चाहिये। जैसे अंधकार की निवृत्ति प्रकाश से होती है वैसे ही अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से होती है। सन्निकर्ष, इन्द्रियां, पदार्थ, प्रकाश आदि अचेतन हैं, अज्ञानरूप हैं अतः अज्ञाननिवृत्ति में साधकतम साधन नहीं बन सकते। प्रमाण, हित-प्राप्ति और अहित-परिहार में सक्षम होता है अतः वह ज्ञान ही होगा, अज्ञान नहीं। आगमयुगीन जैन दर्शन में प्रमाणमीमांसा का विकास नहीं हुआ था। आगमों में सर्वत्र पंच ज्ञान की चर्चा उपलब्ध होती है। भगवती, ठाणं, अनुयोगद्वार में उपलब्ध होने वाले प्रमाण सम्बन्धित तथ्य प्रक्षिप्त होने से उत्तरवर्ती हैं।

12.3 आगमोत्तर युग में प्रमाण का क्रमिक विकास

आगमोत्तर युग में जैसे-जैसे न्यायविद्या का विकास हुआ वैसे-वैसे प्रमाणमीमांसा की आवश्यकता महसूस होने लगी। सर्वप्रथम ज्ञान को प्रमाण रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय वाचक उमास्वाति को है। उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र में पहले पांच ज्ञानों का उल्लेख कर उन्हीं को प्रमाण की संज्ञा दी। यथा—

मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलानि ज्ञानम्।
तत् प्रमाणे।
आद्ये परोक्षम्। प्रत्यक्षमन्यत्। **तत्त्वार्थसूत्र 1/9-11**

अर्थात् मति, श्रुत आदि पांच ज्ञान ही प्रमाण हैं। इनमें प्रथम दो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से होने के कारण परोक्ष प्रमाण तथा अंतिम तीन ज्ञान आत्मा की सहायता से होने के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। आचार्य उमास्वाति ने ज्ञान को प्रमाण कहा किन्तु 'ज्ञान ही प्रमाण है' इतना कहने मात्र से वे न्यायविदों को संतुष्ट नहीं कर सके। अतः दार्शनिक दृष्टि से प्रमाण के स्वरूप को व्याख्यायित करने का श्रेय मिलता है आचार्य सिद्धसेन और आचार्य समन्तभद्र को। आचार्य सिद्धसेन ने प्रमाण की परिभाषा यह निश्चित की—'प्रमाणं स्वपरावभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्।' अर्थात् जो स्व-पर-प्रकाशी और निर्दोष ज्ञान है वह प्रमाण है। प्रमाण के क्षेत्र में जैनों का प्रवेश नैयायिकों, मीमांसकों एवं बौद्धों के पश्चात् हुआ अतः जैनाचार्यों ने पक्ष और प्रतिपक्ष के सिद्धान्तों के गुण-दोषों का सम्यक् मूल्यांकन करके अपनी अनेकान्त दृष्टि के आधार पर एक व्यापक परिभाषा की। उन्होंने देखा कि नैयायिक ज्ञान को स्वसंवेदी नहीं मानते, ज्ञानान्तरवेद्य मानते हैं। ज्ञानान्तरवेद्य से तात्पर्य ज्ञान स्वयं अपने आपको नहीं जानता, दूसरे ज्ञान से जाना जाता है। मीमांसक भी परोक्षज्ञानवादी थे। उनके अनुसार ज्ञान अपने आपको वैसे ही नहीं जान सकता जैसे कि सुतीक्ष्ण तलवार अपने आपको नहीं काट सकती, सुशिक्षित नट बटु अपने कन्धों पर चढ़कर नहीं नाच सकता। दूसरी ओर विज्ञानवादी बौद्ध ज्ञान को स्वसंवेदी ही मान रहे थे। बाह्य पदार्थों को मिथ्या कहकर ज्ञान के परावभासित्व का निषेध कर रहे थे। आचार्य सिद्धसेन ने इन दोनों के बीच समन्वय स्थापित करते हुये अपने प्रमाण लक्षण में स्वपरावभासी और बाधविवर्जित इन दो विशेषणों का प्रयोग किया। सिद्धसेन की इस परिभाषा में बाधविवर्जित पद बौद्ध-परम्परा के प्रभाव से गृहीत हुआ है, क्योंकि प्रमाणवार्तिक, 2/11 में प्रमाण का लक्षण 'प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमर्थक्रियास्थितिः' किया है और बाधविवर्जित अविसंवादित्व का ही पर्याय है। संशयज्ञान और विपर्ययज्ञान ज्ञान होने पर भी प्रमाण नहीं होते। इस दृष्टि से प्रमाण के लक्षण में 'बाधविवर्जित' विशेषण का प्रयोग किया गया। ज्ञान अर्थ को प्रकाशित करता है। यदि वह स्व-प्रकाशी न हो तो अर्थ को प्रकाशित नहीं कर सकता। वह स्व-प्रकाशी और अर्थ-प्रकाशी दोनों है। इस आशय को स्पष्ट करने के लिये 'स्वपराभासि' विशेषण का प्रयोग किया गया। आचार्य समन्तभद्र ने प्रमाण का जो लक्षण निबद्ध किया वह इस प्रकार है—'स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्।' जो ज्ञान अपना और पर का बोध कराये वह प्रमाण है। जो केवल अपना या केवल पर का बोध कराता है वह ज्ञान प्रमाणकोटि में सम्मिलित नहीं हो सकता। प्रमाणकोटि में वही ज्ञान समाविष्ट हो सकता है जो अपने को जानने के साथ पर को और पर को जानने के साथ अपने को भी बोध कराता है।

आचार्य अकलंक ने सिद्धसेन एवं समन्तभद्र के उक्त लक्षणों को मान्य किया है। पर सिद्धसेन द्वारा प्रमाणलक्षण में दिया गया 'बाधविवर्जित' विशेषण उन्हें स्वीकार्य नहीं है। उसके स्थाान पर उन्होंने एक दूसरा ही विशेषण दिया है जो न्यायदर्शन के प्रत्यक्षलक्षण में निहित है। वह विशेषण है—व्यवसायात्मक।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

'व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम्।' अकलंक का मत है कि चाहे प्रत्यक्ष हो या अन्य प्रमाण। प्रमाणमात्र को व्यवसायात्मक होना चाहिये। कोई भी ज्ञान हो वह निर्विकल्पक, कल्पनाजन्य या अव्यपदेश्य नहीं हो सकता। यह संभव ही नहीं कि अर्थ का ज्ञान हो और विकल्प न उठे। ज्ञान तो विकल्पात्मक ही होता है इस प्रकार इस विशेषण के द्वारा अकलंक ने जहां बौद्ध दर्शन के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की मीमांसा की है वहां न्यायदर्शन में मान्य अव्यपदेश्य (अविकल्पक) प्रत्यक्ष ज्ञान की भी समीक्षा की है। अकलंक ने अपने प्रमाण लक्षण में स्व और पर के स्थान पर 'आत्मा' और 'अर्थ' पदों का समावेश किया है तथा अवभासक के स्थान पर 'ग्राहक' पद रखा है। पर वास्तव में अर्थ की दृष्टि से इस परिवर्तन में कोई अन्तर नहीं—मात्र शब्दों का भेद है।

अकलंकदेव ने प्रमाण के अन्य लक्षण भी भिन्न-भिन्न स्थलों पर दिये हैं। 'अष्टशती' में उन्होंने प्रमाण का लक्षण किया 'प्रमाणमविसंवादिज्ञानमनधिगतार्थलक्षणत्वात्' अर्थात् अविसंवादि एवं अज्ञात अर्थ को जानने वाला ज्ञान प्रमाण है। ज्ञात अर्थ को पुनः जानना प्रमाण नहीं। ऐसा प्रतीत होता है आचार्य अकलंक ने यह पद कुमारिल तथा धर्मकीर्ति से लिये हैं क्योंकि उनके प्रमाण लक्षणों में ये पद पहले से निहित हैं। यथा—

तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम्।
अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम्॥

आचार्य माणिक्यनन्दि ने आचार्य अकलंक का ही अनुकरण करते हुये अपने ग्रन्थ परीक्षामुख में प्रमाण को परिभाषित करते हुये लिखा—'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्।' इन्होंने 'अनधिगत' के स्थान पर 'अपूर्व' शब्द का प्रयोग किया। उत्तरवर्ती परम्परा में यह विशेषण बहुत समादृत नहीं हुआ। आचार्य विद्यानन्द ने प्रमाण का लक्षण अपूर्व अर्थ का ग्राहक नहीं माना। उनके अनुसार वही ज्ञान प्रमाण है जो स्व-पर-व्यवसायात्मक हो—'स्वपरव्यवसायिज्ञानं प्रमाणम्।' आचार्य अभयदेव ने भी विद्यानन्द का समर्थन किया। प्रमाणनयतत्त्वालोक के कर्त्ता वादिदेव सूरि ने भी प्रमाण को 'स्वपरव्यवसायिज्ञानम्' कहा है।

प्रमाणमीमांसा में आचार्य हेमचन्द्र ने प्रमाण का लक्षण 'सम्यगर्थनिर्णयः' किया है। यदि हम हेमचन्द्र द्वारा निरूपित इस प्रमाण लक्षण पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि यह प्रमाणलक्षण पूर्व में दिये गये प्रमाण लक्षणों से शाब्दिक दृष्टि से तो नितान्त भिन्न ही है। वस्तुतः शाब्दिक दृष्टि से इसमें न तो 'स्व-पर-प्रकाशकत्व' की चर्चा है, न बाधविवर्जित्व या अविसंवादित्व की चर्चा है और न ही 'अपूर्वता' को प्रमाण लक्षण में निरूपित किया है। जबकि पूर्व में सभी जैनाचार्यों ने अपने प्रमाणलक्षण निरूपण में स्व-पर-प्रकाशकत्व की चर्चा अवश्य की है तथा कुछ दिगम्बर जैनाचार्यों ने अपूर्वता को भी प्रमाणलक्षण में निरूपित किया है।

जैन परम्परा में आचार्य हेमचन्द्र तक प्रमाण की जो परिभाषाएं दी गई हैं, उन्हें पं. सुखलालजी ने चार वर्गों में विभाजित किया है—

1. प्रथम वर्ग में स्वपर अवभास वाला आचार्य सिद्धसेन और समन्तभद्र का लक्षण आता है। स्मरण रहे कि ये दोनों लक्षण बौद्धों एवं नैयायिकों के दृष्टिकोणों के समन्वय का फल है।
2. दूसरे वर्ग में अकलंक और माणिक्यनन्दी की अनधिगत और अपूर्व लक्षण वाली परिभाषाएं आती हैं। ये लक्षण स्पष्ट रूप से बौद्ध एवं मीमांसकों के प्रभाव का फल है।
3. तीसरे वर्ग में विद्यानन्द, अभयदेव और वादिदेवसूरि के लक्षण वाली परिभाषाएं आती हैं जो वस्तुतः सिद्धसेन और समन्तभद्र के लक्षणों का शब्दान्तर मात्र है। जिनमें अवभास पद के स्थान पर व्यवसाय या निर्णीत पद रख दिया गया है।
4. चतुर्थ वर्ग में आचार्य हेमचन्द्र की प्रमाण-विषयक परिभाषा आती है, जिसमें 'स्व', 'बाधविवर्जित', 'अनधिगत' या अपूर्व आदि सभी पद हटाकर परिष्कार किया गया है।

जब आचार्य हेमचन्द्र ने अपने लक्षण में 'स्व' पद जो पूर्ववर्ती सभी जैनाचार्यों के लक्षण में था, नहीं स्वीकार किया तो उनके सामने प्रश्न उपस्थित हुआ कि प्राचीन आचार्यों के द्वारा सम्मत 'स्व प्रकाशकत्व' इष्ट न होने से 'स्व' पद को नहीं स्वीकारा या किसी अन्य कारण से नहीं स्वीकार किया। इसका उत्तर देते हुए आचार्य हेमचन्द्र अगले सूत्र में लिखते हैं—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

स्वनिर्णयः सन्नप्यलक्षणम् अप्रमाणेऽपि भावात् ॥3॥

प्रमाण में स्वनिर्णय होने पर भी वह प्रमाण का लक्षण नहीं है, क्योंकि वह अप्रमाण में भी होता है।

आचार्य हेमचन्द्र ने लक्षणसूत्र का परिष्कार ही नहीं किया अपितु एक ऐसी बात सुझाई जो उनकी सूक्ष्म दृष्टि की परिचायक है। उनके अनुसार प्रमाण स्वप्रकाशी होता अवश्य है पर फिर भी वह प्रमाण का लक्षण नहीं बनता क्योंकि प्रमाण के समान अप्रमाण—संशय, विपर्यय आदि अयथार्थ ज्ञान भी स्वसंविदित होते हैं। 'व्यवच्छेदको धर्मो लक्षणम्' अर्थात् वस्तु में अनेक धर्म होते हैं, किन्तु वे सभी लक्षण नहीं बनते। लक्षण वही बनता है जो साध्य या लक्ष्य को विपक्ष से पृथक करता है। अतः 'स्व' पद प्रमाण को अप्रमाण से पृथक करने वाला न होने से लक्षण नहीं बन सकता। ऐसा कहकर उन्होंने अपना विचार स्वातन्त्र्य बताया है तथा पूर्वाचार्यों ने 'स्व निर्णय' को प्रमाण के लक्षण में रखा है, वह परीक्षा के लिए है—ऐसा कहकर इन्होंने उनके प्रति आदर सूचित किया है। इस प्रकार स्वनिर्णय अप्रमाण में भी होने के कारण उसे प्रमाण लक्षण में नहीं स्वीकार किया।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्रमाण लक्षण में 'अपूर्व' पद का भी प्रयोग नहीं किया। जैन परम्परा के अन्तर्गत कुछ दिगम्बर आचार्य अपूर्व ज्ञान को प्रमाण मान रहे थे एवं धारावाहिक ज्ञान के प्रामाण्य का निषेध कर रहे थे। धारावाहिक ज्ञान का तात्पर्य है कि एक ही वस्तु का बार-बार ज्ञान होना। जैसे—घट को जाना उसके बाद "यह घट है, यह घट है, यह घट है ... ।" इस प्रकार की आवृत्ति वाला ज्ञान धारावाहिक कहलाता है। अकलंक, माणिक्यनन्दि के अनुसार अपूर्व ज्ञान ही प्रमाण है। धारावाहिक ज्ञान प्रमाण नहीं है। गृहीतग्राही (ग्रहण किये हुये ज्ञान को ही पुनः ग्रहण करने वाला) ज्ञान प्रमाण नहीं है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्रमाणलक्षण में अपूर्व पद का समावेश अनिवार्य नहीं माना। उनके अनुसार यथार्थ ज्ञान प्रमाण है, वह चाहे गृहीतग्राही हो या अगृहीतग्राही। जैसा कि वे स्वयं लिखते हैं—

ग्रहीष्यमाणग्राहिण इव गृहीतग्राहिणोऽपि नाप्रामाण्यम् ॥4॥

जैसे भविष्य में ग्रहण किये जानेवाले पदार्थ को वर्तमान में ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रमाण माना जाता है, इसी प्रकार पूर्वगृहीत पदार्थ को वर्तमान में ग्रहण करने वाला ज्ञान भी प्रमाण ही है।

श्वेताम्बर परम्परा के सभी आचार्यों ने धारावाहिक ज्ञान के प्रामाण्य का समर्थन किया और अपने प्रमाण लक्षण में अनधिगत, अपूर्व आदि पदों का समावेश नहीं किया। आचार्य हेमचन्द्र ने बड़ी ही सूक्ष्मता एवं सरलता के साथ अगृहीतग्राही या अपूर्वार्थ को ही प्रमाण मानने वालों का निराकरण किया और गृहीतग्राही (अतीत का ग्राहक) एवं ग्रहीष्यमाणग्राही (भविष्य में ग्रहण करने वाला) दोनों ज्ञानों को ही प्रमाण माना। जो लोग गृहीतग्राहित्व के प्रामाण्य का निषेध करते हैं उनसे उनका कहना है कि यह निषेध द्रव्य की अपेक्षा से है या पर्याय की अपेक्षा से? पर्याय की अपेक्षा से धारावाहिक ज्ञान गृहीतग्राही नहीं हो सकता क्योंकि पर्याय क्षणिक होती हैं। वे नयी-नयी उत्पन्न होती रहती हैं। प्रतिक्षण नयी पर्याय का ही ग्रहण होता है अतएव पर्याय की दृष्टि से गृहीत गाहित्व के निराकरण करने के लिये प्रमाण-लक्षण में अपूर्वपद रखना व्यर्थ है और यदि द्रव्य की अपेक्षा गृहीतग्राही के प्रामाण्य का निषेध करते हैं तो यह भी युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि द्रव्य त्रैकालिक है, नित्य है, एक है। अतः द्रव्य की अपेक्षा गृहीतग्राही और ग्रहीष्यमाणग्राही ये दो अवस्थाएं बन ही नहीं सकती। ऐसी स्थिति में गृहीतग्राही को अप्रमाण एवं ग्रहीष्यमाणग्राही को प्रमाण मानना तर्क संगत प्रतीत नहीं होता।

दिगम्बर-श्वेताम्बर सभी जैनाचार्यों ने गृहीतग्राही होने पर भी अवग्रह, ईहा, अवाय आदि को प्रमाण माना है, जबकि इनके विषय भिन्न-भिन्न नहीं है। अवग्रह में जो विषय ग्रहण किया जाता है, ईहा, अवाय आदि का भी वही विषय रहता है। यदि इनके विषय भिन्न-भिन्न माने जायें तो अवग्रह से ज्ञात विषय को ईहा ग्रहण नहीं कर सकती और ईहा से ज्ञात पदार्थ का अवाय निर्णय नहीं कर सकता। यदि ऐसा कहा जाये अवग्रह ईहा आदि क्रमशः वस्तु की अपूर्व-अपूर्व पर्याय को प्रकाशित करते हैं अतः अनधिगतग्राही हैं, तो इस कथन के आधार पर तो किसी भी ज्ञान को गृहीतग्राही कहा ही नहीं जा सकता। अतः यह सुस्पष्ट है कि धारावाहिक ज्ञान भी निःसंदेह प्रमाण है। प्रमाण की कसौटी अपूर्वता नहीं अपितु अविसंवादिता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

है और अविसंवादिता वहीं होती है जहां ज्ञान में संशय, अनध्यवसाय एवं विपर्यय न हों। अतः अब क्रमशः आचार्य हेमचन्द्र संशय, अनध्यवसाय एवं विपर्यय का लक्षण कर रहे हैं—

अनुभयत्रोभयकोटिस्पर्शी प्रत्ययः संशयः ॥5॥

उभय स्वभाव से रहित वस्तु में उभय धर्मों का स्पर्श करने वाला ज्ञान संशय कहलाता है।

जिस ज्ञान में कोई निश्चय नहीं हो पाता वह संशय कहलाता है। जैसे किसी पदार्थ को देखने पर यह पदार्थ स्थाणु है या पुरुष—इस प्रकार अनेक अर्थों का आलंबन लेने वाला अनिश्चित ज्ञान संशय है। ग्राह्य वस्तु की दूरी, अंधकार, प्रमाद आदि संशय के कारण बनते हैं। संशय ज्ञान की एक दोलायमान अवस्था है। इसमें किसी निर्णय तक नहीं पहुंचा जाता। उसके सारे विकल्प अनिर्णायिक होते हैं।

आचार्य हेमचन्द्र ने सूत्र में 'अनुभयत्र' पद का प्रयोग किया है। जिसका तात्पर्य है कि यदि वस्तु में दोनों ही धर्म विद्यमान हों और उन दोनों ही धर्मों का बोध हो रहा हो तो वह संशय नहीं है। उदाहरणतः आत्मा नित्य भी है और अनित्य भी है। आत्मा में ये दोनों धर्म रहते हैं अतः इन दोनों धर्मों का बोध संशय नहीं है, किन्तु स्थाणु में स्थाणुत्व और पुरुषत्व ये दोनों धर्म नहीं रह सकते अतः स्थाणु में यह स्थाणु है या पुरुष है ऐसा बोध होना संशय है।

विशेषानुल्लेख्यनध्यवसायः ॥6॥

विशेष का उल्लेख न करने वाला ज्ञान अनध्यवसाय कहलाता है।

अनध्यवसाय आलोचन मात्र होता है। इसमें विषय का स्पर्श मात्र होता है, उसका नामोल्लेख नहीं होता। अनध्यवसाय वास्तव में अयथार्थ नहीं है, अपूर्ण है। यह वस्तु जैसी है उससे विपरीत नहीं जानता किन्तु वस्तु जैसी है उस रूप में जानने में अक्षम है। इसलिए इसे अयथार्थ ज्ञान की कोटि में रखा है। यह अयथार्थ की कोटि में तभी तक है जब तक कि यह अनिर्णायिक अथवा अनिश्चायक है। अगर यह आगे बढ़े तो अवग्रह के अन्तर्गत आ सकता है।

अतस्मिंस्तदेवेति विपर्ययः ॥7॥

अतद्रूप वस्तु में तद्रूपता का निश्चय हो जाना विपर्यय ज्ञान कहलाता है।

विपर्यय अर्थात् विपरीत ज्ञान। ज्ञान में जो वस्तु प्रतीत हो रही है, वह वास्तव में न हो, उससे विपरीत हो वहां विपर्यय होता है। उदाहरणतः अंधकार में रस्सी को देखकर उसमें सर्प का निर्णय कर लेना विपर्यय है।

संशय और विपर्यय के कारण एक ही हैं। फिर भी दोनों के स्वरूप में बड़ा अन्तर हैं। विपर्यय में जहां जो है उससे विपरीत निर्णय होता है वहां संशय में किसी प्रकार का निर्णय ही नहीं होता।

संशय, अनध्यवसाय एवं विपर्यय से रहित ज्ञान ही प्रमाण है। ये तीनों अयथार्थ होने के कारण अप्रमाण हैं। एक रस्सी के बारे में चार व्यक्तियों के ज्ञान के चार रूप हैं—

पहला—यह रस्सी है—यह यथार्थ ज्ञान है।
दूसरा—यह सांप है—यह विपर्यय ज्ञान है।
तीसरा—यह रस्सी है या सांप है—संशयात्मक ज्ञान है।
चौथा—रस्सी को देखकर भी पता नहीं चलता कि यह क्या है, यह अनध्यवसाय ज्ञान है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि जैन परम्परा में सम्यक् ज्ञान को प्रमाण माना है और उसे स्वपर-व्यवसायात्मक बतलाया गया है।

यथार्थ ज्ञान प्रमाण है। किन्तु प्रश्न होता है कि ज्ञान की यथार्थता का बोध कैसे होता है? ज्ञान स्वसंवेदी होता है अतः ज्ञान को अपना ज्ञान तो हो जाता है पर मैं सम्यक् हूँ या असम्यक् हूँ इसकी अनुभूति ज्ञान को किस माध्यम से होती है। स्वतः होती है या परतः। इसका समाधान देते हुए आचार्य हेमचन्द्र लिखते हैं—

प्रामाण्यनिश्चयः स्वतः परतो वा ॥8॥

ज्ञान की प्रमाणिकता का निश्चय कभी स्वतः और कभी परतः होता है।

प्रामाण्यवाद की चर्चा दार्शनिक क्षेत्र की प्रमुख चर्चा रही है प्रामाण्य का तात्पर्य है—प्रमाण के द्वारा जिस पदार्थ को जिस रूप में जाना गया है उसका उसी रूप में प्राप्त होना, उसमें व्यभिचार का न होना। ऐतिहासिक दृष्टि से प्रामाण्य-अप्रामाण्य की चर्चा का प्रारम्भ वेदों को प्रमाण मानने और न मानने वाले दो

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पक्षों से होता है। जब जैन, बौद्ध आदि विद्वानों ने वेदों के प्रामाण्य का निषेध किया तब वेद प्रामाण्यवादी न्याय-वैशेषिक, मीमांसक विद्वानों ने वेदों के प्रामाण्य का समर्थन करना शुरू किया।

प्रारम्भ में प्रामाण्य के स्वतः परतः की चर्चा शब्द (आगम) प्रमाण तक ही सीमित थी, किन्तु एक बार दार्शनिक क्षेत्र में प्रवेश करने के बाद यह चर्चा सभी प्रमाणों के संदर्भ में होने लगी। प्रामाण्य-अप्रामाण्य को लेकर दार्शनिक क्षेत्र में चार विचारधारायें प्रसिद्ध रही हैं।

1. **सांख्य दर्शन**—ज्ञान का प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य स्वतः होता है।
2. **न्याय दर्शन**—ज्ञान का प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य परतः होता है।
3. **बौद्ध दर्शन**—ज्ञान का प्रामाण्य परतः तथा अप्रामाण्य स्वतः होता है।
4. **मीमांसा दर्शन**—ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः तथा अप्रामाण्य परतः होता है।

वेदों के प्रामाण्य को स्वीकार करने वाले विद्वानों ने भी वेदों के प्रामाण्य का समर्थन भिन्न प्रकार से किया है। न्याय-वैशेषिक ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं अतः उन्होंने वेदों का प्रामाण्य ईश्वर मूलक स्थापित किया और केवल वेदों का ही नहीं अपितु सभी प्रमाणों का प्रामाण्य परतः स्वीकार किया। नैयायिक ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य स्वीकार नहीं करते। वे परतः प्रामाण्यवादी हैं। उनका मन्तव्य है कि ज्ञान यदि स्वयं अपने आप में प्रमाण हो तो फिर किसी के ज्ञान में कोई विवाद या विरोध या मतभेद नहीं होना चाहिये तथा हमें अपने ज्ञान के प्रति संशय भी नहीं होना चाहिये पर हमारे ज्ञान में विवाद या विरोध भी होता है, संशय भी होता है और ऐसी स्थिति में प्रवृत्ति साफल्य से प्रमाण के प्रामाण्य का निश्चय होता है अतः प्रमाण का प्रामाण्य प्रवृत्ति साफल्य से होने के कारण परतः है। प्रवृत्ति साफल्य से तात्पर्य ज्ञानानुसार क्रिया करने पर उस क्रिया का सफलन होना।

मीमांसक वेदों के प्रामाण्य का समर्थन तो करते हैं, किन्तु उनकी विचारधारा नैयायिकों से विपरीत है। वे ईश्वरवादी नहीं हैं, अतएव वेदों का प्रामाण्य ईश्वरमूलक न कहकर स्वतः स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार वेद में कथित वाक्य स्वतः प्रमाण हैं उनके प्रामाण्य के लिये किसी अन्य की अपेक्षा नहीं होती। इसलिए उन्होंने वेदों को अपौरुषेय स्वीकार किया है। पौरुषेय स्वीकार करने पर उनका प्रामाण्य पुरुषाश्रित होने से परतः हो जाता। न केवल वेदों का अपितु प्रत्यक्षादि सभी प्रमाणों का प्रामाण्य उन्होंने स्वतः स्वीकार किया है—

'स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्।
न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येनपार्यते ॥'

अर्थात् सारे प्रमाणों का प्रामाण्य स्वतः ही ज्ञात हो जाता है क्योंकि जो शक्ति स्वयं में अविद्यमान है, उसे कोई दूसरा उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकता। उनका कहना है कि प्रामाण्य यदि स्वतः नहीं माना जायेगा तो प्रामाण्य का ज्ञान कभी हो ही नहीं सकेगा। पूर्व ज्ञान को प्रमाणित करने के लिये अन्य ज्ञान की अपेक्षा होगी, फिर उसे अन्य की। इस प्रकार अनवस्था की स्थिति उत्पन्न हो जाने से कभी भी प्रामाण्य निश्चय नहीं होगा, अतएव प्रामाण्य स्वतः ही होता है।

प्रामाण्य अप्रामाण्य की चर्चा में सांख्य का क्या चिन्तन है? इसका उल्लेख उसके वर्तमान में उपलब्ध ग्रन्थों से ज्ञात नहीं होता फिर भी कुमारिल, माधवाचार्य, शान्तरक्षित आदि के कथनों से ज्ञात होता है कि सांख्य प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य को स्वतः मानते थे—प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः।

सर्वदर्शन संग्रह में 'सौगताश्चरमं स्वतः' इस पक्ष को बौद्ध पक्ष के रूप में वर्णित किया है किन्तु तत्त्वसंग्रह में शान्तरक्षित ने जो बौद्ध पक्ष स्थापित किया है वह इससे सर्वथा भिन्न है। संभवतः सर्वदर्शनसंग्रह में निर्दिष्ट बौद्ध पक्ष किसी अन्य बौद्ध विशेष का रहा हो। शान्तरक्षित ने बौद्ध पक्ष को प्रकट करते हुए कहा—1. प्रामाण्य अप्रामाण्य दोनों स्वतः 2. दोनों परतः 3. दोनों में से प्रामाण्य स्वतः अप्रामाण्य परतः और 4. अप्रामाण्य स्वतः प्रामाण्य परतः। इन चारों में से कोई भी बौद्ध पक्ष नहीं है क्योंकि ये चारों पक्ष नियमवाले हैं। बौद्ध पक्ष अनियमवादी है। उसके अनुसार प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों अभ्यास दशा में स्वतः एवं अनभ्यास दशा में परतः होते हैं।

जैन मान्यता शान्तरक्षित कथित बौद्ध पक्ष के समान है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी लिखा है—'प्रामाण्यनिश्चयः स्वतः परतो वा।' प्रामाण्य का निश्चय अभ्यास दशा में स्वतः तथा अनभ्यास दशा में परतः होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

12.4 स्वतः प्रामाण्य-निश्चय

विषय की परिचित दशा में ज्ञान की स्वतः प्रामाणिकता होती है। इसमें प्रथम ज्ञान की सचाई जानने के लिए विशेष कारणों की आवश्यकता नहीं होती। परिचित वस्तुओं के ज्ञान की सत्यता एवं असत्यता का बोध तत्काल हो जाता है। जैसे हथेली का ज्ञान, स्नान-पान आदि अर्थक्रिया का ज्ञान। पानी से प्यास बुझती है, स्नान से दाह शान्त होता है इत्यादि ज्ञानों के प्रामाण्य की परीक्षा करने की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि इनकी प्रामाणिकता प्रतिदिन के अभ्यास से स्वतः ज्ञात हो जाती है।

12.5 परतः प्रामाण्य निश्चय

विषय की अपरिचित दशा में प्रामाण्य का निश्चय परतः होता है। ज्ञान की कारण सामग्री से उसकी सचाई का पता नहीं लगता तब अन्य साधनों की सहायता से उसकी प्रामाणिकता जानी जाती है, यही परतः प्रामाण्य है। उदाहरणतः कोई पहले सुने हुए चिह्नों के आधार पर अपने मित्र के घर के पास पहुंच जाता है, फिर भी उसे यह संदेह हो सकता है कि यह घर मेरे मित्र का है या किसी दूसरे का? उस समय किसी जानकार व्यक्ति से पूछने पर प्रथम ज्ञान की सचाई मालूम हो जाती है। यहां ज्ञान की सचाई का पता दूसरे की सहायता से हुआ, इसलिए यह परतः प्रामाण्य है।

अनुमान का प्रामाण्य स्वतः होता है, परतः नहीं होता, क्योंकि अनुमान का उत्थान सुनिश्चित साधन से होने के कारण उसमें दोष की संभावना ही नहीं रहती अतः अनुमान का प्रामाण्य स्वतः होता है।

आगम प्रमाण का प्रामाण्य स्वतः भी होता है और परतः भी होता है। आगम में कथित वे बातें जिनकी प्रामाणिकता प्रत्यक्ष से जानी जा सकती है किन्तु दुर्ज्ञेय होने के कारण संवादी प्रमाण के अधीन होने से परतः हैं तथा कुछ बातों की संवादी प्रमाण के बिना भी आप्तकथित होने मात्र से ही प्रामाणिकता स्वीकार कर ली जाती है, अतः वहां आगम का प्रामाण्य स्वतः है।

12.6 सारांश

जैन को एकान्ततः प्रामाण्य न स्वतः इष्ट है और न परतः। इसलिए वह एकान्त रूप से प्रामाण्य को स्वतः मानने वाले मीमांसकों का तथा एकान्त रूप से परतः मानने वाले न्याय-वैशेषिकों का समर्थन न कर अनेकान्त का अवलम्बन लेकर प्रमाण के प्रामाण्य को अभ्यास दशा में स्वतः एवं अनभ्यास दशा में परतः स्वीकार करते हैं।

12.7 प्रश्नावली

निबंधात्मक प्रश्न

1. जैन दर्शन में प्रमाण लक्षण के क्रमिक विकास का प्रतिपादन करें?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. 'प्रामाण्यनिश्चयः स्वतः परतो वा' सूत्र की व्याख्या करें?
2. धारावाहिक ज्ञान प्रमाण है या अप्रमाण स्पष्ट करें?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. सर्वप्रथम ज्ञान को प्रमाण किसने माना?
2. प्रमाण लक्षण में अपूर्व शब्द का प्रयोग किसने किया?
3. न्याय दर्शन के अनुसार प्रमा का साधकतम साधन क्या है?
4. 'अथ' शब्द का क्या प्रयोजन है?
5. लक्षण किसे कहते हैं?
6. मीमांसक के अनुसार वेदों का प्रामाण्य .... होता है?
7. जैन दर्शन के अनुसार अनुमान प्रमाण का प्रामाण्य .... ही होता है?
8. अतद्रूप वस्तु में तद्रूपता का निश्चय हो जाना .... कहलाता है?
9. जैन दर्शन के अनुसार आत्मा .... है?
10. जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान ...... होता है।

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–13 : प्रत्यक्ष प्रमाण (1)

संरचना

13.0 प्रस्तावना
13.1 उद्देश्य
13.2 विभिन्न दर्शनों में प्रमाण
13.3 प्रमाण एवं अप्रमाण
13.4 प्रत्यक्ष प्रमाण
13.5 प्रत्यक्ष प्रमाण (2)
13.6 सारांश
13.7 अभ्यास प्रश्नावली

13.0 प्रस्तावना

इकाई चार पाठ बारह में 'प्रमाण स्वरूप' इस विषय की चर्चा करने के उपरान्त अब इस पाठ में प्रमाण के भेदों का निरूपण कर रहे हैं। दर्शन जगत् में प्रमाण-स्वरूप की भांति प्रमाण के भेदों में भी मतभेद पाया जाता है। जैन दर्शन प्रमाण के दो भेद प्रत्यक्ष और परोक्ष स्वीकार करता है। प्रत्यक्ष प्रमाण भी मुख्य प्रत्यक्ष और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के भेद से दो प्रकार का है। प्रस्तुत पाठ में हम मुख्य प्रत्यक्ष प्रमाण की चर्चा करेंगे। यह इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना सीधा आत्मा से होने वाला ज्ञान है। इसे अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष भी कहा जाता है। इसके तीन भेद हैं—अवधि, मन:पर्यव और केवल।

प्रमाणं द्विधा ॥9॥

प्रमाण दो प्रकार का है।

प्रत्यक्षं परोक्षं च ॥10॥

प्रत्यक्ष और परोक्ष।

13.1 उद्देश्य– इसके अध्ययन से प्रत्यक्ष प्रमाण का ज्ञान हो सकेगा।

13.2 विभिन्न दर्शनों में प्रमाण

प्रमाण के स्वरूप के समान ही प्रमाण की संख्या के विषय में भी विभिन्न दार्शनिक एकमत नहीं हैं। उनके अनुसार प्रमाणों की तालिका निम्नांकित है—

चार्वाक एक प्रमाण मानता है—प्रत्यक्ष।

1. **बौद्ध और वैशेषिक** दो प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान।
2. **सांख्य** तीन प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम।
3. **नैयायिक** चार प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान।
4. **मीमांसा प्रभाकर** पांच प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति।
5. **भाट्ट मीमांसक** छह प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति तथा अभाव।
6. **पौराणिक** इन छहों प्रमाणों के अतिरिक्त संभव, एतिह्य तथा प्रातिभ इन तीन प्रमाणों को ओर मानता है।
7. **जैन** दो प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष।

जैन परम्परा का प्रमाण विषयक विभाग दो दृष्टियों से अन्य परम्पराओं की अपेक्षा विशेष महत्त्व रखता है।

1. यह विभाग एक ऐसे सर्वानुभवसिद्ध वैलक्षण्य पर अवलम्बित है कि इसमें एक विभाग में आने वाले प्रमाण दूसरे विभाग में आने वाले प्रमाणों से सर्वथा अलग हो जाते हैं, जैसा कि इतर परम्पराओं के प्रमाण विभाग में नहीं हो पाता।
2. चाहे किसी दर्शन की न्यून या अधिक प्रमाण संख्या हो पर वह सब बिना किसी खींचातान के इस विभाग में समा जाती है। यथा नैयायिकों द्वारा स्वीकृत उपमान प्रमाण परोक्ष के एक भेद प्रत्यभिज्ञान में तथा मीमांसक सम्मत अर्थापत्ति का समावेश अनुमान प्रमाण में हो जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रत्यक्ष और परोक्ष—इस प्रमाण विभाग की एक अन्य मुख्य विशेषता यह है कि इसमें न तो चार्वाक की तरह परोक्षानुभव का अपलाप है और न बौद्ध दर्शन की तरह आगम आदि अन्य प्रमाणों का अपलाप। जैन दर्शन को अपनी प्रमाण संख्या को स्थिर बनाये रखने के लिए अन्य परम्पराओं के समान अन्यान्य प्रमाणों को खींचतान पूर्वक या तोड़मरोड़ कर समावेश करने की भी अपेक्षा नहीं है। इस प्रकार यह प्रमाण विभाग सुनिश्चित कहा जा सकता है।

चार्वाक एकमात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण स्वीकार करता है। आत्मा, मोक्ष, स्वर्ग-नरक आदि का इन्द्रियों से प्रत्यक्ष न होने के कारण उनका निषेध करता है। उसके अनुसार अर्थनिश्चायक ज्ञान को प्रमाण कहते हैं और अर्थ का निश्चय प्रत्यक्ष से ही हो सकता है अतः एकमात्र प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। आचार्य हेमचन्द्र उपर्युक्त सिद्धान्त की समीक्षा करते हुए कहते हैं कि मात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानना युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण से हमारा व्यवहार नहीं चल सकता अतः अनुमान, आगम आदि को मानना ही होगा और आधार पर परोक्ष प्रमाण की सिद्धि स्वतः हो जाती है।

13.3 प्रमाण एवं अप्रमाण-

व्यवस्थान्यधीनिषेधानां सिद्धेः प्रत्यक्षेतरप्रमाणसिद्धिः ॥11॥

प्रमाण और अप्रमाण की व्यवस्था, दूसरों की बुद्धि का ज्ञान और अतीन्द्रिय पदार्थों के निषेध से प्रत्यक्ष से भिन्न परोक्ष प्रमाण की सिद्धि होती है।

आचार्य हेमचन्द्र ने परोक्ष प्रमाण की सिद्धि के लिये इस सूत्र में तीन हेतुओं का प्रयोग किया है—

1. अनुमान प्रमाण को माने बिना पूर्वापर कालवर्ती ज्ञान के प्रामाण्य-अप्रामाण्य का निर्धारण असंभव।
2. अनुमान प्रमाण को माने बिना दूसरों के मनोगत भावों का ज्ञान असंभव।
3. अनुमान प्रमाण को माने बिना अतीन्द्रिय पदार्थों का निषेध असंभव।

प्रत्यक्ष प्रमाण से पूर्वापर कालवर्ती ज्ञान के प्रामाण्य-अप्रामाण्य का निर्धारण नहीं हो सकता। चार्वाक वर्तमान काल सम्बन्धी ज्ञान के संवादी (वस्तु के अनुरूप) होने के कारण अव्यभिचारी (निर्दोष/यथार्थ) तथा विसंवादी होने पर व्यभिचारी कह सकते हैं, परन्तु कालान्तर में उसी प्रकार के ज्ञान में प्रामाण्य या अप्रामाण्य का निर्धारण प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं अपितु पूर्वानुभव से तुलना करके ही किया जाता है। उदाहरणार्थ दूर स्थान पर जल दिखाई दिया। पास में जाने पर जल नहीं मिला। अतः जलज्ञान अविसंवादी होने से अप्रमाण सिद्ध हुआ। दूसरे दिन या कुछ समय पश्चात् वैसा ही अनुभव हुआ। इस अनुभव को पूर्वानुभव करके यह स्वतः जान लिया कि यह जलज्ञान अप्रामाणिक है। इसी प्रकार हंस, मेंढक की आवाज सुनकर और कमल की सौरभ के आधार पर आस-पास में कहीं जल है ऐसा ज्ञान हुआ। पास में जाने पर जल भी प्राप्त हो गया। कालान्तर में पुनः ऐसा अनुभव हुआ और पास में जाये बिना ही हमने अपने ज्ञान की प्रामाणिकता का निश्चय कर लिया। इस प्रकार तुलना करके निश्चय करना अनुमान कहलाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि चार्वाक को पूर्वकाल में जाने हुए ज्ञान की समानता अथवा असमानता देखकर वर्तमानकाल के ज्ञान को प्रमाण या अप्रमाण सिद्ध करने वाला प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान प्रमाण अवश्य मानना चाहिये।

दूसरी बात प्रत्यक्ष के द्वारा दूसरों के अभिप्राय को, मनोगत भावों को नहीं समझा जा सकता। अमुक व्यक्ति मुझे सुनने का इच्छुक है या नहीं। यह उसकी चेष्टाओं से ही जाना जा सकता है। मुखमुद्रा की प्रसन्नता आदि चेष्टायें दूसरों के अभिप्राय को समझने में लिङ्ग. है। इस चेष्टा रूपी लिङ्ग. (साधन) से अमुक व्यक्ति मुझे सुनने का इच्छुक है, इस साध्य का ज्ञान होता है तथा साधन से साध्य का ज्ञान करना ही अनुमान है। इस प्रकार चार्वाक को अपना सिद्धान्त दूसरों को समझाने के लिए अनुमान प्रमाण अङ्ग.ीकार करना होगा। अतः इस हेतु से भी परोक्ष प्रमाण की सिद्धि होती है।

एक और तर्क प्रस्तुत करते हुए आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि प्रत्यक्ष केवल निकटवर्ती वस्तुओं को ही जानता है अर्थात् जिन वस्तुओं का इन्द्रिय से सन्निकर्ष होता है उन्हीं का प्रत्यक्ष होता है, ऐसा मानने वाले चार्वाक प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर अतीन्द्रिय पदार्थ मोक्ष, आत्मा, स्वर्ग-नरक आदि का निषेध या विरोध कैसे कर सकते हैं, यदि वे इस प्रकार वर्तमान से असम्बद्ध परलोकादि का निषेध करते हैं, जिनका

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं होता तो उन्हें प्रत्यक्ष के अतिरिक्त किसी दूसरे प्रमाण को मानना ही होगा। प्रत्यक्ष से उनका निषेध संभव नहीं।

भावाभावात्मकत्वाद् वस्तुनो निर्विषयोऽभावः ॥12॥

वस्तु भावात्मक-अभावात्मक है, अतः अभाव प्रमाण निर्विषय है।

दसवें सूत्र के अन्तर्गत कौन दर्शन कितने प्रमाण स्वीकार करता है, यह आप पढ़ चुके हैं। भाट्ट मीमांसक छह प्रमाणों के अन्तर्गत 'अभाव' को भी स्वतंत्र प्रमाण स्वीकार करते हैं। उनका मन्तव्य है कि भाव रूप प्रमेय को जानने के लिये जैसे भावात्मक प्रमाण होता है उसी प्रकार अभाव रूप प्रमेय को जानने के लिये अभाव प्रमाण की आवश्यकता होती है। प्रत्येक वस्तु भावाभाव रूप है। हमारी इन्द्रियां वस्तु के भाव अंश को ग्रहण करती हैं। अभाव अंश इन्द्रियों का विषय नहीं है इसलिये अभाव अंश का ग्रहण अभाव प्रमाण से होता है। जैसा कि श्लोकवार्तिक में लिखा है—

"न तावदिन्द्रियेणैषा नास्तीत्युत्पाद्यते मतिः ।
भावांशेनैव संयोगो योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि ॥
गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् ।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया ॥"

इस संदर्भ में आचार्य हेमचन्द्र का कहना है कि अभाव निर्विषय होने के कारण स्वतंत्र प्रमाण नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्येक वस्तु भावाभाव रूप होने से अभाव प्रमाण निर्विषय है। जैन और मीमांसक इस विषय में सहमत हैं कि वस्तु में भाव और अभाव दोनों अंश होते हैं तथापि विवाद का विषय यह है कि भाव और अभाव अंश ग्रहण किन प्रमाणों से होता है। जैन दार्शनिक मीमांसकों की इस बात से सहमत नहीं है कि भाव अंश का ग्रहण प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से और अभाव अंश का ग्रहण अभाव प्रमाण से होता है अपितु जैन दार्शनिकों का मन्तव्य है कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के द्वारा वस्तु के भावांश की भांति अभावांश भी जान लिया जाता है जैसे—'यह भूतल ही है, घटादि नहीं है।' इस वाक्य में जैसे प्रत्यक्ष से भूतल का भाव ग्रहण हो रहा है उसी प्रकार प्रत्यक्ष से ही घटादि के अभाव का भी ज्ञान हो रहा है अतः प्रत्यक्ष भावाभावात्मक वस्तु को ही ग्रहण करता है। न केवल प्रत्यक्ष अपितु परोक्ष भी भावाभावात्मक वस्तु को ही ग्रहण करता है अतः अभाव प्रमाण का कोई स्वतंत्र विषय न होने से वह निर्विषय होने के कारण अप्रमाण है।

13.4 प्रत्यक्ष प्रमाण

विशदः प्रत्यक्षम् ॥13॥

विशद-स्पष्टता प्रत्यक्ष प्रमाण है।

प्रमाणान्तरानपेक्षेदन्तया प्रतिभासो वा वैशद्यम् ॥14॥

अन्य प्रमाण की अपेक्षा न होना अथवा 'यह' इस तरह की प्रतीति होना वैषद्य या विशदता है।

प्रत्यक्ष शब्द प्रति उपसर्गपूर्वक अक्ष धातु से बना है। जैन परम्परा में अक्ष शब्द का 'आत्मा' अर्थ मानकर व्युत्पत्ति की गई है—'अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा'। अतः आगमिक परिभाषा के अनुसार आत्मा से होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं और जिन ज्ञानों में इन्द्रिय और मन की आवश्यकता रहती है, वे परोक्ष कहलाते हैं।

प्रत्यक्ष शब्द की व्युत्पत्ति में 'अक्ष' पद का इन्द्रिय अर्थ मानने की परम्परा सभी वैदिक दर्शनों तथा बौद्ध दर्शन में एकसी है। उनमें से किसी दर्शन में भी 'अक्ष' शब्द का आत्मा अर्थ मानकर व्युत्पत्ति नहीं की गई है। अतः न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, बौद्ध, मीमांसा आदि दर्शनों के अनुसार इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है। जैनेतर दर्शनों में प्रसिद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण जैन आगमिक परम्परा में परोक्ष प्रमाण कहलाता था। जैन तार्किकों के सामने इससे कुछ कठिनाई आई और उन्होंने लोक-व्यवहार की अपेक्षा को ध्यान में रखते हुए, दार्शनिक चर्चा परिचर्चाओं में संभागिता के लिए इन्द्रिय प्रत्यक्ष को संव्यवहार प्रत्यक्ष की संज्ञा प्रदान की। सर्वप्रथम जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण तथा अकलंक ने संव्यवहार प्रत्यक्ष के रूप में इन्द्रिय प्रत्यक्ष को प्रतिष्ठापित कर आगमिक और दार्शनिक युग का समन्वय किया। प्रत्यक्ष के इस विभाजन से उसकी परिभाषा में भी परिवर्तन अपेक्षित हुआ क्योंकि जैनदर्शन के अनुसार आत्मा से होने

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वाला ज्ञान प्रत्यक्ष माना जाता था किन्तु जब सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष को स्वीकार किया जो कि इन्द्रिय और मन की सहायता से होता था तब आगमिक परिभाषा सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष पर लागू न होने से प्रत्यक्ष की परिभाषा में परिवर्तन की अपेक्षा महसूस हुई और सर्वप्रथम आचार्य अकलंक ने प्रत्यक्ष को परिभाषित किया—'प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानम्' आचार्य विद्यानन्दी, माणिक्यनंदी, वादिदेव आदि ने आचार्य अकलंक का ही अनुकरण करते हुए विशद ज्ञान को ही प्रत्यक्ष कहा, किन्तु उन्होंने विशदता का तात्पर्य क्या है यह स्पष्ट नहीं किया। विशदता को स्पष्ट करते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा—'प्रमाणान्तरानपेक्षेदन्ततया प्रतिभासो वा वैशद्यम्' इस सूत्र में उन्होंने विशदता के दो अर्थ किये—

1. जिस ज्ञान में अनुमान आदि प्रमाणों की आवश्यकता न हो।
2. जो इदन्तया अर्थात् 'यह है' इस तरह से स्पष्ट प्रतिभासित होता हो।

प्रत्यक्ष के दो प्रकार हैं—1. मुख्य प्रत्यक्ष और 2. सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष।

मुख्य प्रत्यक्ष को परिभाषित करते हुए आचार्य हेमचन्द्र लिखते हैं—

तत् सर्वथावरणविलये चेतनस्य स्वरूपाविर्भावो मुख्यं केवलम् ॥15॥

आवरणों का सर्वथा क्षय हो जाने पर चेतन-आत्मा के स्वरूप का प्रकट हो जाना मुख्य प्रत्यक्ष है।

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा स्वभावत: सर्वज्ञ है। ज्ञान उसका स्वभाव है, स्वरूप है। किन्तु सम्पूर्ण पदार्थों को जानने की स्वाभाविक क्षमता अनादिकाल से चले आ रहे राग द्वेष आदि वैभाविक परिणामों के कारण आच्छन्न हो गयी है। उज्ज्वलता, कान्ति, बहुमूल्यता आदि सोने के स्वाभाविक गुण जैसे अनादिकालीन मिट्टी आदि से मिला हुआ होने के कारण प्रकट नहीं होते, ठीक उसी प्रकार ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय आदि कर्मों से आवरणित होने के कारण आत्मा के केवलज्ञान, केवलदर्शन, अमित आनन्द आदि स्वाभाविक गुणों की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। खान से निकलने के बाद जब क्षार, मृत, पुटपाक आदि विभिन्न रासायनिक क्रियाओं अथवा अन्य वैज्ञानिक विधियों के द्वारा जब वह मल दूर हो जाता है, फिर उस स्वरूप को प्रकट करने के लिये किसी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं होती। वैसे ही स्वाध्याय एवं ध्यान आदि आत्मस्पर्शी प्रक्रियाओं से जब आत्मा का आवरण मल दूर हो जाता है तब उसके सर्वज्ञत्व की सिद्धि या प्रतिपादन की अपेक्षा नहीं रहती। ज्ञान का आवरण जब समूल क्षय हो जाता है तब आत्मा सर्वज्ञ या केवली कहलाती है। इस अवस्था में कालगत और देशगत सीमाएं समाप्त हो जाती हैं अत: वह त्रिकालवर्ती, त्रिलोकवर्ती समस्त सूक्ष्म-स्थूल पदार्थों को उनकी अशेष पर्यायों के साथ युगपत् जानने की अर्हता उपलब्ध कर लेता है। वह सर्वज्ञ कहलाता है।

सर्वज्ञता की चर्चा दार्शनिक क्षेत्र की प्रमुख चर्चा रही है। चार्वाक और मीमांसा के अतिरिक्त प्राय: सभी भारतीय दार्शनिकों ने सर्वज्ञता को स्वीकार किया है। भले ही वह सर्वज्ञता किसी में भी क्यों न रहे। न्याय-वैशेषिक दर्शन ईश्वर के ज्ञान को उत्पाद-विनाश से रहित त्रैकालिक और युगपत् सब पदार्थों को जानने वाला मानते हैं अत: उनके अनुसार ईश्वर सर्वज्ञ है।

सांख्य-योग और वेदान्त सम्मत सर्वज्ञत्व का स्वरूप भी वैसा ही है जैसा न्याय-वैशेषिक मानते हैं। सांख्य और योग दर्शन ईश्वर को स्वीकार करते हैं तथा उसी को सर्वज्ञ भी मानते हैं, किन्तु मुक्ति के लिए सर्वज्ञता को अनिवार्य शर्त नहीं मानते।

जैन दर्शन जो सर्वज्ञता का प्रबल समर्थक है उसने मोक्ष के लिए सर्वज्ञता को अनिवार्य रूप से स्वीकार किया है और जो सर्वज्ञता का निषेध करते हैं उन्हें समझाने के लिये अनेक सबल एवं युक्तिसंगत तर्कों के माध्यम से सर्वज्ञ की सिद्धि भी की है। सर्वज्ञता के विषय में भारतीय दर्शनों के दो विभाग हो जाते हैं—1. अस्ति पक्षकार 2. नास्ति पक्षकार। नास्ति पक्षकार में मुख्य दो दर्शनों का उल्लेख किया जा सकता है—

1. चार्वाक दर्शन—चार्वाक दर्शन इन्द्रिय प्रत्यक्षवादी है। उसके अनुसार इन्द्रियों के द्वारा समस्त पदार्थों का युगपत् बोध असंभव है। सर्वज्ञता अतीन्द्रिय है अत: चार्वाक दर्शन में सर्वज्ञता की कोई संभावना ही नहीं है।

2. मीमांसा दर्शन—मीमांसा दर्शन के अनुसार धर्म के विषय में वेद ही प्रमाण है। **(धर्मे चोदनैव प्रमाणम्)** मनुष्य रागी, द्वैषी एवं अल्पज्ञ होता है, अत: वह सूक्ष्म, व्यवहित एवं विप्रकृष्ट अर्थ का त्रैकालिक ज्ञान नहीं कर सकता। यदि वे किसी पुरुष में सर्वज्ञता को स्वीकार कर लेते हैं तो सर्वज्ञ होने के कारण

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उस पुरुष के वचन प्रमाण हो जायेंगे एवं इससे वेदों की प्रामाणिकता पर प्रश्नचिह्न लग जायेगा। सर्वज्ञता के विरुद्ध कुमारिल आदि मीमांसकों के कुछ मुख्य तर्क इस प्रकार हैं—

1. देखने और जानने की क्षमता सीमित होती है। सीमा का विकास किया जा सकता है पर उसका अतिक्रमण नहीं किया जा सकता। जैसे कोई व्यक्ति आकाश में उछलने के अभ्यास द्वारा दश या बीस हाथ तो उछल सकता है पर उछलकर एक योजन चला जाये यह संभव नहीं।
2. विभिन्न दर्शन भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में सर्वज्ञता को स्वीकार करते हैं। यदि सुगत सर्वज्ञ है, महावीर सर्वज्ञ हैं तो कपिल सर्वज्ञ क्यों नहीं हो सकते हैं? और यदि वे सब सर्वज्ञ हैं तो उनमें परस्पर विसंवादिता क्यों? एकरूपता क्यों नहीं?
3. यदि सर्वज्ञ के ज्ञान में अनादि-अनन्त पदार्थ प्रतिभासित होते हैं तो उनकी अनादि-अनन्तता समाप्त हो जाएगी और यदि वह अनादि-अनन्त पदार्थों को नहीं जानता तो स्वयं अपूर्ण होने के कारण सर्वज्ञ नहीं कहला सकता।
4. किसी भी तथ्य के विधि साधक प्रमाण पांच हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति। इन पांचों के द्वारा सर्वज्ञ की सत्ता प्रमाणित नहीं होती, फलतः अभाव प्रमाण से उसका नास्तित्व सिद्ध हो जाता है।

इसी प्रकार उन्होंने सर्वज्ञता और वक्तृत्व में विरोध दिखलाकर एवं अन्य अनेक स्थूल तर्कों के द्वारा सर्वज्ञाभाव को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

जैन दर्शन में प्रारम्भ से ही सर्वज्ञता और धर्मज्ञता के विषय में कोई मतभेद नहीं रहा है। उनके अनुसार प्रत्येक आत्मा सर्वज्ञ हो सकती है, क्योंकि सर्वज्ञता उसका स्वभाव है। स्वभाव अनुभूति का विषय होता है, तर्क या युक्ति का विषय नहीं—'स्वभावोऽतर्कगोचरः' किन्तु विभावज्ञान से अभिभूत चेतना वालों के लिए अहेतुगम्य तथ्यों का बोध दुष्कर होता है अतः प्रतिपक्षी शंकाओं का समाधान करने के लिये सर्वज्ञता को भी हेतुवाद का विषय बनाया गया। आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा—

प्रज्ञातिशयविश्रान्त्यादिसिद्धेस्तत्सिद्धिः ॥16॥

प्रज्ञा के तारतम्य की विश्रान्ति आदि की सिद्धि से सर्वज्ञता की सिद्धि होती है।

बाधकाभावाच्च ॥17॥

बाधक प्रमाण के अभाव से भी सर्वज्ञता की सिद्धि होती है।

आचार्य समन्तभद्र ने सर्वप्रथम आगममान्य सर्वज्ञता को युक्ति और तर्क द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न करके दर्शनशास्त्र में सर्वज्ञ की चर्चा का शुभारम्भ किया। उन्होंने कहा आप्त वही हो सकता है जो निर्दोष और सर्वज्ञ हो तथा जिसके वचन युक्ति और आगम के विरुद्ध न हो। सर्वज्ञता के निषेध में मुखरित स्वर को प्रतिहत करते हुए उन्होंने कहा— **दोषावरणयोर्हानिर्निशेषातिशायनात्।**

क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरान्तर्मलक्षयः॥

अर्थात् दोष और आवरण का सर्वथा नाश संभव है क्योंकि उनमें तारतम्य देखा जाता है और जहां तारतम्य होता है वहां उसकी पराकाष्ठा भी अवश्य होती है अतः उस तारतम्य की जहां विश्रान्ति हो जाती है वही सर्वज्ञता है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी सर्वज्ञसिद्धि में यही युक्ति दी है। 'प्रज्ञातिशयविश्रान्त्यादिसिद्धेस्तत्सिद्धिः' प्रज्ञा के तारतम्य की विश्रान्ति आदि की सिद्धि से सर्वज्ञता की सिद्धि होती है। पातञ्जल योगभाष्य में सर्वप्रथम यह युक्ति प्राप्त होती है—'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ बीजम्।' जब आत्मा दोष और आवरण से मुक्त हो जाती है तब वह सर्वज्ञ बन जाती है।

बाधक प्रमाणों का अभाव होने से एवं साधक प्रमाणों का सद्भाव होने से प्रमाण के द्वारा भी सर्वज्ञ की सिद्धि हो जाती है।

1. विधिसाधक प्रमाण पंचक सर्वज्ञ के बाधक नहीं है। एक व्यक्ति के प्रत्यक्ष के आधार पर यदि सर्वज्ञाभाव माना जाये तो अन्य सूक्ष्म, अन्तरित एवं दूरस्थ पदार्थ जिनका इन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, उनके अस्तित्व के अभाव का भी प्रसंग आ जायेगा। और यदि कोई व्यक्ति सबके प्रत्यक्ष से सर्वज्ञाभाव सिद्ध करता है तो वह सर्वज्ञाभाव सिद्ध करने वाला स्वयं सर्वज्ञ हो जायेगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2. अनुमान के लिए कोई भी ऐसी निर्दुष्ट व्याप्ति उपलब्ध नहीं जो सर्वज्ञाभाव सिद्ध कर सके। अपौरुषेय आगम का अभाव एवं पौरुषेय आगम सर्वज्ञ कर्तृक होने के कारण आगम भी सर्वज्ञ का बाधक नहीं। इसी प्रकार उपमान और अर्थापत्ति के आधार पर भी सर्वज्ञ का सार्वदेशिक-सार्वकालिक अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता।
3. देखने, जानने की क्षमता के विषय में जो उछलने आदि का दृष्टान्त दिया जाता है वह भी युक्त नहीं, क्योंकि सर्वज्ञता इन्द्रिय प्रकर्ष नहीं। वह प्रज्ञातिशय है, अतीन्द्रिय क्षमता है। कूदने की क्षमता विभावजन्य है, उसका चरम बिन्दु संभव नहीं पर स्वभाव की पराकाष्ठा में कोई विप्रतिपत्ति नहीं, विरोध नहीं।
4. सूक्ष्म (स्वभाव विप्रकृष्ट), अन्तरित (काल विप्रकृष्ट) एवं दूरस्थ (देश विप्रकृष्ट) पदार्थ अनुमेय हैं, अत: वे किसी न किसी के प्रत्यक्ष होने चाहिए क्योंकि जो अनुमेय होता है, वह किसी न किसी के प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार अनुमेयत्व हेतु के आधार पर भी सर्वज्ञ की सिद्धि होती है।
5. मीमांसकों ने सर्वज्ञता के साथ वक्तृत्व का विरोध दिखाते हुए यह तर्क दिया कि जो वक्ता होता है वह सर्वज्ञ नहीं होता, जैसे राहगीर। उक्त तर्क भी निराधार है क्योंकि वक्तृत्व और सर्वज्ञत्व में कोई विरोध नहीं है। देखा जाता है कि ज्ञानवृद्धि के साथ-साथ वक्तृत्व में प्रकर्षता उत्पन्न होती है न कि वक्तृत्व का अभाव।
6. सर्वज्ञ के बाधक प्रमाणों का अभाव भी उसकी सत्ता को सिद्ध करता है।
7. एक अवयव के प्रत्यक्ष से समग्र अवयवी की प्रत्यक्षता सिद्ध होती है। मति आदि ज्ञान केवलज्ञान के अवयव हैं, उनकी प्रत्यक्ष अनुभूति केवलज्ञान की सिद्धि में साधक है।
8. आत्मा ज्ञान स्वभाव है, अत: प्रतिबन्धक कारणों के नष्ट हो जाने पर सर्वज्ञता स्वाभाविक है।

इस प्रकार जैनाचार्यों ने सर्वज्ञता की सिद्धि में अनेक तर्क प्रस्तुत किये। जैन दर्शन के अनुसार मात्र केवलज्ञान ही मुख्य प्रत्यक्ष नहीं है अपितु अवधिज्ञान और मन:पर्यव ज्ञान भी मुख्य प्रत्यक्ष कहलाते हैं। जैसाकि आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है—

तत्तारतम्येऽवधिमन:पर्यायौ च ॥18॥

आवरण के पूर्ण विलय में तारतम्यता होने पर अवधि और मन:पर्यवज्ञान होते हैं। वे भी मुख्य प्रत्यक्ष हैं।

मुख्य प्रत्यक्ष में अवधिज्ञान का पहला स्थान है। जब कोई जीव इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना सूक्ष्म और स्थूल, व्यवहित और अव्यवहित, दूरस्थ और निकटस्थ पदार्थों को साक्षात् जानने का सामर्थ्य विकसित कर लेता है तब वह ज्ञान शक्ति अवधिज्ञान के नाम से जानी जाती है। अवधिज्ञान मर्यादायुक्त ज्ञान है, क्योंकि इसमें ज्ञान को आवृत्त करने वाले पुद्गलों का पूर्ण विलय नहीं होता। इसमें द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की विविध सीमाएं होती हैं। अवधि का विषय केवल मूर्त्त पदार्थ हैं अत: अवधिज्ञान धर्म, अधर्म आदि छ: द्रव्यों में से केवल एक पुद्गल द्रव्य को जानता है।

अवधिज्ञान के भेद

अवधिज्ञान के मुख्य दो भेद बताये गये हैं—1. भवप्रत्ययिक और 2. गुणप्रत्ययिक।

1. भवप्रत्ययिक—जिस अवधिज्ञान के प्राप्ति में भव अर्थात् जन्म निमित्त बनता है, वह भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान है। जैसे देव और नारक के रूप में जन्म लेने वाले प्राणियों को प्राप्त होने वाला अवधिज्ञान।

2. गुणप्रत्ययिक—सम्यक्त्व से अधिष्ठित व्रत (अणुव्रत, महाव्रत) आदि गुणों के निमित्त से अवधिज्ञानावरण के विलय से जिस अवधिज्ञान की प्राप्ति होती है वह गुणप्रत्ययिक या क्षायोपशिम अवधिज्ञान कहलाता है।

नंदीसूत्र में अवधिज्ञान के आनुगामिक, अननुगामिक, वर्धमान, हीयमान, प्रतिपाति एवं अप्रतिपाति ये छ: भेद भी बताये गये हैं।

अवधिज्ञान का विषय

अवधिज्ञान का विषय संक्षेप में द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव के आधार पर चार प्रकार से प्रतिपादित किया गया है—

1. **द्रव्य की अपेक्षा**—न्यूनतम अनन्तरूपी द्रव्यों को जानता-देखता है। अधिकतम समस्त रूपी द्रव्यों को जानता देखता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2. **क्षेत्र की अपेक्षा**—जघन्य कम से कम अंगुल का असंख्यातवां भाग। उत्कृष्ट रूप से असंख्य क्षेत्र तथा सामर्थ्य की दृष्टि से लोकाकाश जैसे असंख्य खण्ड इसके विषय बन सकते हैं।
3. **काल की अपेक्षा**—जघन्य आवलिका का असंख्यातवां भाग। उत्कृष्ट असंख्य काल (असंख्य उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालखण्ड)
4. **भाव की अपेक्षा**—जघन्य अनन्त पर्याय तथा उत्कृष्ट सभी रूपी पर्याय अवधिज्ञान का विषय हैं।

मन:पर्यवज्ञान

मुख्य प्रत्यक्ष के तीन भेदों में दूसरा भेद है—मन:पर्यवज्ञान। यह ज्ञान वैचारिक आकृतियां के माध्यम से मानसिक भावों को जानने वाला ज्ञान है। व्यक्ति जो सोचता है उसी के अनुरूप चिन्तन प्रवर्तक पुद्‌गल द्रव्यों के पर्याय-आकार निर्मित हो जाते हैं, मन के उन पर्यायों का साक्षात् करने वाला ज्ञान मन:पर्यवज्ञान है। कुछ आचार्य चिन्तन की वस्तु का ज्ञान अनुमानजन्य मानते हैं। उनके अनुसार 'इस प्रकार के पदार्थ का चिन्तन किये बिना ऐसे पर्याय नहीं हो सकते' ऐसा अविनाभाव का विचार करने से बाह्य चिन्तित पदार्थ का ज्ञान होता है और यह ज्ञान अनुमान है। अभिप्राय यह है कि जैस-जैसे पदार्थ का चिन्तन किया जाता है, वैसे-वैसे मन के आकार बनते रहते हैं। मन:पर्यवज्ञान उन्हीं पर्यायों को जानता है फिर उन पर्यायों के आधार पर अनुमान से कुर्सी आदि बाह्य पदार्थों का बोध होता है अत: बाह्य पदार्थों के इस ज्ञान को मन:पर्यवज्ञान नहीं समझना चाहिये। भाष्य में भी कहा—'जाणई बज्झेणुमाणेणं' अर्थात् मन:पर्यवज्ञानी बाह्य पदार्थों को अनुमान से जानता है।

मन:पर्यवज्ञान के भेद

ऋजुमति और विपुलमति के भेद से मन:पर्यवज्ञान दो प्रकार का होता है। यह ज्ञान चारों गतियों में से केवल मनुष्य गति में, मनुष्य में भी संयमी में, संयमी में भी अप्रमत्त एवं ऋद्धि प्राप्त को होता है। सबको नहीं होता।

मन:पर्यवज्ञान का विषय

मन:पर्यवज्ञान का विषय भी संक्षेप में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा चार प्रकार से प्रतिपादित किया जाता है—

1. **द्रव्य की अपेक्षा**—मन रूप में परिणत पुद्‌गल द्रव्य को जानता है।
2. **क्षेत्र की अपेक्षा**—मनुष्य क्षेत्र में जानता है।
3. **काल की अपेक्षा**—असंख्य काल तक का अतीत और भविष्य जानता है।
4. **भाव की अपेक्षा**—मनु रूप में परिणत पुद्‌गल द्रव्यों को अनन्त अवस्थाओं को जानता है।

प्रश्न होता है कि अवधिज्ञान और मन:पर्यवज्ञान दोनों ही क्षायोपशमिक ज्ञान हैं और दोनों ही रूपी द्रव्यों को जानते हैं फिर इनमें भेद क्या है? इनका अलग-अलग प्रतिपादन क्यों है? आचार्य हेमचन्द्र दोनों में भेद बताते हुए लिखते हैं—

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयभेदात् तद्‌भेद: ॥19॥

विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय के भेद से दोनों में भेद है।

अवधिज्ञान और मन: पर्यवज्ञान दोनों ही ज्ञान क्षायोपशमिक है, रूपी द्रव्य को अपना विषय बनाते हैं अत: मन:पर्यवज्ञान अवधिज्ञान का ही एक अवान्तर भेद जैसा प्रतीत होता है। इसीलिए आचार्य सिद्धसेन ने अवधिज्ञान और मन:पर्यवज्ञान को एक ही माना है। उनकी परम्परा को सिद्धान्तवादी आचार्यों ने मान्य नहीं किया है। उमास्वाति ने संभवत: पहली बार अवधिज्ञान और मन:पर्यवज्ञान के भेद बताने वाले हेतुओं का निर्देश किया है—विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय। आचार्य हेमचन्द्र ने भी प्रस्तुत सूत्र में इन चार भेदों का निर्देश किया है—

1. **विशुद्धिकृत भेद**—अवधिज्ञान जिन मनोद्रव्यों को जानता है, उन्हीं को मन: पर्यवज्ञानी ज्यादा स्पष्टता के साथ जानता है।
2. **क्षेत्रकृत भेद**—अवधिज्ञान अंगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर समग्र लोक में स्थित मूर्त्त द्रव्यों को जानता है। मन:पर्यवज्ञान मनुष्य क्षेत्र तक ही सीमित है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. **स्वामीकृत भेद**—अवधिज्ञान संयत, असंयत और संयतासंयत सभी के होता है। मन:पर्यवज्ञान केवल संयत मनुष्य के ही होता है।
4. **विषयकृत भेद**—अवधिज्ञान का विषय रूपी द्रव्य और उनके कुछ पर्याय हैं। मन:पर्यवज्ञान का विषय अवधिज्ञान के विषय की तुलना में अनन्तवां भाग।

जिस प्रकार एक फिजिशियन आंख, नाक, कान आदि शरीर के सभी अवयवों की जांच करता है और इनकी जांच इनका विशेषज्ञ डॉक्टर भी करता है किन्तु दोनों की जांच और चिकित्सा में अन्तर रहता है। विशेषज्ञ की तुलना में सामान्य डॉक्टर नहीं आ सकता। इसी प्रकार मन:पर्यवज्ञान की तुलना में साधारण अवधिज्ञान नहीं आ सकता। प्रत्यक्ष के दो भेदों में से मुख्य प्रत्यक्ष की चर्चा यहां समाप्त होती है। अगले पाठ में हम प्रत्यक्ष के दूसरे भेद सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष की चर्चा करेंगे।

13.5 प्रत्यक्ष प्रमाण (2)

प्रत्यक्ष के दो भेदों में से मुख्य प्रत्यक्ष की चर्चा हम पिछले पाठ में पढ़ चुके हैं। अब इस पाठ में हम प्रत्यक्ष के दूसरे भेद सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष की चर्चा करेंगे—

इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवग्रहेहावायधारणात्मा सांव्यवहारिकम् ॥20॥

इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाला तथा अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा रूप ज्ञान सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहलाता है।

जैन आगमों में सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के लिये 'आभिनिबोधिक ज्ञान' और 'मतिज्ञान' शब्द का प्रयोग हुआ है। बाद में जब जैन न्याय का विकास हुआ तब जैन नैयायिकों ने अन्य दर्शनों के साथ, जो कि इन्द्रिय और मन से होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष मान रहे थे उनके साथ समन्वय स्थापित करने की दृष्टि से प्रत्यक्ष के दो भेद किये—मुख्य प्रत्यक्ष और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष। यह भेद सर्वप्रथम आचार्य जिनभद्रगणी ने अपने विशेषावश्यक भाष्य में किया—'इंदियमणो भवं तं संववहार पच्चक्खं' इस प्रकार उन्होंने इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाले मतिज्ञान को परोक्ष की परिधि से निकालकर तथा सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष नाम देकर प्रत्यक्ष की परिधि में सम्मिलित कर दिया। इस परिवर्तन से प्राचीन जैन परम्परा जो सीधे आत्मा से होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष मान रही थी उसकी भी क्षति नहीं हुई और विपक्षी दार्शनिकों के साथ सहज समन्वय स्थापित हो गया।

सांव्यवहारिक को स्पष्ट करते हुये कहा गया—'समीचीन प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपो व्यवहार: संव्यवहार: तत्प्रयोजनं सांव्यवहारिकम्'। आचार्य माणिक्यनंदी ने सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार किया 'इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशत: सांव्यवहारिकम्' अर्थात् इन्द्रिय और मन से होने वाले एक देश स्पष्ट ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने इसका लक्षण किया—'इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवग्रहेहावाय धारणात्मा सांव्यवहारिकम्' अर्थात् जो इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होता है तथा जो अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा स्वरूप वाला होता है वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। संव्यवहार से तात्पर्य यह है कि जिसके द्वारा हम सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप व्यवहार करते हैं।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष इन्द्रिय और मन की सहायता से होता है अत: सर्वप्रथम इन्द्रिय का लक्षण करते हुए लिखते हैं—

स्पर्शरसगन्धरूपशब्दग्रहणलक्षणानि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुश्रोत्राणीन्द्रियाणि द्रव्यभावभेदानि ॥21॥

स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द को ग्रहण करना जिनका लक्षण है वे क्रमश: स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन्द्रियां द्रव्य भाव भेद वाली हैं। अर्थात् इन्द्रियों के दो प्रकार हैं—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय।

प्राणी और अप्राणी में स्पष्ट भेद रेखा खींचने वाला चिह्न है—इन्द्रिय। प्रत्येक जीव तीन लोक के ऐश्वर्य से सम्पन्न होता है, इसलिए उसे इन्द्र कहते हैं और वह जिस चिह्न से पहचाना जाये उसे इन्द्रिय कहते हैं। 'प्रतिनियतविषयग्राहिइन्द्रियम्' जिनके द्वारा अपने-अपने नियत विषय—शब्द आदि का ज्ञान होता है, उसे इन्द्रिय कहते हैं। वे पांच हैं—1. स्पर्शनेन्द्रिय 2. रसनेन्द्रिय 3. घ्राणेन्द्रिय 4. चक्षुरिन्द्रिय 5. श्रोत्रेन्द्रिय।

1. **स्पर्शनेन्द्रिय**—जिस इन्द्रिय से स्पर्श का ज्ञान होता है, वह है स्पर्शन इन्द्रिय—त्वचा।
2. **रसनेन्द्रिय**—जिस इन्द्रिय से रस का ज्ञान होता है, वह है रसन इन्द्रिय—जिह्वा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. घ्राणेन्द्रिय—जिस इन्द्रिय से गन्ध का ज्ञान होता है, वह है घ्राण इन्द्रिय—नाक।

4. चक्षुरिन्द्रिय—जिस इन्द्रिय से रूप का ज्ञान होता है, वह है चक्षु इन्द्रिय—आंख।

5. श्रोत्रेन्द्रिय—जिस इन्द्रिय से शब्द (ध्वनि) का ज्ञान होता है वह है श्रोत्र इन्द्रिय—कान।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाये तो संभवतः ज्ञान के साधन के रूप में इन्द्रिय शब्द का प्रथम प्रयोग कौषितकी उपनिषद् में हुआ है। प्रश्नोपनिषद्, मैत्रयोपनिषद्, श्वेताश्वतर उपनिषद् आदि में भी इन्द्रियों की संख्या, ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों के दृष्टान्त आदि के विषय में विवेचन मिलता है। चरक, बौद्ध, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त सभी दर्शनों में इन्द्रियों, उनके विषय, स्वामित्व, संख्या, उनके उपादान कारण आदि के विषय में विवेचन उपलब्ध होता है।

पण्डित सुखलालजी ने भाषा टिप्पणों के परिप्रेक्ष्य में दर्शनशास्त्र में उपलब्ध इन्द्रिय सम्बन्धी विविध विषयों का सुन्दर विवेचन किया है। पण्डित जी के अनुसार इन्द्रिय पद की निरुक्ति का श्रेय पाणिनीय सूत्र को जाता है। जिसमें इन्द्र के लिंग, दृष्ट, जुष्ट और दत्त अर्थ में इन्द्रिय शब्द का निर्वचन किया गया है। उनके अनुसार पाणिनीय सूत्र का अनुकरण करते हुए विशुद्धि मार्ग जैसे प्रतिष्ठित बौद्ध ग्रन्थ तथा तत्त्वार्थभाष्य जैसे जैन ग्रन्थ में जब इसे अपना लिया गया तभी से यह उन दर्शन ग्रन्थों का विषय बन गई। इन्द्रिय पद का निर्वचन कर उसे अपने दर्शन में प्रतिष्ठापित करने के लिए जहां बुद्धघोष ने इन्द्र का अर्थ सुगत किया वहां जैन ग्रन्थों में इसका अर्थ तीर्थंकर या महावीर नहीं किया गया अपितु जीव अथवा आत्मा किया गया।

पाँच इन्द्रियों की शक्ति

पांचों इन्द्रियों में चक्षु इन्द्रिय की ज्ञानशक्ति सबसे अधिक है। वह रूप के पुद्‌गलों का स्पर्श किये बिना ही रूप का ज्ञान कर लेती है। श्रोत्रेन्द्रिय की ज्ञानशक्ति चक्षु से कम है, क्योंकि वह शब्द के पुद्‌गलों का स्पर्श करके जानती है। शेष तीन इन्द्रियों की ज्ञानशक्ति श्रोत्र से भी कम है क्योंकि ये तीनों गन्ध आदि के पुद्‌गलों को स्पर्शमात्र से नहीं जान सकती, किन्तु स्पर्श होने के बाद उनका ग्रहण होता है और उसके बाद घ्राणादि इन्द्रियों को उनका ज्ञान होता है।

पाँच इन्द्रियों में प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी

इन्द्रिय प्रत्यक्ष में विषय और इन्द्रिय का सम्पर्क होता है, फिर ज्ञान होता है इसमें कोई मतभेद नहीं। मतभेद इसमें है कि उनके सम्पर्क का स्वरूप क्या है? यह अनुभूतिगम्य है कि सभी इन्द्रियों का विषय सम्पर्क एक समान नहीं होता। आंख जहां बहुत दूर से ही विषय को ग्रहण कर लेती है वहां जीभ और त्वचा विषय के साक्षात् सम्बन्ध की अपेक्षा रखती है। इसी सम्पर्क की भिन्नता पर आधारित है—प्राप्यकारी-अप्राप्यकारी की चर्चा। विभिन्न दर्शनों में प्राप्यकारी-अप्राप्यकारी की चर्चा के स्वरूप को समासतः निम्नांकित तालिका से समझा जा सकता है—

इन्द्रियां	**प्राप्यकारी**	**अप्राप्यकारी**
1. श्रोत्रेन्द्रिय	बौद्ध के अतिरिक्त सभी दर्शन	बौद्ध
2. चक्षुरीन्द्रिय	सांख्य, न्याय, वैशेषिक, मीमांसक	जैन, बौद्ध
3. घ्राणेन्द्रिय	सभी दर्शन	—
4. रसनेन्द्रिय	सभी दर्शन	—
5. स्पर्शनेन्द्रिय	सभी दर्शन	—
6. नोइन्द्रिय	सांख्य और वेदान्त	शेष सभी दर्शन

जैन दर्शन के अनुसार चक्षु अप्राप्यकारी है तथा शेष चारों प्राप्यकारी हैं। जो शब्दादि के पुद्‌गलों को प्राप्त करके ज्ञान करती है उन्हें प्राप्यकारी कहते हैं और जो दूर से ही निकट से सम्पर्क किये बिना ही ज्ञान कर लेती है, उसे अप्राप्यकारी कहते हैं। चक्षु रूप के पुद्‌गलों का स्पर्श न करके दूर से ही रूप का ज्ञान करती है अतः वह अप्राप्यकारी है तथा शेष चारों इन्द्रियां शब्दादि पुद्‌गलों को प्राप्त करके शब्द, गंध, रस, स्पर्श का ज्ञान करती हैं अतः वे प्राप्यकारी हैं।

इन्द्रियों में परस्पर भेदाभेद

पांचों इन्द्रियां द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से अभिन्न हैं और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से भिन्न हैं। उनमें यदि एकान्त भेद माना जाये तो जैसे स्पर्शनेन्द्रिय से स्पर्श का ग्रहण होता है उसी प्रकार उससे रस

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आदि का भी ग्रहण होना चाहिये, पर ऐसा होता नहीं। इसके अतिरिक्त एक इन्द्रिय की पूर्णता होने पर सबकी पूर्णता और एक की विकलता से सभी की विकलता हो जानी चाहिये, पर ऐसा भी होता नहीं अतः एकान्त अभेद मानना उचित नहीं। यदि इन्द्रियों में एकान्त भेद माना जाये तो वह भी उचित नहीं क्योंकि जैसे भिन्न-भिन्न पुरुष की इन्द्रियां किसी एक विषय में संकलन ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकती, उसी प्रकार एक पुरुष की इन्द्रियां भी संकलनात्मक ज्ञान नहीं कर सकेंगी। पर हमें पांचों इन्द्रियों का संकलनात्मक ज्ञान (मैंने देखा भी है, सूंघा भी है, चखा भी है, छुआ भी है) होता है अतः उनमें कथंचित् अभिन्नता भी सिद्ध होती है।

जैन दर्शन के अनुसार इन्द्रिय के दो प्रकार हैं—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। द्रव्येन्द्रिय जड़रूप तथा भावेन्द्रिय चैतसिक होती हैं। इनका विवेचन अगले सूत्रों में किया जा रहा है।

द्रव्येन्द्रियं नियताकाराः पुद्गलाः ॥22॥

विशिष्ट आकार वाले पुद्गल द्रव्येन्द्रिय हैं।

इन्द्रिय के दो भेदों में से पहला भेद है—द्रव्येन्द्रिय। नाक, कान आदि इन्द्रियों की बाहरी और भीतरी पौद्‌गलिक रचना (आकार विशेष) को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। इसके दो भेद हैं—1. निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय 2. उपकरण द्रव्येन्द्रिय।

1. निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय—इन्द्रिय की आकार-रचना को निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। आकार दो प्रकार के होते हैं—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य आकार रचना प्रतिप्राणी भिन्न होती है, सबकी एक सी नहीं होती। आभ्यन्तर आकार-रचना सभी जीवों की समान होती है। जैन दर्शन में पांचों इन्द्रियों की आभ्यन्तर आकार-रचना को निम्नांकित रूप से समझा जा सकता है—

(1) श्रोत्रेन्द्रिय का आभ्यन्तर आकार—कदम्ब के फूल जैसा।
(2) चक्षुरीन्द्रिय का आभ्यन्तर आकार—मसूर की दाल जैसा।
(3) घ्राणेन्द्रिय का आभ्यन्तर आकार—अतिमुक्त पुष्प की चंद्रिका जैसा।
(4) रसनेन्द्रिय का आभ्यन्तर आकार— अर्धचन्द्र या खुरपे जैसा।
(5) स्पर्शनेन्द्रिय का आभ्यन्तर आकार—अपने-अपने शरीर के आकार जैसा।

2. उपकरण-द्रव्येन्द्रिय—आभ्यन्तर-निर्वृत्ति के भीतर अपने-अपने विषय को ग्रहण करने में समर्थ जो पौद्‌गलिक शक्ति होती है, उसे उपकरण द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। उदाहरणतः बाह्य निर्वृत्ति है तलवार, आभ्यन्तर निर्वृत्ति है तलवार की धार और उपकरण है तलवार की छेदन-भेदन शक्ति।

द्रव्येन्द्रिय की उत्पत्ति का मुख्य कारण नामकर्म है। नामकर्म के उदय के कारण ही जीव के शरीर, शरीर की संरचना, अंगोपांग आदि विविध शारीरिक स्थितियों का निर्माण एवं निर्धारण होता है। ये द्रव्येन्द्रियां ज्ञान का उपादान कारण नहीं हैं, वे ज्ञान में सहयोगी हैं। सहायक अथवा गौण होने के कारण इन्हें जैन सिद्धान्त में द्रव्य इन्द्रिय कहा जाता है। ये शरीराधिष्ठित हैं। जड़ द्रव्य से निर्मित हैं अतः अजीव हैं।

भावेन्द्रियं लब्ध्युपयोगौ ॥23॥

लब्धि और उपयोग भावेन्द्रिय हैं।

इन्द्रियों का चैतसिक भाग जैन दर्शन में भावेन्द्रिय कहलाता है। भावेन्द्रिय के दो प्रकार हैं—1. लब्धि भावेन्द्रिय और 2. उपयोग भावेन्द्रिय।

लब्धि भावेन्द्रिय

ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम होने पर स्पर्श आदि विषयों को जानने की जो शक्ति प्राप्त होती है उसे लब्धि भावेन्द्रिय कहते हैं। जैन दर्शन के अनुसार इन्द्रिय चेतना के आधार पर प्राणियों के एकेन्द्रिय आदि पांच प्रकार होते हैं। सामान्यतः जिस प्राणी के शरीर में जितने ज्ञान साधनों (करणों) का विकास होता है वह उतनी इन्द्रिय वाला कहलाता है। प्रश्न होता है कि जब सारे प्राणी अनन्त शक्ति सम्पन्न हैं तो वे अपने शरीर में सारी इन्द्रियों का निर्माण क्यों नहीं कर सकते? जैन दर्शन के अनुसार इसका नियामक है लब्धि इन्द्रिय। यद्यपि अव्यक्त चेतनांश की दृष्टि से प्रत्येक प्राणी में यत्किंचित रूप में पांचों इन्द्रिय-विषयों को ग्रहण करने का सामर्थ्य होता है फिर भी उस अव्यक्त अंश के आधार पर उन्हें पंचेन्द्रिय नहीं कहा जा सकता। जिस प्राणी में जितनी इन्द्रियों की लब्धि अर्थात् ज्ञान क्षमता होती है वह उतनी ही

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इन्द्रियों का आकार अपने शरीर में बना सकता है। इस प्रकार निर्वृत्ति इन्द्रिय का मुख्य आधार लब्धि इन्द्रिय ही है।

उपयोग भावेन्द्रिय

ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त शक्ति की प्रयोग को उपयोग भावेन्द्रिय कहते हैं। यही हमारे अनुभव और व्यवहार की नियामक है। एक व्यक्ति की पांचों इन्द्रियां कार्यक्षम है। उसके सम्मुख प्रत्येक इन्द्रिय के ग्रहण योग्य विषय भी उपस्थित हैं, फिर भी वह जिस क्षण रूप को देखता है उस क्षण पुष्प को नहीं सूंघता। इतना ही नहीं जिस क्षण पुस्तक को देखता है उस क्षण अन्य वस्तुओं को नहीं देखता। हमारे ज्ञान में यह विप्लव न हो, इसकी नियामकता का मुख्य सूत्रधार है—उपयोग। इसलिए पांचों लब्धि इन्द्रियां होने पर प्रत्येक प्राणी उपयोग की अपेक्षा सदैव एकेन्द्रिय ही होता है।

इस प्रकार जैनदर्शन में इन्द्रिय प्राप्ति का एक व्यवस्थित क्रम मिलता है। इस क्रम में लब्धि का स्थान पहला है फिर क्रमशः निर्वृत्ति, उपकरण, उपयोग का स्थान है। उपयोग के बिना उपकरण, उपकरण के बिना निर्वृति, निर्वृति के बिना लब्धि हो सकती है किन्तु लब्धि के बिना निर्वृति, निर्वृति के बिना उपकरण और उपकरण के बिना उपयोग नहीं हो सकता।

सर्वार्थग्रहणं मनः ॥24॥

सर्व अर्थ (पदार्थ) जिसके द्वारा ग्रहण किये जाएं, वह मन है।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के लिये न केवल इन्द्रियों की अपितु मन की भी आवश्यकता होती है। बाह्य पदार्थ के आलोचन में जैसे इन्द्रियों की आवश्यकता होती है वैसे ही उस पदार्थ के विषय में विचारणा—ईहा, अपोह आदि विशेष विमर्श तथा वाच्य-वाचक सम्बन्ध का ज्ञान करने के लिये मन की आवश्यकता होती है।

'मननं मन्यते अनेन वा मनः' इस व्युत्पत्ति के आधार पर मन का मुख्य कार्य है—चिन्तन, मनन। मनन करना मन है अथवा जिसके द्वारा मनन किया जाता है वह मन है। जैन साहित्य में मन के लिये कालिकी संज्ञा, दीर्घकालिकी संज्ञा, संप्रधारण संज्ञा, नोइन्द्रिय, अनिन्द्रिय, छठी इन्द्रिय आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है।

मन का विषय

इन्द्रियों की गति अपने प्रतिनियत विषय तक ही होती है जबकि मन सर्वार्थग्राही होता है। इन्द्रियां केवल वर्तमानग्राही होती हैं जबकि मन त्रैकालिक संज्ञान है। इन्द्रियों की गति केवल पदार्थ तक है जबकि मन की गति इन्द्रियों और पदार्थ दोनों तक है। अतः वस्तुतः देखा जाये तो अवग्रह ही इन्द्रियों का कार्य है। ईहा, अवाय आदि मन के अभाव में नहीं होते क्योंकि ईहा में पर्यालोचन नहीं होता पर चिन्तन प्रारम्भ हो जाता है अतः यह मानना चाहिये कि जहां से चिन्तन, विकल्प, अन्तर्जल्प प्रारम्भ हो जाता है वहां से मन का विषय प्रारम्भ हो जाता है अतः ईहा, अवाय, धारणा स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और आगम आदि सभी मानसिक विकास के विविध पहलु हैं।

जैन दर्शन के अनुसार श्रुतज्ञान भी मन का विषय है। श्रुत का अर्थ है—शब्द, संकेत आदि से होने वाला ज्ञान। 'कुर्सी' शब्द सुनना कान का काम है। 'कुर्सी' अर्थ को देखना आंख का काम है पर 'कुर्सी' वाचक का सम्बन्ध अमुक अर्थ से है अथवा अमुक पदार्थ 'कुर्सी' शब्द के द्वारा वाच्य है, यह ज्ञान मन के बिना नहीं हो सकता। इसलिये सारा शब्दाश्रयी ज्ञान—श्रुतज्ञान मुख्यतः मन का विषय है।

मन के प्रकार

इन्द्रियों की तरह मन के भी दो प्रकार है—1. द्रव्यमन और 2. भावमन।

द्रव्यमन मनोवर्गणा के पुद्‌गलों से बनता है अतः जड़ है, अनित्य है। द्रव्यमन सूक्ष्म है अतः वह सामान्य चर्म चक्षुओं का विषय नहीं बनता फिर भी विशिष्ट अतीन्द्रियज्ञानी-अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी आदि उसे साक्षात् देख सकते हैं।

भावमन संज्ञानात्मक होता है। वह आत्म-परिणति होने से चेतन है। आत्मा के समान ही परिणामी नित्य एवं अमूर्त्त है, अतः केवलज्ञान के अतिरिक्त किसी भी ज्ञान के प्रत्यक्ष योग्य नहीं है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भारतीय दर्शन में मन के स्वरूप, परिमाण, कारण, स्थान आदि की भी विशद चर्चा उपलब्ध होती है। हम यहां उसके विस्तार में न जाकर संक्षेप में चार्ट के माध्यम से इन्हें समझने का प्रयत्न करेंगे।

	दर्शन	स्वरूप	परिमाण	कारण	स्थान
1.	न्याय दर्शन	नित्य	परमाणु	कारण रहित	हृदय
2.	वैशेषिक	नित्य	परमाणु	कारण रहित	हृदय
3.	मीमांसक	नित्य	परमाणु	कारण रहित	हृदय
4.	सांख्य	अनित्य	अणु	प्रकृति (अहंकार)	सूक्ष्म शरीर
5.	योग	अनित्य	अणु	प्रकृति (अहंकार)	सूक्ष्म शरीर
6.	वेदान्त	अनित्य	अणु	अविद्या	सूक्ष्म शरीर
7.	बौद्ध	क्षणिक	मध्यम परिमाण	विज्ञान	हृदय
8.	जैन	परिणामी नित्य	मध्यम परिमाण	द्रव्यमन-पुद्गल	हृदय (दिगम्बर)
				भावमन-आत्मा	सम्पूर्ण शरीर (श्वेताम्बर)

नार्थालोकौ ज्ञानस्य निमित्तमव्यतिरेकात् ॥25॥

अर्थ और आलोक ज्ञान के कारण नहीं है, क्योंकि व्यतिरेक घटित नहीं होता।

सभी भारतीय दार्शनिकों ने ज्ञान की उत्पत्ति का विचार करते समय ज्ञान की उत्पत्ति के कारणों पर भी अपने-अपने ढंग से विचार किया है। जैन दर्शन के अनुसार मुख्य प्रत्यक्ष आत्मा के द्वारा होता है और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष इन्द्रिय और मन की सहायता से होता है, किन्तु सौत्रान्तिक बौद्धों के अनुसार केवल इन्द्रिय और मन ही नहीं अपितु अर्थ (पदार्थ) और आलोक (प्रकाश) भी ज्ञान के कारण बनते हैं जैसा कि कहा गया है— **"रूपालोकमनस्कारचक्षुर्भ्यः सम्प्रजायते।**

विज्ञानं मणिसूर्यांशुगोशकृद्भ्यः इवानल॥"

जिस प्रकार मणि, सूर्य, किरण और छाने रूप अनेक कारणों से अग्नि उत्पन्न होती है उसी प्रकार रूप (पदार्थ), आलोक, मन और नेत्र से ज्ञान की उत्पत्ति होती है। अतः ज्ञान के लिए इन्द्रिय और मन के साथ-साथ पदार्थ और प्रकाश का होना भी आवश्यक है।

बौद्धों के अनुसार ज्ञान-उत्पत्ति की एक प्रक्रिया है—जिसे 'तदुत्पत्ति तदाकारता' कहा जाता है। तदुत्पत्ति अर्थात् ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होता है और तदाकार अर्थात् ज्ञान पदार्थ के आकार को ग्रहण करता है। "तदुत्पत्तितदाकारताभ्यामर्थपरिच्छेदः" अर्थात् ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होकर तथा पदार्थ के आकार को धारण करके ही पदार्थ का ज्ञान करता है। अतः पदार्थ और आलोक भी ज्ञानोत्पत्ति में कारण हैं।

यदि पदार्थों को ज्ञानोत्पत्ति का कारण नहीं मानेंगे तो अकारण ही ज्ञान होने का प्रसंग उपस्थित होगा और इससे प्रतिनियत कर्म व्यवस्था नहीं बन सकेगी। अर्थात् नील से नील ज्ञान होता है और पीत से पीत ज्ञान होता है इस प्रकार की प्रतिनियत व्यवस्था तभी बन सकती है जबकि पदार्थों को ज्ञानोत्पत्ति का कारण माना जाये।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने इस सूत्र में सौत्रान्तिक बौद्धों के उपर्युक्त मन्तव्यों की समीक्षा की है। उनके अनुसार बौद्धों का यह कथन कि बिना पदार्थ (विषय) के ज्ञान नहीं होता, ठीक नहीं है क्योंकि हेतु निर्धारण के लिये केवल अन्वय व्याप्ति की ही अपेक्षा नहीं होती अपितु व्यतिरेक व्याप्ति की भी आवश्यकता होती है अर्थात् 'जहां जहां पदार्थ न हो वहां-वहां ज्ञान भी न हो' इस प्रकार की व्यतिरेक व्याप्ति भी बने तभी हम पदार्थों को ज्ञानोत्पत्ति में कारण मान सकते हैं। परन्तु हम देखते हैं कि मृगतृष्णा में मनुष्यों को जल का ज्ञान होता है, जबकि वहां जल रूप कोई विषय नहीं होता। यदि पदार्थ को ज्ञान का कारण मानें तो फिर प्रत्येक ज्ञान के समय पदार्थ को उपस्थित रहना अनिवार्य होगा और ऐसी स्थिति में अतीत एवं भविष्य सम्बन्धी जो ज्ञान होता है वह हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार प्रकाश के बिना भी उल्लू, बिल्ली आदि को अंधकार में भी ज्ञान होता ही है अतः पदार्थ और आलोक को ज्ञान का अनिवार्य कारण मानना उचित नहीं।

यदि यह जिज्ञासा की जाये कि फिर निश्चयात्मक ज्ञान कैसे होता है? इसका समाधान यह है कि जिस समय ज्ञान को अवरूद्ध करने वाले ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है उससे आत्मा जो योग्यता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रकट होती है, उसी से प्रतिनियत पदार्थों का ज्ञान होता है। यदि क्षयोपशमरूप योग्यता को न मानें तो अनेक पदार्थों का सान्निध्य होने पर भी ज्ञान की उत्पत्ति संभव नहीं है। अनन्त पदार्थों का सान्निध्य होने से अनन्त ज्ञान भी हो जायेगा, वहां बिना अपेक्षा के भी ज्ञान हो जाने से कौनसा ज्ञान किस पदार्थ से हुआ यह निर्णय कर पाना कठिन हो जायेगा अतः पदार्थ से ज्ञान होता है यह न मानकर यह मानना चाहिये कि क्षयोपशम रूप योग्यता के प्रकट होने पर ही विशिष्ट अर्थ से विशिष्ट ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

ज्ञानोत्पत्ति में केवल पदार्थ ही नहीं अपितु क्षयोपशम रूप योग्यता कारण है। इसके बिना ज्ञान का प्रकटीकरण और उपयोग संभव नहीं है। जिस प्रकार तेल, बत्ती, अग्नि आदि अनेक कारणों से उत्पन्न होने वाला प्रकाश, मिट्टी, कुम्हार आदि अपने कारणों से उत्पन्न हुये घड़े को प्रकाशित करता है उसी तरह कर्म क्षयोपशम और इन्द्रियादि कारणों से उपयोग अवस्था को प्राप्त हुआ ज्ञान अपने-अपने कारणों से उत्पन्न होने वाले जगत् के पदार्थों को जानता है। जैसे दीपक न तो घट से उत्पन्न होता है और न घट के आकार का होता है फिर भी वह घट का प्रकाशक है, उसी तरह ज्ञान भी घटादि पदार्थों से उत्पन्न न होकर और उनके आकार का न होकर भी उन पदार्थों को जानने वाला होता है। अतः पदार्थ, आलोक आदि ज्ञान के अनन्तर (direct) कारण नहीं बनते। परम्पर (indirect) कारण बन सकते हैं। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष इन्द्रिय और मन के द्वारा होता है तथा वह अवग्रह, ईहा, अवाय एवं धारणा स्वरूप वाला है। इन्द्रिय और मन की चर्चा करने के पश्चात् अब क्रमशः अवग्रह, ईहा आदि को स्पष्ट करते हुए लिख रहे हैं—

अक्षार्थयोगे दर्शनानन्तरमर्थग्रहणमवग्रहः॥26॥

इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध होने पर, दर्शन के पश्चात् होने वाला पदार्थ का ज्ञान अवग्रह कहलाता है।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का पहला भेद है—अवग्रह। अवग्रह का सामान्य अर्थ है—ज्ञान। जब कोई इन्द्रिय विषय ज्ञानेन्द्रिय के उचित सामीप्य को प्राप्त करता है तब प्रथम क्षण में मात्र उसकी सत्ता का अवबोध होता है जिसे जैन पारिभाषिकी में 'दर्शन' कहते हैं। इस दर्शन के पश्चात् ज्ञाता विषय के विशेष धर्मों के ज्ञान में प्रवृत्त होता है। विशेष धर्मों की प्रतिपत्ति का प्रथम चरण अवग्रह है। अवग्रह को पारिभाषित करते हुये तत्त्वार्थभाष्य में बताया गया है कि इन्द्रियों द्वारा अपने विषय के सामान्य धर्मों का अनिश्चयात्मक अव्यक्त ज्ञान अवग्रह है। इसमें विषय के विशेष धर्मों की ओर अभिमुखता रहती है पर ज्ञान नहीं के बराबर होता है। सामान्य धर्मों का ज्ञान भी इतना अव्यक्त होता है कि उसका नाम, जाति आदि के द्वारा कथन नहीं हो सकता अतः कथन योग्य न होने से यह विशेष भी सामान्यवत् ही है।

अवग्रह के प्रकार

नंदीसूत्र में अवग्रह के दो प्रकार उपलब्ध होते हैं—1. व्यंजनावग्रह, 2. अर्थावग्रह।

व्यंजनावग्रह—उपकरण इन्द्रियों द्वारा शब्द आदि में परिणत पुद्गलों का ग्रहण, अव्यक्त ज्ञान व्यंजनावग्रह कहलाता है। इसकी स्थिति अन्तर्मूहूर्त्त की है।

अर्थावग्रह—व्यंजनावग्रह की अपेक्षा कुछ व्यक्त किन्तु जाति, द्रव्य, गुण कल्पना से रहित जो अर्थ का ग्रहण होता है वह अर्थावग्रह है। अर्थावग्रह का कालमान एक समय का माना गया है। प्रमाणमीमांसा सूत्र संख्या 29 में अवग्रह का कालमान अन्तर्मूहूर्त्त बताया गया है वह व्यंजनावग्रह की अपेक्षा से जानना चाहिये। अर्थावग्रह का कालमान तो एक समय ही है।

दर्शन जगत् में अवग्रह प्रमाण है या अप्रमाण, इस विषय पर भी बड़ा विमर्श हुआ। आचार्य सिद्धसेन ने अवग्रह को अनिर्णायी मानते हुए उसकी प्रमाणता को अस्वीकार कर दिया। आचार्य हेमचन्द्र ने अकलंक, वादिदेव आदि आचार्यों के समान अवग्रह को ज्ञानोन्मुख होने से उसे निश्चयात्मक घोषित कर पूज्यपाद की परम्परा का अनुसरण किया।

अवगृहीतविशेषाकाङ्क्षणमीहा ॥27॥

अवग्रह द्वारा गृहीत पदार्थ में विशेष जानने की इच्छा होना ईहा है।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का दूसरा भेद है—ईहा। सामान्यतः ऐसा अनुभव होता है कि जैसे ही आंख के साथ रूप का, शब्द के साथ श्रोत्रेन्द्रिय का या किसी अन्य इन्द्रिय का अपने विषय के साथ सन्निकर्ष होता है तो तत्काल ही ज्ञान हो जाता है पर सूक्ष्म विचार करने पर यह स्पष्ट है कि रूप, रस आदि का इन्द्रियानुभव एक क्षण में घटित होने वाली घटना नहीं है। प्रथम क्षण में तो उसका अव्यक्त सा अवग्रहण

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मात्र होता है। तदुपरान्त अवग्रह के द्वारा गृहीत ज्ञान की स्पष्टता के लिये चेष्टा विशेष की जाती है जिसे ईहा कहते हैं। ईहा शब्द का सामान्य अर्थ है—चेष्टा या इच्छा।

ईहा का अर्थ है—वितर्क। पदार्थ या व्यक्ति के विषय में निर्णयात्मक ज्ञान तक पहुंचने से पूर्व उसके स्वरूप निर्धारण में उत्पन्न संदेहों का निराकरण करना ईहा है। जैसे कोई गहरी नींद में सोया हुआ है अचानक कोई आवाज सुनकर वह जाग जाता है। जागृति के साथ ही उसे यह अनुभव तो हो जाता है कि उसके कान में कुछ ध्वनि पुद्गलों का प्रवेश हुआ है पर वह यह नहीं जान पाता कि वह क्या है? 'शब्द होना चाहिये' इस ज्ञान के लिये उसे एक जिज्ञासात्मक प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है। इस प्रकार 'कुछ है' से 'शब्द होना चाहिये' तक की ज्ञान प्रक्रिया ईहा कहलाती है। समय की सूक्ष्मता के कारण हमें ईहा आदि का स्पष्ट अनुभव न हो, परन्तु पदार्थ ज्ञान के इस क्रम को अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता। आचार्य सिद्धसेनगणी के अनुसार अवग्रह की भांति ईहा भी अनिश्चयात्मक होने से अप्रमाण है। किन्तु आचार्य हेमचन्द्र ने ईहा को प्रमाण माना है क्योंकि आंशिक रूप से इसमें भी निर्णय होता ही है।

आचार्य महाप्रज्ञजी ने ईहा की प्रमाणता का समर्थन करते हुये लिखा है कि जैसे जल की प्रथम बूंद यदि सिकोरे को गीला नहीं करती हो तो अंतिम बूंद भी गीला नहीं कर सकती अतः मात्र निष्पत्ति काल को ही गीला होने का क्षण नहीं मानना चाहिये वैसे ही अवग्रह के प्रथम क्षण में यदि निर्णय नहीं होता तो अवाय का अंतिम क्षण भी निर्णयात्मक नहीं हो सकता। स्थूल भाषा में अवाय में निर्णय होता है किन्तु सूक्ष्म भाषा का प्रयोग करें तो अवग्रह और ईहा भी अपने-अपने ज्ञेय पर्यायों के निर्णायक हैं। ईहा का कालमान अन्तर्मुहूर्त्त है।

ईहितविशेषनिर्णयोऽवायः ॥28॥

ईहा के द्वारा जाने हुए पदार्थ के विशेष स्वरूप के निश्चय को अवाय कहते हैं।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का तृतीय चरण है—अवाय। यह निश्चयात्मक ज्ञान है। इसमें न संशय रहता है न संभावना। 'यह शब्द ही है', 'यह रूप ही है', इस आकार वाला प्रत्यय जैन प्रमाणमीमांसा में अवाय नाम से जाना जाता है।

अवाय मतिज्ञानांश है। आगमयुगीन जैन दर्शन में मति एवं श्रुतज्ञान को परोक्ष प्रमाण माना गया। अतः मतिज्ञान के सभी उत्तर भेद—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा सम्यक्त्व परिगृहीत अवस्था में परोक्ष प्रमाण ही माने गये। दार्शनिक युग में प्रमाण का नियामक तत्त्व निर्णायकत्व को माना गया अतः अनिश्चयात्मक होने के कारण अवग्रह और ईहा की प्रमाणता पर प्रश्नचिह्न लग गया। परन्तु अवाय की प्रमाणता को स्वीकार करते हुए उस समय भी यही कहा गया—'मतिज्ञानस्यावग्रहादिभेदस्य मध्ये योऽपायोंऽशस्तन्मतिज्ञानं परोक्षप्रमाणम्' प्रमाण व्यवस्था युग में इन्द्रिय प्रत्यक्ष को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना गया। इस अपेक्षा से अवाय भी सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष की सीमा में आ गया। अवाय का कालमान भी अवग्रह, ईहा की भांति अन्तर्मुहूर्त्त का है।

स्मृतिहेतुर्धारणा ॥29॥

जो ज्ञान स्मृति का कारण होता है, वह धारणा है।

धारणा इन्द्रिय प्रत्यक्ष की प्रक्रिया का चतुर्थ एवं अंतिम अंग है। अवाय द्वारा निर्णीत अर्थ को इस प्रकार धारण करना कि वह कालान्तर में भी याद किया जा सके, धारणा है। हमारा स्मृति कोष उतना ही समृद्ध बनता है जितना हमारा धारणा बल पुष्ट होता है। धारणा समनस्क प्राणियों में पाई जाती है क्योंकि सामान्यतः मनः पर्याप्ति के अभाव में मनरहित प्राणियों का इन्द्रिय प्रत्यक्ष अवाय तक आते-आते अवरुद्ध हो जाता है।

अनेक आचार्यों ने धारणा को अनेक तरह से परिभाषित किया है। उन सब परिभाषाओं के आधार पर धारणा के निम्नांकित लक्षण प्रकट होते हैं—

1. धारणा इन्द्रिय प्रत्यक्ष का अंतिम चरण है।
2. इसमें वस्तुतः कोई नया ज्ञान नहीं हाता, बल्कि ज्ञात या निर्णीत अंश का अवधारण किया जाता है।
3. धारणा में इन्द्रियों की भूमिका गौण और मस्तिष्क की भूमिका प्रमुख होती है।

धारणा का कालमान संख्येय, असंख्येय काल माना गया है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष के ये चार चरण इस बात के स्पष्टतः सूचक हैं कि ज्ञान एक ऐसी प्रणाली है जिसमें विभिन्न प्रकार के निर्णयों का संयोजन, समायोजन होता है। परिणामस्वरूप जब कोई नया ज्ञानांश ग्रहण करना होता है तो उसकी प्रक्रिया में एक विकार पैदा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

होता है, चैतसिक जगत् में एक हलचल होती है और पूर्व संगृहीत ज्ञान के प्रकाश में उसकी पहचान सत्-असत् धर्मों का परीक्षण प्रारम्भ होता है। परीक्षण के बाद हुआ निर्णय पुन: उस कोष में संगृहीत हो जाता है इस प्रकार इस कोष का आगामी ज्ञान की विकास यात्रा में तथा स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि उत्तरवर्ती ज्ञानांशों में उभयमुखी उपयोग है।

जैन दार्शनिकों ने मानव मस्तिष्क के स्वरूप एवं उसकी क्षमताओं का सूक्ष्मता एवं गहनता से विचार किया है। आधुनिक विज्ञान और मनोविज्ञान के साथ उसका तुलनात्मक और विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जाये तो स्मृति विकास के क्षेत्र में नवीन संभावनाओं का आविर्भाव हो सकता है।

प्रत्यक्ष प्रमाण की उपयोगिता

प्रत्यक्ष प्रमाण का महत्त्व अन्य प्रमाणों की तुलना में ही भली-भांति समझा जा सकता है क्योंकि अन्य प्रमाण अपने अस्तित्व के लिये कई दृष्टियों से प्रत्यक्ष पर आश्रित हैं, जबकि प्रत्यक्ष किसी अन्य प्रमाण पर निर्भर नहीं है। अन्य प्रमाणों की सत्यता के सम्बन्ध में संदेह उत्पन्न होने पर उसका निवारण भी प्रत्यक्ष से ही होता है। उसके अतिरिक्त कई अवसरों पर लोगों को जो भ्रम या संदेह हुआ करता है उसके निवारण का एकमात्र उपाय भी प्रत्यक्ष ही है।

मानव की समस्त ज्ञान प्रक्रियाएं किसी-न-किसी अंश में प्रत्यक्ष पर ही आधारित हैं। दार्शनिक जगत् में प्रत्यक्ष ही एकमात्र ऐसा प्रमाण है, जिसे सभी ने एकमत से स्वीकार किया है। विचार की प्रारम्भिक बेला में प्रत्यक्ष मात्र का ही अस्तित्व स्वीकार किया जाता था। अक्षपाद ने पदार्थों के तत्त्वज्ञान से नि:श्रेयस प्राप्ति का उल्लेख किया और तत्त्वों में प्रमाण का सर्वप्रथम उल्लेख किया है। न्यायशास्त्र में प्रमाण सम्बन्धी चर्चा भी प्रत्यक्ष के विश्लेषण से ही आरम्भ होती है।

13.6 सारांश

अत: प्रमाणमीमांसा का आरम्भ निसंदेह प्रत्यक्ष के विवेचन से ही प्रारम्भ होता है। साथ ही यह कहना भी अनुचित नहीं है कि अन्य प्रमाणों के प्रामाण्य की पुष्टि हेतु भी प्रत्यक्ष की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए कहा जा सकता है कि प्रमाणमीमांसा का आरम्भ बिन्दु एवं अंतिम बिन्दु प्रत्यक्ष ही है।

प्रश्नावली-

निबंधात्मक प्रश्न

1. मुख्य प्रत्यक्ष को व्याख्यायित करते हुए सर्वज्ञता की सिद्धि करें?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. 'भावाभावात्मकत्वात् वस्तुनो निर्विषयोऽभाव:' सूत्र की व्याख्या करें?
2. अवधिज्ञान और मन:पर्यवज्ञान में क्या अन्तर है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. जैन दर्शन के अनुसार प्रमाण के .... भेद हैं।
2. अवधिज्ञान .... पदार्थों को जानता है।
3. मन:पर्यवज्ञान .... तक सीमित है।
4. जैनदर्शन के अनुसार मोक्ष के लिए .... अनिवार्य है।
5. चार्वाक एकमात्र .... को प्रमाण मानता है।
6. परोक्ष प्रमाण की सिद्धि के मुख्य हेतु कौन से हैं?
7. सर्वज्ञ के अस्ति पक्षकार कौन से दर्शन है?
8. अवधिज्ञान के मुख्य भेद कौन से हैं?
9. विपुलमति किसका भेद है?
10. भव प्रत्ययिक अवधिज्ञान किसे होता है?

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. प्रमाण मीमांसा, पं. सुखलाल संघवी, सरस्वती पुस्तक भंडार, अहमदाबाद
2. नंदीसूत्र का समीक्षात्मक अध्ययन, साध्वी श्रुतयशा, अप्रकाशित

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संवर्ग–5 : जैन परोक्ष प्रमाण

इकाई–14 : परोक्ष प्रमाण (स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, आगम)

संरचना

14.0 प्रस्तावना
14.1 उद्देश्य
14.2 परोक्ष प्रमाण
14.3 स्मृति प्रमाण
14.4 प्रत्यभिज्ञा
14.5 तर्क
14.6 आगम प्रमाण
14.7 सारांश
14.8 अभ्यास प्रश्नावली

14.0 प्रस्तावना

प्रमेय का ज्ञान प्रमाण से होता है। प्रमेय का अस्तित्व स्वभाव सिद्ध है, किन्तु उसके अस्तित्व का बोध प्रमाण के द्वारा ही संभव है। 'मानाधीना हि मेयसिद्धि:' यह न्यायशास्त्र का सार्वभौम नियम है। जब तक प्रमाण का निर्णय नहीं होता तब तक प्रमेय की भी स्थापना नहीं की जा सकती। इसलिए दर्शन जगत् में सर्वप्रथम प्रमाण की चर्चा की जाती है।

14.1 उद्देश्य– इसके अध्ययन से परोक्ष प्रमाण की जानकारी हो सकेगी।

14.2 परोक्ष प्रमाण–आप पढ़ चुके हैं कि जैनदर्शन प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो प्रमाणों को स्वीकार करता है। प्रत्यक्ष को चार्वाक सहित सभी भारतीय चिन्तकों ने प्रमाणरूप में मान्य किया है। यद्यपि चार्वाक मात्र इन्द्रिय-प्रत्यक्ष को ही स्वीकार करता है, जबकि अन्य दार्शनिक अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष को भी स्वीकृति देते हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण की चर्चा आप पिछले पाठों में पढ़ ही चुके हैं। प्रस्तुत पाठ में हम प्रमाण के दूसरे भेद परोक्ष की परिभाषा एवं उसके भेदों की चर्चा करेंगे। परोक्ष प्रमाण को परिभाषित करते हुये आचार्य हेमचन्द्र लिखते हैं—

अविशद: परोक्षम्॥1॥

अविशद् ज्ञान परोक्ष प्रमाण है।

प्रमाण के क्षेत्र में 'प्रत्यक्ष' सर्वदर्शन सम्मत शब्द है, किन्तु परोक्ष शब्द का प्रयोग मात्र जैन तार्किकों ने किया है। प्रत्यक्ष प्रमाण विशद होता है। प्रत्यक्ष प्रमाण की विशदता का तात्पर्य है इदन्तया प्रतिभास एवं प्रमाणांतर की अनपेक्षा। इसके विपरीत परोक्ष प्रमाण में इदन्तया प्रतिभास नहीं होता तथा अन्य प्रमाण की भी आवश्यकता होती है। This इदन्तया है, That तद्तया प्रतिभास है।

आगमिक परम्परा के अनुसार इन्द्रिय एवं मन की सहायता से आत्मा को जो ज्ञान होता है, वह परोक्ष है अत: आगम परम्परा में संव्यवहार प्रत्यक्ष वस्तुत: परोक्ष ही है। जैसाकि आप पिछले पाठों में पढ़ चुके हैं कि दर्शन जगत् में इन्द्रिय से होने वाले ज्ञान को जब सभी दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष स्वीकार किया तब जैन दार्शनिकों ने अपनी सैद्धान्तिक अवधारणा को सुरक्षित रखते हुए भी इन्द्रिय एवं मानस ज्ञान को संव्यवहार प्रत्यक्ष कहकर प्रत्यक्ष में परिगणित कर सबके साथ समन्वय स्थापित किया। किन्तु आगम परम्परा के अनुसार इन्द्रियजन्य और मनोजन्य ज्ञान, जिन्हें इतर दर्शनों में इन्द्रिय प्रत्यक्ष और मानस प्रत्यक्ष कहा गया है वस्तुत: परोक्ष ही हैं। स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और आगम ये सभी ज्ञान भी परसापेक्ष होने से परोक्ष में परिगणित हैं। इस प्रकार परोक्ष का क्षेत्र बहुत विस्तृत और व्यापक है। परोक्ष प्रमाण के भेदों का उल्लेख करते हुये आचार्य हेमचन्द्र लिखते हैं—स्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानुमानागमास्तद्विधय:॥2॥

स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, ऊह (तर्क) अनुमान और आगम, यह परोक्ष प्रमाण के पांच भेद हैं।

जैनदर्शन के अनुसार परोक्ष प्रमाण के मुख्यतया पांच प्रकार माने गये हैं—1. स्मृति, 2. प्रत्यभिज्ञान, 3. तर्क, 4. अनुमान और 5. आगम। स्मृति धारणामूलक, प्रत्यभिज्ञान स्मृति एवं अनुभवमूलक, तर्क

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रत्याभिज्ञामूलक तथा अनुमान तर्क निर्णीत साधनमूलक होते हैं, इसलिए ये परोक्ष हैं। आगम वचनमूलक होता है, इसलिए परोक्ष है।

स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क के प्रामाण्य के सम्बन्ध में दार्शनिकों में परस्पर मतैक्य नहीं है, किन्तु अनुमान को चार्वाक इतर सभी दार्शनिकों ने प्रमाण स्वीकार किया है। परोक्ष प्रमाण के इन पांच भेदों में से चार भेदों की चर्चा हम इस पाठ में करेंगे और अनुमान प्रमाण जो कि चार्वाक इतर सभी दार्शनिकों ने स्वीकार किया है उसकी चर्चा एक स्वतंत्र पाठ में करेंगे।

14.3 स्मृति प्रमाण–प्रस्तुत सूत्र में परोक्ष प्रमाण के भेदों का उल्लेख करने के पश्चात् सर्वप्रथम उक्त भेदों में से स्मृति का लक्षण करते हैं—

वासनोद्बोधहेतुका तदित्याकारा स्मृतिः॥3॥

वासना के जागरण के निमित्त से होने वाली 'वह' इस आकार वाली प्रतीति स्मृति कहलाती है।

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा—यह प्रत्यक्ष का क्रम विभाग है। इसका उत्तरवर्ती स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि क्रम विभाग परोक्ष का है। यह विभाजन वैशद्य और अवैशद्य के आधार पर है, किन्तु कार्य-कारणभाव के आधार पर ये सब एक ही सूत्र से आबद्ध हैं। अवग्रह कारण है, ईहा कार्य है। ईहा कारण है, अवाय कार्य है। अवाय कारण है, धारणा कार्य है। धारणा कारण है, स्मृति कार्य है। जैसी धारणा होती है, वैसे ही हमारे मस्तिष्कीय प्रकोष्ठों में संस्कार निर्मित हो जाते हैं और वही संस्कार निमित्त पाकर जब जागृत होते हैं तब उस वस्तु की स्मृति होती है।

स्मृति का दैनन्दिन जीवन में उपयोगितापूर्ण स्थान है। इसकी उपयोगिता प्राचीन और अर्वाचीन सभी विचारधाराओं में एकमत से मान्य रही है। दर्शन और मनोविज्ञान में इसे परिभाषित कर स्वरूप एवं सीमा स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है।

सभी तार्किक विद्वान् स्मृति की परिभाषा (लक्षण) किसी एक आधार पर नहीं करते। कणाद ने आभ्यन्तर कारण संस्कार के आधार पर ही स्मरण का लक्षण किया है—'आत्मनः संयोगविशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः' पतञ्जलि ने विषयस्वरूप के निर्देश द्वारा ही स्मृति को लक्षित किया है—'अनुभूतविषयाऽसम्प्रमोषः स्मृतिः' कणाद के अनुगामी प्रशस्तपाद ने अपने भाष्य में कारण, विषय और कार्य इन तीन के द्वारा स्मृति का निरूपण किया है।

जैन परम्परा में स्मरण और उसके कारण पर तार्किक शैली से विचार करने का प्रारम्भ आचार्य पूज्यपाद और जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण द्वारा हुआ। आचार्य विद्यानन्द ने पतञ्जलि की तरह विषयनिर्देश द्वारा ही स्मृति का लक्षण किया किन्तु उसमें उन्होंने आकार का निर्देश बताया। माणिक्यनंदी ने कणाद की तरह संस्कारात्मक कारण के द्वारा ही स्मृति का लक्षण किया फिर भी उसमें आकारनिर्देश बढ़ाया। वादीदेव ने विद्यानन्द और माणिक्यनंदी इन दोनों का अनुसरण करते हुये स्मृतिलक्षण में कारण, विषय और आकार तीनों का निर्देश किया। प्रस्तुत सूत्र में आचार्य हेमचन्द्र ने माणिक्यनंदी का ही अनुसरण कर लक्षण में स्मृति के आकार और कारण को ही स्थान दिया। स्मृति का कारण संस्कारों का जागरण है और उसका आकार तत् (वह) है।

लक्षण के पश्चात् स्मृति प्रमाण है या नहीं इस विषय पर विचार करना आवश्यक है। स्मृति को प्रमाण मानने के बारे में दो परम्पराएं हैं—जैन और जैनेतर। जैन परम्परा में स्मृति प्रमाणरूप से स्वीकृत है तथा उसका परोक्ष प्रमाण के अन्तर्गत विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। जैनेतर परम्परा में वैदिक, बौद्ध आदि सभी दर्शन स्मृति को प्रमाण नहीं मानते। स्मृति को प्रमाण न मानने वाली ये विचारधारायें भी इसे अप्रमाण या मिथ्याज्ञान नहीं कहती पर वे प्रमाण शब्द से केवल उसका व्यवहार नहीं करते। स्मृति के प्रामाण्य-अप्रामाण्य की चर्चा मनुस्मृति आदि ग्रन्थों के संदर्भ में शुरू होती है और कालान्तर में यह चर्चा स्मृति (Memory) प्रमाण या अप्रमाण के रूप में दर्शनशास्त्रों में विकसित होती है। जैनेतर दर्शनों में स्मृति को प्रमाण न मानने के भिन्न-भिन्न हेतु दिये गये हैं—

o वैदिक परम्परा में एकमात्र वेदों का ही प्रामाण्य माना गया है और वेदों को अपौरुषेय माना गया है। उनके अनुसार मनुस्मृति आदि वहीं तक प्रमाण है जहां तक वे श्रुतिमूलक हैं अतः स्मृति का प्रामाण्य श्रुतिप्रामाण्य तंत्र है, स्वतंत्र नहीं। यदि वे स्मृति आदि के स्वतंत्र प्रमाण को स्वीकार करते तो उनके

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वेदों के प्रामाण्य पर एक प्रश्नचिह्न लगता अतः उन्होंने स्मृति के स्वतंत्र प्रामाण्य का ही निषेध कर दिया।

0 कुमारिल आदि मीमांसक के अनुसार स्मृति प्रमाण नहीं है क्योंकि वह गृहीतग्राही ज्ञान है। ज्ञात अर्थ को ही पुनः जानने के कारण अपूर्व अर्थ का प्रकाशक नहीं है अतः स्मृति प्रमाण नहीं है।

0 बौद्धों का भी यही तर्क था कि स्मृति पूर्वानुभव परतंत्र है, इसलिए वह प्रमाण नहीं हो सकती। प्रमाण वह ज्ञान होता है जो अपूर्व-अर्थ को जानता है। स्मृति का विषय है—पूर्वानुभव का ज्ञान। वह प्रमाण कैसे हो सकती है।

0 नैयायिक मनीषी जयन्त ने स्मृति के प्रामाण्य का इसलिये निरसन किया कि वह अर्थ से उत्पन्न नहीं होती जबकि ज्ञान को अर्थज्-पदार्थ से उत्पन्न होना चाहिये। अतः स्मृति गृहीतग्राही होने के कारण या अपूर्व अर्थ का प्रकाशक न होने के कारण अप्रमाण नहीं है अपितु अर्थोत्पन्न न होने के कारण अप्रमाण है। जैसाकि न्यायमंजरी में लिखा है—

'न स्मृतेरप्रमाणत्वं गृहीतग्राहिताकृतम्।
अपित्वनर्थजन्यत्वं तदप्रामाण्यकारणम्॥'

अर्थात् गृहीतग्राही होने के कारण स्मृति अप्रमाण है, ऐसी बात नहीं है अपितु पदार्थ से उत्पन्न न होने के कारण वह अप्रमाण है।

0 अक्षपाद के ही अनुगामी वाचस्पति मिश्र ने स्मृति को प्रमाण न मानने के लिये एक अन्य युक्ति दी है। उनके अनुसार लोकव्यवहार स्मृति को प्रमाण मानने के पक्ष में नहीं है अतः उसे प्रमाण कहना उचित नहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनेतर दार्शनिकों ने स्मृति को प्रमाण न मानने के लिये भिन्न-भिन्न युक्तियों का प्रयोग किया यथा—गृहीतग्राही, अनर्थजन्य, लोकव्यवहार का अभाव इत्यादि।

जैन तार्किक स्मृति को प्रमाण मानते हैं और परोक्ष प्रमाण के भेदरूप से उसकी व्याख्या करते हैं तथा स्मृति को प्रमाण न मानने वाले दार्शनिकों द्वारा दी गई उपर्युक्त युक्तियों का निराकरण भी करते हैं। उनके अनुसार जिस प्रकार संवादी (यथार्थ) होने से प्रत्यक्ष आदि प्रमाण हैं वैसे ही स्मृति भी संवादी होने से प्रमाण है। स्मृति के प्रामाण्य की कसौटी व्यवहार-प्रवर्तन है। पानी पीया, प्यास बुझ गई। मार्ग से चला, लक्ष्य तक पहुंच गया। पानी से प्यास बुझती है इस पूर्वानुभव की स्मृति के आधार पर ही मनुष्य पानी पीता है। अमुक मार्ग नगर को जाता है—इस पूर्वबोध की स्मृति के आधार पर ही मनुष्य निश्चित मार्ग पर चलता है। व्यवहार की सिद्धि संवादिता सिद्ध करती है तब फिर स्मृति का प्रामाण्य कैसे निरस्त किया जा सकता है, भले ही फिर वह पूर्वानुभव-परतंत्र ज्ञान हो या गृहीतग्राही ज्ञान हो।

स्मृति को प्रमाण न मानने वाले जैनेतर तार्किकों ने जो युक्तियां दी या आक्षेप लगाये, जैन तार्किकों ने उक्त आक्षेपों की समीक्षा की।

वैदिक परम्परा एकमात्र वेदों को ही प्रमाण मानती है और वेदों को अपौरुषेय मानती है। जैनों के अनुसार वेदों की अपौरुषेयता ही प्रमाण सिद्ध नहीं है क्योंकि वेद शब्द हैं और शब्द पुरुष के कण्ठ, तालु आदि अष्ट स्थानों से उच्चारित होते हैं। अतः वेदों की अपौरुषेयता ही संदिग्ध होने से उसमें कथित बातें कैसे असंदिग्ध हो सकती हैं।

मीमांसक, बौद्ध आदि के अनुसार स्मृति गृहीतग्राही होने के कारण अपूर्व अर्थ का प्रकाशक नहीं है अतः अप्रमाण है। इस पर जैनों का कहना है कि यदि गृहीत वस्तु को ग्रहण करने के कारण स्मृति को अप्रमाण कहते हैं तब तो फिर यदि किसी ने पहले उठते हुये धुयें को देखकर अग्नि को अनुमान से जाना और फिर उस स्थान पर जाकर अग्नि का प्रत्यक्ष किया तो अनुमान से जानी हुई अग्नि को पीछे से प्रत्यक्ष से जानने पर वह प्रत्यक्ष भी अप्रमाण कहा जायेगा, क्योंकि वह भी अनुमान द्वारा गृहीत वस्तु को ही ग्रहण करता है। यदि ऐसा कहा जाये कि अनुमान से जानी हुई अग्नि को प्रत्यक्ष से जानने पर उसमें कुछ अपूर्वता रहती है अतः प्रत्यक्ष प्रमाण है तो फिर स्मृति क्यों अप्रमाण है, क्योंकि स्मृति भी जो वस्तु पहले वर्तमान रूप से जानी गयी थी उसे ही अतीत रूप से जानता है अतः स्मृति में भी कुछ अपूर्वता है ही। अतः

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

गृहीतग्राही ज्ञान भी अप्रमाण नहीं है। इसकी चर्चा प्रमाण स्वरूप नामक पाठ में विस्तार से आप पढ़ ही चुके हैं।

स्मृति अर्थोत्पन्न नहीं है, इसलिये यदि उसे अप्रमाण माना जाये तो अनुमान के प्रामाण्य में भी कठिनाई उपस्थित होगी। पुष्य नक्षत्र का उदय होगा, क्योंकि इस समय पुनर्वसु नक्षत्र उदित है। पुष्य का उदय होगा, वर्तमान में वह उदित नहीं है फिर पूर्वचर हेतु कैसे बनेगा? उत्तरचर हेतु भी कैसे बन सकता है? नदी में बाढ़ देखकर वर्षा का अनुमान (नैयायिक सम्मत शेषवत् अनुमान) कैसे होगा? इसलिये स्मृतिज्ञान अर्थोत्पन्न नहीं है—यह तर्क महत्त्वपूर्ण नहीं है। स्मृतिज्ञान प्रमाण है क्योंकि इसका अपना स्वरूप है, कारण, विषय तथा प्रयोजन भी है। पूर्वज्ञान का प्रबल संस्कार स्मृति का कारण है। 'वह देवदत्त' यह स्मृति का स्वरूप है और स्मृति का विषय अनुभूत पदार्थ है। जबकि प्रत्यक्षादि ज्ञान चक्षु आदि कारणों से उत्पन्न होते हैं, 'यह देवदत्त' आदि प्रत्यक्षादि का स्वरूप है तथा वर्तमान पदार्थ प्रत्यक्ष का विषय है। इस प्रकार कारणभेद, स्वरूपभेद, विषयभेद से स्मृति प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भिन्न प्रमाण है।

स्मृति से कोई प्रयोजन नहीं सधता इसलिये वह अप्रमाण है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, स्मृति का अपना प्रयोजन भी है क्योंकि अनुमान प्रमाण की प्रवृत्ति स्मृति प्रमाण पर ही निर्भर है। जो मनुष्य पहले साध्य और साधन का सम्बन्ध निर्णीत कर लेता है कि जहां-जहां धूम होता है वहां-वहां अग्नि होती है। फिर वह मनुष्य जब कहीं धूम देखता है तो तत्काल उसे धूम और अग्नि के पूर्व निर्णीत सम्बन्ध का स्मरण होता है और उसके बाद वह अनुमान से अग्नि को जान लेता है। अतः अनुमान प्रमाण की प्रवृत्ति में कारण होने से स्मृति के प्रामाण्य का निषेध कैसे किया जा सकता है? यदि स्मृति को प्रमाण न माने तो अनुमान प्रमाण ही नहीं बन सकता अतः स्मृति को एक स्वतंत्र प्रमाण मानना चाहिये। क्योंकि प्रमाण का आधार अपूर्वता या अगृहीतग्राहिता या अर्थजन्यता नहीं अपितु प्रमाण की कसौटी अविसंवादिता है और वह अविसंवादिता स्मृति में पायी जाती है अतः वह प्रमाण है।

14.4 प्रत्यभिज्ञा–अब परोक्ष प्रमाण के दूसरे भेद प्रत्यभिज्ञान का लक्षण करते हैं—

दर्शनस्मरणसम्भवं तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणम् तत्प्रतियोगीत्यादिसंकलनं प्रत्यभिज्ञानम्॥4॥

प्रत्यक्ष और स्मरण से उत्पन्न होने वाला 'यह वही है, यह उसके सदृश है, यह उससे विलक्षण है, यह उससे थोड़ा, बहुत, निकट या दूर है' इत्यादि जोड़रूप ज्ञान प्रत्यभिज्ञान है।

स्मृति का हेतु केवल धारणा है। धारणा जितनी गहरी होती है स्मृति उतनी ही अच्छी रहती है। प्रत्यभिज्ञान के दो हेतु हैं—प्रत्यक्ष और स्मरण। इसलिये यह संकलनात्मक ज्ञान है। स्मृतिज्ञान का आकार 'वह मनुष्य' है और प्रत्यभिज्ञा का आकार 'यह वही मनुष्य है'। 'यह वही मनुष्य है' इस वाक्य में 'यह मनुष्य' इन्द्रिय प्रत्यक्ष है और 'वही' स्मृति में है। इन दोनों का योग होने पर जो ज्ञान होता है वह प्रत्यभिज्ञान है।

प्रत्यभिज्ञान में दो अर्थों का संकलन होता है। उसके तीन रूप बनते हैं—

1. प्रत्यक्ष और स्मृति का संकलन

(क) यह वही निर्ग्रन्थ है। (ख) यह उसके सदृश है।

(ग) यह उससे विलक्षण है। (घ) यह उससे छोटा है।

पहले आकार में—निर्ग्रन्थ की वर्तमान अवस्था का अतीत की अवस्था के साथ संकलन है, इसलिये यह 'एकत्व प्रत्यभिज्ञान' है।

दूसरे आकार में—दृष्ट वस्तु की पूर्व-दृष्ट वस्तु से तुलना है। इसलिये यह 'सादृश्य प्रत्यभिज्ञान' है।

तीसरे आकार में—दृष्ट वस्तु की पूर्व दृष्ट वस्तु से विलक्षणता है, इसलिए यह 'वैसदृश्य प्रत्यभिज्ञान' है।

चौथे आकार में—दृष्ट वस्तु पूर्व-दृष्ट वस्तु की प्रतियोगी है, इसलिये यह 'प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञान' है।

2. दो प्रत्यक्षों का संकलन

(क) यह इसके सदृश है। (ख) यह इससे विलक्षण है। (ग) यह इससे छोटा है।

इसमें दोनों प्रत्यक्ष हैं।

3. दो स्मृतियों का संकलन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(क) वह उसके सदृश है। (ख) वह उससे विलक्षण है। (ग) वह उससे छोटा है।
इसमें दोनों परोक्ष हैं।

शाकाहारी पशु गाय की भांति पानी पीते हैं। मांसाहारी पशु गाय की भांति पानी नहीं पीते। वे जीभ से पानी का लेहन करते हैं। इनमें प्रथम सादृश्य-प्रत्यभिज्ञा और दूसरा वैसदृश्य-प्रत्यभिज्ञा है। 'यह उससे छोटा है,' 'यह उससे ऊंचा है,' 'यह उससे नीचा है'—यह सापेक्ष प्रत्यभिज्ञा है।

संज्ञा और संज्ञी के सम्बन्ध का ज्ञान भी प्रत्यभिज्ञा से होता है। जैसे—किसी ने बताया कि जो दूध और पानी को अलग करे वह हंस होता है। जिसके तीन-तीन पत्ते होते हैं वह पलाश होता है। श्रोता न हंस को जानता है और न पलाश को। उसने वक्ता से सुना और उसके मन में एक संस्कार निर्मित हो गया। एक दिन उसने देखा कि पक्षी की चोंच दूध की प्याली में पड़ी और दूध फट गया। प्रत्यक्ष और स्मृति दोनों का योग हुआ और उसे संज्ञा और संज्ञी (हंस शब्द और हंस शब्द वाच्य पक्षी) के सम्बन्ध का ज्ञान हो गया। इसी प्रकार उसने जंगल में तीन-तीन पत्ते वाले पेड़ को देखा। प्रत्यक्ष और स्मृति—दोनों का योग हुआ और उसे संज्ञा-संज्ञी (पलाश शब्द और पलाश शब्दवाच्य पेड़) के सम्बन्ध का ज्ञान हो गया। दो आदि संख्या का बोध भी प्रत्यभिज्ञान से होता है। स्मृति और प्रत्यक्ष के निमित्त से होने वाले जितने भी संकलनात्मक मानस-विकल्प हैं। ये सब प्रत्यभिज्ञान के ही प्रकार हैं।

प्रत्यभिज्ञान के विषय में दो बातें ऐसी हैं जिनमें दार्शनिकों का मतभेद रहा है—पहली प्रामाण्य की और दूसरी स्वरूप की। बौद्ध परम्परा प्रत्यभिज्ञा को प्रमाण नहीं मानती, क्योंकि वह क्षणिकवादी है अतः प्रत्यभिज्ञा का विषय जो स्मृति और प्रत्यक्ष के बीच रहा एकत्व है उसे वास्तविक नहीं मानती। बौद्धों के अतिरिक्त जैन, वैदिक दोनों परम्परा के सभी दार्शनिक प्रत्यभिज्ञा को प्रमाण मानते हैं। वे प्रत्यभिज्ञा के प्रामाण्य के आधार पर ही बौद्ध सम्मत क्षणभंग का निरास और नित्यत्व का समर्थन करते हैं। जैन परम्परा न्याय, वैशेषिक आदि वैदिक दर्शनों की तरह एकान्त नित्यत्व नहीं मानती तथापि वह विभिन्न पूर्वापर अवस्थाओं में ध्रुवत्व को वास्तविक रूप से मानती है अतः वह भी प्रत्यभिज्ञा के प्रामाण्य को स्वीकार करते हैं।

प्रत्यभिज्ञा के स्वरूप के सम्बन्ध में मुख्यतया तीन पक्ष हैं—बौद्ध, वैदिक और जैन।

क्षणिकवादी बौद्धों के अनुसार प्रत्यभिज्ञा नामक कोई एक ज्ञान नहीं है, क्योंकि जब हम यह कहते हैं कि 'यह वही मनुष्य है' तब इसमें 'वही' यह ज्ञान स्मरणरूप होने से अस्पष्ट है और 'यह' ज्ञान प्रत्यक्ष रूप से स्पष्ट है अतः अस्पष्ट और स्पष्टरूप दो विरोधी धर्मों का आधार एक ज्ञान नहीं हो सकता इसलिये यह प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो ज्ञानों का समुच्चय है, एक स्वतंत्र ज्ञान नहीं है।

जैन तार्किक इस तर्क को स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं कि प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान प्रत्यभिज्ञा के कारण हैं। उन दोनों कारणों से एक स्वतंत्र ज्ञान उत्पन्न होता है। उसी के द्वारा हम 'यह' और 'वह' के बीच में रहे हुये एकत्व को जानते हैं। वह दो अवस्थाओं के बीच रहा हुआ एकत्व प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये एकत्व-बोध को परोक्ष कोटि में प्रत्यभिज्ञान के रूप में स्थान दिया गया है। बौद्ध मतानुसार एक ही ज्ञान निर्विकल्प और सविकल्प—दो विरोधी धर्मों का आधार हो सकता है तब प्रत्यभिज्ञान दो विरोधी धर्मों का आधार क्यों नहीं हो सकता।

नैयायिक प्रत्यभिज्ञा को प्रत्यक्षज्ञान मानते हैं। उनके अनुसार साधारण प्रत्यक्ष केवल वर्तमानग्राही होता है और प्रत्यभिज्ञा में वर्तमान संवेदन अतीत की स्मृति से प्रभावित होता है। अतीतावस्थावच्छिन्न वर्तमान को मुख्यता देने के कारण इसे वे वर्तमान की कोटि में सम्मिलित करते हैं।

जैन तर्क के अनुसार प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। क्योंकि प्रत्यभिज्ञान में हमें प्रत्यक्ष व्यक्ति का ज्ञान करना नहीं होता, अपितु प्रत्यक्ष या परोक्ष—इन दोनों कालों में विद्यमान व्यक्ति के एकत्व को जानना होता है। जैसे—किसी व्यक्ति ने आगरा में ताजमहल को देखा और पांच वर्ष बाद पुनः उसने ताजमहल देखा तो वह कहता है यह वही ताजमहल है। उसके इस कथन में पांच वर्ष पूर्व देखा हुआ ताजमहल स्मृति में है और वर्तमान में ताजमहल को देख रहा है तब यह कह रहा है कि यह वही ताजमहल है। प्रत्यक्ष का कार्य वर्तमान अंश को जान लेने के बाद सम्पन्न हो जाता है, इसलिये प्रत्यक्ष के द्वारा दो अवस्थाओं के बीच रहे एकत्व को नहीं जाना जा सकता। एकत्व का ज्ञान प्रत्यभिज्ञान से ही होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

न्याय दर्शन में उपमान को भी एक स्वतंत्र प्रमाण माना गया है। उपमान के विषय में न्यायशास्त्रीय धारणा एक नहीं है। बौद्ध उपमान को प्रत्यक्ष से भिन्न नहीं मानते। वैशेषिक उसे अनुमान के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं। जैन परम्परा में वह प्रत्यभिज्ञा का एक प्रकार है। वे इसका समर्थन इस आधार पर करते हैं—'गवय गाय के समान होता है'—इस आकार में गाय और गवय का ज्ञान मुख्य नहीं है, किन्तु उनमें रहा हुआ सादृश्य-बोध मुख्य है। इसलिये यह ज्ञान प्रत्यभिज्ञा से भिन्न नहीं है।

जैनदर्शन के अनुसार उपमान को स्वतंत्र प्रमाण मानने में कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु इसका प्रत्यभिज्ञा में समावेश हो सकता है और प्रमाणों की संख्या अनंत न हो, इस दृष्टि से प्रमाण-व्यवस्था युग में इसका प्रत्यभिज्ञा में समावेश किया गया।

14.5 तर्क- अब क्रमशः परोक्ष के तीसरे भेद ऊह (तर्क) का लक्षण करते हैं—

उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानम् ऊहः॥5॥

उपलम्भ (अन्वय) और अनुपलम्भ (व्यतिरेक) के निमित्त से होने वाला व्याप्तिज्ञान ऊह (तर्क) है।

व्याप्तिर्व्यापकस्य व्याप्ये सति भाव एव व्याप्यस्य वा तत्रैव भावः॥6॥

व्यापक का व्याप्य के होने पर होना ही अथवा व्याप्य का व्यापक के होने पर ही होना व्याप्ति है।

तर्क भारतीय दर्शन का सुपरिचित शब्द है। चिन्तन के क्षेत्र में इसका महत्त्व बहुत पहले से रहा है। न्यायशास्त्र में इसका विशेष अर्थ है। अनुमान के लिये व्याप्ति की अनिवार्यता है और व्याप्ति के लिये तर्क की अनिवार्यता है, क्योंकि इसके बिना व्याप्ति की सत्यता का निर्णय नहीं किया जा सकता। प्रायः सभी तर्कशास्त्रीय परम्परायें तर्क के इस महत्त्व को स्वीकार करती है। उनमें यदि कोई मतभेद है तो वह इसके प्रामाण्य के विषय में है। नैयायिक आदि इसे प्रमाण या अप्रमाण की कोटि में नहीं गिनते, प्रमाण का अनुग्राहक मानते हैं। जैन परम्परा में यह प्रमाणरूप से स्वीकृत है। इसका स्वतंत्र कार्य है, इसलिये यह परोक्ष प्रमाण का तीसरा प्रकार है। जहां-जहां धूम होता है वहां-वहां अग्नि होती है—यह व्याप्ति है। इस व्याप्ति का ज्ञान तर्क प्रमाण के द्वारा होता है अतः यह प्रमाण है।

नैयायिकों के अनुसार व्याप्ति का ज्ञान प्रत्यक्ष से ही हो जाता है क्योंकि प्रथम प्रत्यक्ष के समय में जो भी धूम की प्रतीति होती है वह अग्नि के सम्बन्धी रूप से ही होती है अतः धूम और अग्नि के नियम की प्रतीति भी तभी हो जाती है। प्रथम प्रत्यक्ष के समय धूम को देखने पर यह संशय नहीं होता कि यह धूम अग्नि से उत्पन्न हुआ है या किसी अन्य कारण से उत्पन्न हुआ है। अतः प्रत्यक्ष से ही व्याप्ति की प्रतीति हो जाती है और उसके पश्चात् जो अग्नि और धूम का बार-बार उपलम्भ और अनुपलम्भ होता है वह उसी ज्ञान को दृढ़ करता है। इसलिए व्याप्ति का ग्रहण प्रत्यक्ष से ही हो जाता है। इसके लिये तर्क को अलग से प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं।

जैन तार्किकों के अनुसार नैयायिकों का यह मन्तव्य 'प्रत्यक्ष से ही व्याप्ति का ग्रहण हो जाता है।' उचित नहीं है। व्याप्ति का ग्रहण तर्क के द्वारा ही संभव है, प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं। फिर भी यदि मानलें कि प्रत्यक्ष के द्वारा व्याप्ति का ग्रहण होता है तो नैयायिक यह बतायें कि वे इन्द्रिय प्रत्यक्ष से व्याप्ति का ग्रहण स्वीकार करते हैं या मानस प्रत्यक्ष से व्याप्ति का ग्रहण स्वीकार करते हैं। इन्द्रिय प्रत्यक्ष से तो व्याप्ति का ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्रियां प्रतिनियत देश और प्रतिनियत काल में स्थित वस्तुओं के साथ ही सम्बन्ध स्थापित करती है, उन्हीं का ज्ञान करती है जबकि व्याप्ति तो समस्त देश और समस्त कालवर्ती अर्थ को लेकर होती है इसलिए इन्द्रिय प्रत्यक्ष से व्याप्ति का ज्ञान संभव नहीं है।

मानस प्रत्यक्ष भी व्याप्ति को नहीं जान सकता, क्योंकि बाह्य इन्द्रिय की सहायता के बिना बाह्य पदार्थों में मन की प्रवृत्ति नहीं होती और व्याप्ति बाह्य पदार्थों का धर्म होने से बाह्य पदार्थ है। इसके अतिरिक्त न्यायदर्शन में मन को अणुरूप माना है अतः अणुरूप मन का एक साथ समस्त पदार्थों के साथ सम्बन्ध ही नहीं हो सकता तब वह व्याप्ति का ग्राहक कैसे हो सकता है।

कुछ दार्शनिकों का मन्तव्य है कि व्याप्ति का ग्रहण अनुमान से हो जाता है अतः तर्क को अलग से प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु जैन नैयायिकों के अनुसार अनुमान से भी व्याप्ति का ग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि अनुमान स्वयं व्याप्ति पर आधारित है। अतीत में ग्रहण किये गये व्याप्ति सम्बन्ध की स्मृति के आधार पर ही अनुमान का उत्थान होता है। यदि व्याप्ति का निश्चय अनुमान से किया जाये

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

तो (व्याप्ति के निश्चय के लिये अनुमान की) व्याप्ति के निश्चय के लिये फिर अनुमान की आवश्यकता होगी, क्योंकि अनुमान व्याप्ति का स्मरण होने पर होता है। पहले अनुमान की व्याप्ति ठीक है या नहीं इसका निश्चय करने के लिये दूसरा अनुमान मानें तो दूसरे अनुमान की व्याप्ति ठीक है या नहीं, इसका निश्चय करने के लिये तीसरे अनुमान की आवश्यकता होगी और तीसरे अनुमान की व्याप्ति के लिये चौथे अनुमान की आवश्यकता होगी। इस प्रकार अनवस्था नामक दोष का अनिष्ट प्रसंग उपस्थित होगा। दूसरी बात, यदि व्याप्ति अपने निश्चय के लिये अनुमान का सहारा ले और अनुमान अपने निश्चय के लिये व्याप्ति का आश्रय ले तो इससे अन्योन्याश्रय दोष का भी प्रसंग उपस्थित होता है। अतः व्याप्ति का ग्रहण करने के लिये तर्क को प्रमाण मानना आवश्यक है।

तर्क का कार्य व्याप्ति का निर्णय करना है। जो धूम है वह अग्निजन्य है, अग्नि-भिन्न-पदार्थ से जन्य नहीं है। अग्नि के सद्भाव में धूम का होना उपलम्भ है और अग्नि के अभाव में धूम का न होना अनुपलम्भ है। इस उपलम्भ और अनुपलम्भ से तर्क उत्पन्न होता है और वह धूम और अग्नि के सम्बन्ध का निर्णय करता है उसके द्वारा सर्वकाल, सर्वदेश और सर्वव्यक्ति में प्राप्त होने वाले अविनाभाव सम्बन्ध को व्याप्ति के रूप में स्वीकृति मिलती है। जो सम्बन्ध सार्वकालिक, सार्वदेशिक और सार्ववैयक्तिक नहीं होता, उसे व्याप्ति के रूप में तर्क का समर्थन नहीं मिलता और जिसे तर्क का समर्थन नहीं मिलता, वह व्याप्ति अनुमान के लिये उपयोगी नहीं होती। तर्क के द्वारा अविनाभाव-सम्बन्ध का निश्चय हो जाने पर ही साधन के द्वारा साध्य का ज्ञान अर्थात् अनुमान किया जा सकता है। अतः जैन परम्परा में स्मृति, प्रत्यभिज्ञान की भांति तर्क के प्रामाण्य का भी समर्थन किया गया और उसे परोक्ष प्रमाण का तीसरा भेद माना गया है।

परोक्ष प्रमाण का चौथा भेद अनुमान है, जिसकी चर्चा हम विस्तार से अगले पाठ में पढ़ेंगे। परोक्ष प्रमाण का पांचवां भेद है—आगम।

14.6 आगम प्रमाण

परोक्ष प्रमाण का अंतिम भेद आगम प्रमाण है। जैन आगमिक परम्परा में इसका प्राचीन नाम श्रुत है। जैसे जैन आगमिक परम्परा का मतिज्ञान जैन तार्किक परम्परा में संव्यवहारिक प्रत्यक्ष के नाम से अभिहित हुआ वैसे ही श्रुत भी आगम के नाम से अभिहित हुआ। जैन आगम या श्रुत प्रमाण एक तरह से दर्शनान्तरों के शब्द प्रमाण का ही स्थानापन्न है। आगम श्रुतज्ञान या शब्दज्ञान है। उपचार से आप्त वचन या द्रव्यश्रुत को भी आगम कहा जाता है किन्तु वास्तव में आगम वह ज्ञान है जो श्रोता या पाठक को आप्त की मौखिक या लिखित वाणी से होता है।

जैनदर्शन सम्मत श्रुतज्ञान का क्षेत्र काफी व्यापक है। यह सभी असर्वज्ञ प्राणियों में होने वाला वाच्यवाचकसम्बन्धात्मक ज्ञान है, जो शब्द, संकेत आदि माध्यमों से होता है। अन्य दर्शनों में परिगणित आगमप्रमाण या शब्दप्रमाण इसका एक अवयव कहा जा सकता है।

चार्वाक दर्शन के अनुसार कोई आप्त नहीं, अवंचक नहीं अतः किसी के वचन प्रमाण नहीं। वैशेषिक दर्शन और बौद्ध दर्शन के अनुसार शब्द प्रमाण अनुमान का ही रूप है। जैनदर्शन को ये दोनों ही मत मान्य नहीं। पूर्व अभ्यास की स्थिति में शब्दज्ञान व्याप्ति निरपेक्ष होता है। उसे ऊहापोह की आवश्यकता नहीं होती। यही बात शब्दज्ञान के लिए है। शब्द सुनते ही श्रोता उसका अर्थ समझ जाता है। उसे 'घट' शब्द सुनने के बाद 'घट' शब्द और 'घट' पदार्थ में व्याप्ति सम्बन्ध नहीं जोड़ना पड़ता अतः शब्द स्वतंत्र प्रमाण है, अनुमान के आधीन नहीं। शब्द सुनने पर यदि अर्थबोध न हो, उसके लिए व्याप्ति का सहारा लेना पड़े तो शब्दप्रमाण कहना ही उचित नहीं वह तो वस्तुतः अनुमान प्रमाण ही है। इस प्रकार व्याप्ति निरपेक्ष होने से आगम प्रमाण को अनुमान के अन्तर्गत नहीं गिना जा सकता।

जैनदृष्टि के अनुसार आगम स्वतः प्रमाण, पौरुषेय तथा आप्तप्रणीत होता है। आप्त दो प्रकार के होते हैं—1. लौकिक 2. लोकोत्तर।

लौकिक दृष्टि से जो जिस समय जिस विषय का यथार्थज्ञान एवं यथार्थ वक्ता होता है वह आप्त है। उसके वचन लौकिक आगम है।

लोकोत्तर विषयों—आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म का यथार्थ ज्ञान रखने वाला तथा यथार्थवादी महापुरुष लोकोत्तर आप्त कहलाता है। उसके द्वारा प्रतिपादित सत्य लोकोत्तर आगम के विषय हैं। वस्तुतः जैन दृष्टि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

से पुस्तक, ग्रन्थ आदि उस ज्ञान के साधन होने से उपचारतः आगम हैं, मुख्य आगम तो वह आप्त स्वयं है। अतः आगम पुरुष है, ग्रन्थ नहीं।

जिन ग्रन्थों में प्रत्यक्ष, युक्ति तथा तर्क नहीं चल सकते उन परोक्ष और अहेतुगम्य विषयों में आगम ही एकमात्र ज्ञान का साधन है। अतः आगम प्रमाण को न मानने वाले दार्शनिक प्रस्थानों के समक्ष उन विषयों को जानने का कोई आधार नहीं।

14.7 सारांश–इस प्रकार परोक्षप्रमाण के स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये पांच भेद होते हैं। इन सब में परोक्ष का सामान्य लक्षण 'अविशदत्व' समान रूप से पाया जाता है। अतः अवान्तर सामग्री भिन्न-भिन्न होते हुए भी ये सब परोक्ष प्रमाण के अन्तर्गत आते हैं।

14.8 प्रश्नावली

निबंधात्मक प्रश्न

1. परोक्ष प्रमाण पर एक सारगर्भित निबन्ध लिखें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. 'वासनोब्दोधहेतुका तदित्याकारा स्मृतिः' इस सूत्र की व्याख्या करें।
2. विभिन्न दार्शनिकों के अनुसार व्याप्ति का ग्रहण किससे होता है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. परोक्ष प्रमाण के कितने भेद हैं?
2. स्मृति का हेतु क्या बनता है?
3. क्या जैनेतर दर्शनों के अनुसार स्मृति प्रमाण है?
4. जैनदर्शन के अनुसार व्याप्ति का ग्रहण किससे होता है?
5. अहेतुगम्य विषयों का ज्ञान किससे होता है?
6. प्रत्यभिज्ञा ...... ज्ञान है।
7. जैन दार्शनिक उपमान प्रमाण का समावेश .... में करते हैं।
8. आगम .... होता है।
9. यह वही निर्ग्रन्थ है इस वाक्य में ...... का संकलन है।
10. न स्मृतेरप्रमाणत्वं कारिका किस ग्रन्थ की है?

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–15 : प्रमेय, प्रमिति, प्रमाता

संरचना

15.0 प्रस्तावना
15.1 उद्देश्य
15.2 प्रमेय (पदार्थ) का स्वरूप
15.3 जैन प्रमेय का स्वरूप
15.4 एकान्त द्रव्यमत का निराकरण
15.5 एकान्त पर्यायमत का निराकरण
15.6 प्रमिति-प्रमाण का फल
15.7 प्रमाण और प्रमिति (प्रमाण फल) का भेदाभेद
15.8 प्रमाता का स्वरूप
15.9 सारांश
15.10 अभ्यास प्रश्नावली

15.0 प्रस्तावना

न्याय पद्धति की शिक्षा देने वाला शास्त्र 'न्यायशास्त्र' कहलाता है। इसके मुख्य चार अंग हैं—

1. प्रमाता (आत्मा)—तत्त्व की मीमांसा करने वाला।
2. प्रमाण (यथार्थ ज्ञान)—मीमांसा का मानदण्ड।
3. प्रमेय (पदार्थ)—जिसकी मीमांसा की जाये।
4. प्रमिति (प्रमाण का फल)—मीमांसा का फल।

इन चार अंगों में से 'प्रमाण' की चर्चा आप पिछले पाठों में पढ़ चुके हैं।

15.1 उद्देश्य – प्रस्तुत पाठ में 'प्रमाणमीमांसा' के सूत्रों के आधार पर 'प्रमेय' अर्थात् प्रमाण का विषय, 'प्रमिति' अर्थात् प्रमाण का फल एवं 'प्रमाता' अर्थात् आत्मा के स्वरूप पर विमर्श करेंगे।

15.2 प्रमेय (पदार्थ) का स्वरूप

प्रमाणस्य विषयो द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु ॥30॥

प्रमाण का विषय द्रव्य पर्यायात्मक वस्तु है।

अर्थक्रियासामर्थ्यात् ॥31॥

द्रव्य पर्याय रूप वस्तु ही अर्थक्रिया के सामर्थ्य से प्रमाण का विषय है।

तल्लक्षणत्वाद्वस्तुनः ॥32॥

अर्थक्रिया ही वस्तु का लक्षण है।

पूर्वोत्तराकारपरिहारस्वीकारस्थितिलक्षणपरिणामेनास्यार्थक्रियोपपत्तिः ॥33॥

पूर्व पर्याय का परित्याग, उत्तर पर्याय का उत्पाद और स्थिति अर्थात् ध्रौव्य स्वरूप परिणाम से द्रव्य-पर्यायात्मक पदार्थ में ही अर्थक्रिया संगत होती है।

'प्रमेयसिद्धि प्रमाणाद्धि:' प्रमेय की सिद्धि प्रमाण के अधीन होती है। जब तक प्रमाण का निर्णय नहीं होता तब तक प्रमेय की स्थापना नहीं की जा सकती। इसलिए दर्शन के आरम्भ में प्रमाण-विद्या (तर्क-विद्या, आन्वीक्षिकी विद्या या न्याय-विद्या) की चर्चा की जाती है। चूंकि प्रमाण के द्वारा प्रमेय का ज्ञान होता है इसलिए प्रमाण के पश्चात् प्रमेय की चर्चा की जाती है। प्रमेय के विषय में दो मत हैं। कुछ दर्शन प्रमेय की वास्तविकता को स्वीकार करते हैं और कुछ नकारते हैं। जो प्रमेय को वास्तविक मानते हैं वे वस्तुवादी या यथार्थवादी दर्शन कहलाते हैं और जो प्रमेय को वास्तविक नहीं मानते वे प्रत्ययवादी दर्शन कहलाते हैं। भारतीय दर्शन में बौद्ध एवं वेदान्त प्रत्ययवादी दर्शन एवं शेष वस्तुवादी दर्शन हैं। प्रमेय के स्वरूप में नानात्व दृष्टिगोचर होता है इसका कारण है प्रमाण-स्वरूप में नानात्व का होना। यदि सभी दर्शनों के प्रमाणस्वरूप में ऐकमत्य होता, तो प्रमेय के विषय में भी एकरूपता होती, किन्तु ऐसा नहीं है। यह

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

नानात्व मुख्य रूप से चार प्रकार का हैं—1. प्रमेय नित्य है। 2. प्रमेय अनित्य है। 3. कुछ प्रमेय नित्य व कुछ अनित्य है। 4. प्रमेय नित्यानित्य है।

जहाँ वेदान्त, सांख्य आदि दर्शन प्रमेय को कूटस्थ नित्य मानते हैं वहां बौद्ध दर्शन में पदार्थ को उत्पाद और व्ययशील, अनित्य, निरन्वय विनाशी माना है। न्याय दर्शन कुछ पदार्थों जैसे आत्मा, आकाश आदि को नित्य मानता है तथा दीपशिखा आदि कुछ को अनित्य मानता है।

15.3 जैन प्रमेय का स्वरूप

जैन दर्शन नित्यानित्यवादी है। उसके अनुसार आकाश से लेकर दीपशिखा तक के सभी पदार्थ नित्यानित्य हैं। आकाश में स्वभावगत परिणमन होता है इसलिए वह अनित्य भी है और दीपशिखा के परमाणु ध्रुव हैं, अतः वह नित्य भी है। स्याद्वाद की मर्यादा के अनुसार कोई भी द्रव्य केवल नित्य या केवल अनित्य नहीं हो सकता जैसा कि आचार्य हेमचन्द्र ने अन्ययोगव्यवच्छेदिका में लिखा है—

"आदीपमाव्योमसमस्वभावं, स्याद्वादमुद्रानतिभेदिवस्तु ।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यदिति त्वदाज्ञाद्विषतां प्रलापाः ॥"

अर्थात् दीपक से लेकर आकाश तक सभी पदार्थ नित्यानित्यात्मक हैं। कोई भी पदार्थ स्याद्वाद की इस मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करता। तात्पर्य यह है कि जैन दर्शन के अनुसार जो सत् (वस्तु) है वह पूर्ण रूप से कूटस्थ नित्य, निरन्वय विनाशी या उसका अमुक भाग नित्य और अमुक भाग अनित्य नहीं हो सकता। चेतन और जड़, मूर्त्त और अमूर्त्त, सूक्ष्म और स्थूल सभी सत् पदार्थ उत्पाद व्यय और ध्रौव्य रूप हैं, द्रव्य पर्याय रूप हैं। केवल द्रव्यात्मक या केवल पर्यायात्मक वस्तु का आकाशकुसुम की भांति अस्तित्व ही नहीं होता। अतः कहा गया—

"द्रव्यं पर्याय वियुतं पर्याया द्रव्यवर्जिता ।
क्व कदा केन रूपा दृष्टा मानेन केन वा ॥"

अर्थात् द्रव्य से रहित पर्याय, पर्याय से रहित द्रव्य को कहां, कब, किसके द्वारा, किस प्रमाण से जाना गया अर्थात् नहीं जाना गया। अतः आचार्य हेमचन्द्र प्रमाण का विषय द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु को बताते हुए लिखते हैं—'प्रमाणस्यविषयो द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु।' द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु ही प्रमाण का विषय है। 'द्रवति तान् तान् पर्यायान् गच्छति इति द्रव्यम्' जो भिन्न-भिन्न पर्यायों के प्रति द्रवित होता है उसे द्रव्य कहते हैं। दूसरे शब्दों में पूर्व पर्यायों के नाश एवं उत्तर पर्यायों के उत्पाद होने पर भी जिसके कारण वस्तु में एकाकारता की प्रतीति होती है उसे द्रव्य अथवा ध्रौव्य कहते हैं। जिसका निरन्तर उत्पाद एवं विनाश होता रहता है उसे पर्याय कहते हैं। पर्याय का ही अपर नाम विवर्त है। इस प्रकार जो वस्तु उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक या द्रव्यपर्यायात्मक हो वही सत् कहलाता है और वही प्रमाण का विषय बनता है।

जैनाचार्यों के समक्ष जब यह प्रश्न आया कि एक ही वस्तु में उत्पत्ति, विनाश और ध्रुवता जैसे परस्पर विरोधी गुणधर्म कैसे ठहर सकते हैं? तो समाधान में स्याद्वादी आचार्यों ने कहा—

"घटमौली सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम ।
शोक प्रमोदमाध्यस्थं जनो याति सहेतुकम् ॥"

एक स्वर्णकार स्वर्णकलश तोड़कर स्वर्णमुकुट बना रहा है। उसके पास तीन ग्राहक आये। एक को स्वर्ण कलश चाहिये था, दूसरे को स्वर्णमुकुट और तीसरे को केवल स्वर्ण चाहिये था। स्वर्णकार की प्रवृत्ति को देखकर पहले को दुःख हुआ, दूसरे को हर्ष हुआ और तीसरा माध्यस्थ भावना में रहा। तात्पर्य यह हुआ कि एक ही स्वर्ण में, एक ही समय में एक विनाश देख रहा है, एक उत्पाद देख रहा है और एक ध्रुवता देख रहा है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव से त्रिगुणात्मक है।

यदि कोई शंका करे कि द्रव्य पर्यायात्मक वस्तु ही प्रमाण का विषय क्यों बन सकती है? द्रव्य या पर्याय क्यों नहीं? इसका समाधान है—'अर्थक्रियासामर्थ्यात्।' 'तल्लक्षणत्वाद् वस्तुनः।' अर्थात् द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु में ही अर्थक्रिया करने का सामर्थ्य है और अर्थक्रियाकारित्व ही वस्तु का लक्षण है। एकान्त नित्य या एकान्त क्षणिक पदार्थ में अर्थक्रिया नहीं हो सकती, जैसाकि कहा है—

"अर्थक्रिया न युज्येते नित्यक्षणिक पक्षयोः।
क्रमाक्रमाभ्यां भावानां सा लक्षणतया मत॥"

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अर्थात् एकान्त नित्य एवं क्षणिक पदार्थ में क्रम और अक्रम दोनों प्रकार से ही अर्थक्रिया घटित न होने के कारण वे वस्तु ही सिद्ध नहीं होती।

15.4 एकान्त द्रव्यमत का निराकरण

अर्थक्रिया दो प्रकार से होती है क्रम से अर्थात् एक के बाद एक क्रिया का होना। अकर्म से अर्थात् एकसाथ सारी क्रिया का हो जाना। नित्य पदार्थ न क्रम से अर्थक्रिया कर सकता है और न अक्रम (युगपत्) से कर सकता है। फिर भी यदि मान लें कि वह क्रम से अर्थक्रिया करता है तो ऐसा मानना ठीक नहीं, क्योंकि नित्य पदार्थ समर्थ होता है। वह कालक्षेप नहीं करता। कालान्तर में होने वाली क्रियाओं को प्रथम क्षण में ही कर सकता है। यदि वह कालक्षेप करता है तो वह असमर्थता को प्राप्त होता है और यदि वह अर्थक्रिया करने में किसी दूसरे सहकारी कारणों की अपेक्षा रखता है तो भी वह असमर्थता को प्राप्त होता है। जैसा कि कहा है—'सापेक्षमसमर्थम्' अर्थात् जो किसी की अपेक्षा रखता है वह असमर्थ होता है। अतः नित्य पदार्थ में क्रम से अर्थक्रिया मानना उचित नहीं।

यदि कहें नित्य पदार्थ अक्रम से अर्थक्रिया करता है तो ऐसा कहना भी उचित नहीं, क्योंकि तीनों कालों में होने वाली समस्त क्रियाओं को कोई पदार्थ एक साथ कर लेता हो, यह बात प्रतीति के योग्य नहीं। फिर भी यदि मान लें कि वह सभी क्रियायें एकसाथ एक समय में कर लेता है तो प्रश्न होता है कि वह अगले क्षण क्या करेगा? यदि कुछ नहीं करेगा तो अर्थक्रिया के अभाव में वह अवस्तु ही हो जायेगा, क्योंकि वस्तु का लक्षण है हर क्षण अर्थक्रिया करते रहना। यदि अगले क्षण वह अर्थक्रिया करता है तो क्रम पक्ष वाले दोष यहां आ जाते हैं अतः नित्य पदार्थ क्रम एवं अक्रम दोनों प्रकार से अर्थक्रिया न कर सकने के कारण अवस्तु ही सिद्ध हो जाता है।

15.5 एकान्त पर्यायमत का निराकरण

नित्य पदार्थ की भांति अनित्य पदार्थ भी क्रम और अक्रम से अर्थक्रिया नहीं कर सकता। क्योंकि क्षण-क्षण में नष्ट होने वाले अनित्य पदार्थ में देशकृत या कालकृत क्रम ही नहीं बन सकते और देशकृत एवं कालकृत क्रम के अभाव में क्रम से अर्थक्रिया भी संभव नहीं हो सकती। इसी प्रकार क्षणिक पदार्थों में युगपत् अर्थक्रिया भी संभव नहीं लगती, क्योंकि एक ही समय तक स्थिर रहने वाला रूप यदि एक ही साथ रस, गन्धादि अनेक पदार्थों को उत्पन्न करेगा तो एक स्वभाव जन्य होने से रूप, रसादि सभी एक हो जायेंगे या अनेक स्वभावजन्य होने से पदार्थ को अनेक मानना पड़ेगा, जो कि प्रतीति विरुद्ध है। अतः क्षणिक पदार्थ भी क्रम और अक्रम से अर्थक्रिया नहीं कर सकते। द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु ही अर्थक्रियाकारी होने से वही प्रमाण का विषय बन सकता है।

प्रमाण का विषय द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु ही होती है। जैनों की उक्त मान्यता का निराकरण करते हुये पर मतावलम्बियों का कहना है कि द्रव्य एवं पर्याय में कथंचित् भेदाभेद स्वीकार करने पर विरोध, वैयधिकरण्य, अनवस्था, संकर, व्यतिकर, संशय, अप्रतिपत्ति, विषयव्यवस्था हानि आदि आठ दोष उपस्थित होते हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने इन आठों दोषों का परिहार कर यह सिद्ध किया कि द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु में इस प्रकार के दोषों को अवकाश नहीं रहता। जैनों के अनुसार पदार्थों में अर्थक्रियाकारित्व की प्रक्रिया में कोई बाधा नहीं है जैसा कि आचार्य हेमचन्द्र लिखते हैं—"पूर्वोत्तराकारपरिहारस्वीकारस्थितिलक्षण परिणामेनास्यार्थक्रियोपपत्तिः।" अर्थात् पूर्व आकार का परित्याग, उत्तर आकार का ग्रहण और इन दोनों अवस्थाओं में ध्रुव रहने के कारण पदार्थों में अर्थक्रिया मानने में कोई विरोध नहीं आता। एक ही पदार्थ में परस्पर भिन्न दो धर्मों को मानने से भी दोष नहीं आता क्योंकि स्याद्वाद में वस्तु किसी अपेक्षा से नित्य और किसी अपेक्षा से अनित्य स्वीकार की गई है। जैन दर्शन वस्तु को न केवल द्रव्यरूप मानता और न केवल पर्यायरूप मानता है अपितु जात्यन्तर द्रव्यपर्यायरूप मानता है। जैसाकि कहा है—

"भागे सिंहो नरो भागे योऽर्थो भागद्वयात्मकः।
तमभागं विभागेन नरसिंह प्रचक्षते॥"

अर्थात् जिस प्रकार नृसिंहावतार एक भाग में नर है और दूसरे में मनुष्य है, वह नर और सिंह दो विरुद्ध आकृतियों को धारण करता है और फिर भी नृसिंह नाम से कहा जाता है, उसी तरह नित्य-अनित्य

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

दो विरुद्ध धर्मों के रहने पर भी स्याद्वाद के सिद्धान्त में कोई विरोध नहीं आता है अत: प्रमेय का स्वरूप न केवल द्रव्यरूप है और न केवल पर्यायरूप है अपितु द्रव्यपर्यायरूप है।

15.6 प्रमिति—प्रमाण का फल

फलमर्थप्रकाश: ॥34॥

प्रमाण का फल अर्थ का प्रकाश है।

कर्मस्था क्रिया ॥35॥

कर्म में स्थित क्रिया कहलाती है।

कर्तृस्था प्रमाणम् ॥36॥

कर्त्ता में स्थित क्रिया प्रमाण है।

तस्यां सत्यामर्थप्रकाशसिद्धे: ॥37॥

कर्तृस्थ क्रिया के होने पर अर्थप्रकाश की सिद्धि होती है।

अज्ञाननिवृत्तिर्वा ॥38॥

अथवा (प्रमाण का फल) अज्ञान की निवृत्ति है।

अवग्रहादीनां वा क्रमोपजन धर्माणां पूर्वं पूर्वं प्रमाणमुत्तरमुत्तरं फलम् ॥39॥

क्रम से उत्पन्न होने वाले अवग्रह आदि में से पूर्व-पूर्व के प्रमाण और उत्तर-उत्तर के फल हैं।

हानादिबुद्धयो वा ॥40॥

अथवा (प्रमाण का फल) हान आदि बुद्धि है।

प्रमाणाद्भिन्नाभिन्नम् ॥41॥

प्रामण का फल प्रमाण से भिन्न और अभिन्न है।

दर्शन जगत् में प्रमाण और प्रमेय की भांति प्रमिति (प्रमाण-फल) की चर्चा भी अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। जैन दर्शन आत्मवादी होने के कारण आत्मा को प्रमाता मानता है। ज्ञान आत्मा का गुण है और वह प्रमा का साधकतम उपकरण है, इसलिए ज्ञान को प्रमाण मानता है। अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से होती है इसलिए ज्ञान को ही प्रमाण का फल (प्रमिति) मानता है। अत: जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान ही प्रमाण एवं ज्ञान ही प्रमाण का फल है।

यहां प्रतिवादी नैयायिक द्वारा उपस्थित यह तर्क है कि ज्ञान को प्रमाण और फल दोनों नहीं माना जा सकता क्योंकि यदि ज्ञान ही प्रमाण और वही फल हो तो, या तो ज्ञान हो गया फल। दोनों एक साथ कैसे हो सकते हैं? इस समस्या के समाधान में उनका परामर्श है कि ज्ञाता और विषय के मध्य सम्बन्ध स्थापित करने वाला इन्द्रिय व्यापार, सन्निकर्ष आदि साधकतम करण प्रमाण है और उससे होने वाला विषय-ज्ञान या प्रमा प्रमाण का फल है।

प्रमा का जो साधकतम करण है वह प्रमाण है—इस विषय में जैन और नैयायिक तर्क परम्परा में मतभेद नहीं है किन्तु मतभेद इस विषय में है कि नैयायिक इन्द्रिय-व्यापार, सन्निकर्ष आदि अचेतन तत्त्वों को प्रमा का साधकतम करण मानता है जबकि जैन दर्शन अचेतन सामग्री को प्रमा का साधकतम करण नहीं मानता, ज्ञान को ही उसका साधकतम करण मानता है। नैयायिक मान्यता का फलित यह है कि जिस कारण से ज्ञान उत्पन्न होता है, वह प्रमाण है और ज्ञान उसका (प्रमाण का) फल है। जैन मान्यता का फलित इससे भिन्न है। उसके अनुसार पूर्व क्षण का ज्ञान (साधन ज्ञान) प्रमाण है और उत्तरक्षण का ज्ञान (साध्यज्ञान) उसका फल है। प्रमाण रूप में परिणत आत्मा ही फल रूप में परिणत होती है, इसलिए नैयायिकों की तरह प्रमाण को अज्ञानात्मक और फल को ज्ञानात्मक नहीं माना जा सकता अत: जैनदर्शन में ज्ञान को ही प्रमाण और ज्ञान को ही उसका फल माना गया है। आचार्य हेमचन्द्र ने उपर्युक्त सूत्रों में प्रमाण के दो फलों की चर्चा की है—1. प्रमाण का साक्षात् फल और 2. प्रमाण का परम्पर फल।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

'फलमर्थप्रकाश:' 'अज्ञाननिवृत्तिर्वा' इत्यादि सूत्र प्रमाण के साक्षात् फल को प्रकट करने वाले हैं। प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञान निवृत्ति है। जैसे प्रकाश अंधकार को हटाकर पदार्थों को प्रकाशित करता है वैसे ही ज्ञान अज्ञान को दूरकर पदार्थों का बोध कराता है इसलिए प्रमाण का मुख्य फल ज्ञान है।

प्रमाण का परम्पर फल हान, उपादान, उपेक्षा बुद्धि है क्योंकि वस्तु का ज्ञान होने के पश्चात् यदि वस्तु अहितकारी प्रतीत होती है तो ज्ञाता उसे छोड़ देता है और यदि हितकारी प्रतीत होती है तो उसे ग्रहण कर लेता है तथा यदि उस जानी हुई वस्तु से कोई प्रयोजन नहीं होता तो उसकी उपेक्षा कर देता है। मति श्रुत आदि ज्ञानों में हान, उपादान और उपेक्षा तीनों बुद्धियां फल होती हैं परन्तु केवल ज्ञान का फल मात्र उपेक्षा बुद्धि है क्योंकि केवलज्ञानी वीतरागी होते हैं अत: उनके राग-द्वेषमूलक हान उपादान बुद्धि नहीं होती। जैसाकि न्यायावतार में लिखा है—

'प्रमाणस्य फलं साक्षादज्ञानविनिवर्तनम् ।
केवलस्य सुखोपेक्षे शेषस्यादानहान धी:॥'

इस प्रकार प्रमाण का फल दो प्रकार का है—एक साक्षात् फल अर्थात् प्रमाण से अभिन्न फल और दूसरा परम्पर फल अर्थात् प्रमाण से भिन्न फल। प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञाननिवृत्ति है और परम्पर फल हान, उपादान, उपेक्षा बुद्धि है।

15.7 प्रमाण और प्रमिति (प्रमाण फल) का भेदाभेद

प्रमाण और प्रमाण-फल की भिन्नाभिन्नता को लेकर भी दार्शनिकों में विवाद पाया जाता है बौद्ध मतानुसार प्रमाण और प्रमाणफल एकान्त अभिन्न है। उनका मत है कि ज्ञान (प्रमाण) और ज्ञानफल (विषयाधिगम) दोनों एक ही ज्ञान की सन्तान में है, इसलिए उन्हें अभिन्न ही मानना चाहिये।

नैयायिकों के अनुसार प्रमाण और प्रमाणफल में सर्वथा भेद है क्योंकि प्रमाण करण है और जो करण होता है वह अपने से भिन्न पदार्थों में क्रिया करता है, जैसे कुठार अपने से भिन्न लकड़ी को चीर डालता है। लकड़ी और कुठार दोनों सर्वथा भिन्न हैं, उसी प्रकार प्रमाण एवं प्रमाणफल भी भिन्न हैं।

जैनदर्शन अपनी अनेकान्त प्रकृति के अनुसार प्रमाण एवं प्रमाणफल का भेदाभेद बतलाता है। जैसा कि आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है—'प्रमाणाद्भिन्नाभिन्नम्।' अर्थात् प्रमाण का फल प्रमाण से भिन्न भी है और अभिन्न भी है। 'साध्य साधन भावेन तयोर्भेद:' अर्थात् साध्य और साधन भाव की अपेक्षा से प्रमाण और प्रमाण फल भिन्न होते हैं। प्रमाण साधन होता है और फल साध्य होता है। अत: दोनों में कथंचित् भेद है। एकान्त अभेद मानने पर या तो साधन होता या साध्य। दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व संभव नहीं होता।

प्रमाण और प्रमाणफल में कथंचित् अभेद भी है 'एक प्रमातृ तादात्म्येन चाभेद:' अर्थात् एक ही प्रमाता प्रमाण और फल दोनों रूप में परिणति करता है। जो आत्मा ज्ञेय पदार्थ को यथार्थ रूप में जानती है वही आत्मा उस पदार्थ का ग्रहण करती है, उसका त्याग करती है और उसकी उपेक्षा करती है अत: प्रमाण और प्रमाणफल का एक प्रमाता के साथ तादात्म्य होने से कथंचित् अभेद की सिद्धि होती है। यदि प्रमाण और फल को सर्वथा भिन्न अथवा सर्वथा अभिन्न माना जायेगा तो उनमें प्रमाण और फल का व्यवहार ही नहीं बन सकता। अत: उसमें भेदाभेद मानना ही उचित है।

अवग्रहादीनां वा क्रमोपजन धर्माणां पूर्वं पूर्वं प्रमाणमुत्तरमुत्तरं फलम्।

अर्थात् क्रम से उत्पन्न होने वाले अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान में से पूर्व-पूर्व का ज्ञान प्रमाण है और उत्तर-उत्तर का ज्ञान उसका फल है। जैसे—अवग्रहज्ञान प्रमाण है और ईहा ज्ञान उसका फल है; क्योंकि ईहाज्ञान के होने में अवग्रह ज्ञान साधकतम है और ईहा ज्ञान उसका साध्य है। इसी तरह अवायज्ञान की उत्पत्ति में साधकतम होने से ईहाज्ञान प्रमाण है और अवायज्ञान उसका फल है। इसी तरह धारणा, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुभाव आदि में पूर्व-पूर्व में होने वाला ज्ञान प्रमाण और उत्तर-उत्तर का ज्ञान उसका फल है, ऐसा समझ लेना चाहिये। इस प्रकार प्रत्येक ज्ञान प्रमाण भी है और फल भी है। यद्यपि प्रमाण और फल क्रमभावी होते हैं, फिर भी उनमें परस्पर कथंचित् एकत्व होता है।

इस प्रकार प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञान निवृत्ति व गौण फल हान, उपादान, उपेक्षा बुद्धि है और प्रमाण एवं प्रमाण फल में न एकान्त भेद और न एकान्त अभेद अपितु कथंचित् भेदाभेद है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

15.8 प्रमाता का स्वरूप

स्वपराभासी परिणाम्यात्मा प्रमाता ॥42॥

स्व और पर को जानने वाला तथा परिणमनशील आत्मा प्रमाता है।

भारतीय दार्शनिकों के चिन्तन का केन्द्र बिन्दु आत्मा ही रहा है। आत्म स्वरूप के विषय में परस्पर विरोधी अनेक मत दर्शन शास्त्रों में पाये जाते रहे हैं। वेदान्त, सांख्य आदि दार्शनिक जहां आत्मा को कूटस्थ नित्य स्वीकार कर रहे थे वहीं बौद्ध दार्शनिक आत्मा को सर्वथा क्षणिक मान रहे थे। योगाचार बौद्ध जहां विज्ञान बाह्य किसी चीज का अस्तित्व न होने से और विज्ञान स्वसंविदित होने से आत्मा को स्वावभासी मान रहे थे वहीं परोक्ष ज्ञानवादी कुमारिल आदि मीमांसक आत्मा का परावभासित्व सिद्ध कर रहे थे। जैन आचार्यों ने आत्म स्वरूप के विषय में प्रचलित विविध विचारों में समन्वय स्थापित किया एवं आत्मा को नित्यानित्य एवं स्वपरावभासी माना। आचार्य हेमचन्द्र ने प्रमाता के स्वरूप को परिभाषित करते हुये लिखा—'स्वपराभासी परिणाम्यात्मा प्रमाता' इस सूत्र में प्रमाता के दो लक्षण बताये गये हैं—1. आत्मा का स्व-पर-प्रकाशी होना, 2. आत्मा का परिणमनशील होना।

मीमांसक आत्मा को स्वप्रकाशी नहीं मानते। उनके अनुसार 'स्वात्मनि क्रिया विरोध:' अर्थात् जिस प्रकार तलवार अपने आपको नहीं काट सकती, नट अपने कंधों पर चढ़कर नहीं नाच सकता, उसी प्रकार आत्मा अपने आपको नहीं जान सकती। दूसरी बात यदि आत्मा को स्वावभासी मानें तो आत्मा ज्ञेय बन जायेगी क्योंकि जिसको जाना जाता है वह ज्ञेय कहलाता है। आत्मा को स्वावभासी मानने से वह ज्ञेय बन जायेगी फिर उसे ज्ञाता नहीं कहा जा सकता अत: मीमांसकों को आत्मा का स्वावभासित्व इष्ट नहीं था। दूसरी ओर योगाचार बौद्ध विज्ञान बाह्य किसी चीज का अस्तित्व न स्वीकार करने के कारण आत्मा को स्वावभासी मान रहे थे उन्हें आत्मा का परावभासित्व इष्ट नहीं था।

जैनदर्शन ने इन दोनों के बीच समन्वय स्थापित किया। उनके अनुसार स्वात्मनि क्रिया में विरोध नहीं होता क्योंकि 'अनुभवसिद्धेऽर्थे विरोधासिद्धे:' अर्थात् जो बात अनुभव से सिद्ध है उसमें विरोध नहीं होता। आत्मा स्वप्रकाशक है क्योंकि वह पदार्थों को जानता है, जो स्वप्रकाशक नहीं होता वह पर प्रकाशक भी नहीं हो सकता जैसे—घट। स्वप्रकाशकत्व के साथ परप्रकाशकत्व का कोई विरोध भी नहीं है। जैसे दीपक स्वयं प्रकाशित होता है उसे प्रकाशित करने के लिये किसी दूसरे दीपक की आवश्यकता नहीं होती तथा साथ-साथ दीपक पदार्थों को भी प्रकाशित करता ही है। आत्मा को स्वप्रकाशी मानने से वह ज्ञेय बन जायेगी, ज्ञाता नहीं रहेगी, ऐसी शंका करना भी उचित नहीं। आत्मा ज्ञाता और ज्ञेय दोनों हो सकती है। आत्मा स्वयं को जानती है इस अपेक्षा से ज्ञेय तथा पदार्थों को जानती है इस अपेक्षा से ज्ञाता भी है। जिस प्रकार एक पिता अपने पुत्र की अपेक्षा पिता होता है और अपने पिता की अपेक्षा पुत्र होता ही है इस प्रकार आत्मा एकान्तत: स्वावभासी या परावभासी ही है, इन दोनों एकान्तिक मतों का निरसन और आत्मा के स्वपरावभासी मत का समर्थन स्वत: हो जाता है।

प्रमाता का दूसरा लक्षण है—परिणामित्व। जो वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त हो वह परिणामी कहलाती है। आत्मा परिणामी है। इस तथ्य को स्वीकार करने से कूटस्थ नित्यता एवं एकान्त विनश्वरता से सम्बद्ध दोनों पक्षों का निराकरण हो जाता है। कूटस्थ नित्य से तात्पर्य है कि उसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं है। यदि आत्मा को कूटस्थ नित्य मान लें तो सुख-दु:ख, पुण्य-पाप, बंध-मोक्ष आदि संभव नहीं हो सकते और यदि बौद्धों की तरह एकान्तत: क्षणिक मान लें तो फिर ऐसा भी मानना होगा कि व्यक्ति को अपने कृत कर्मों का फल नहीं मिलता, अकृत कर्मों का फल मिलता है क्योंकि कर्म करने वाली आत्मा नष्ट हो चुकी है। इसके अतिरिक्त स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि ज्ञान भी अप्रमाण हो जायेंगे।

15.9 सारांश–आत्मा को परिणामी नित्य अर्थात् उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त मानने से सभी बातों का समन्वय सहज किया जा सकता है।

15.10 प्रश्नावली

1. निबंधात्मक प्रश्न

1. न्यायशास्त्र के प्रमुख अंग कौन से हैं, विश्लेषण करें?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2. लघूत्तरात्मक प्रश्न

क. जैन दर्शन के अनुसार प्रमाता का स्वरूप क्या है?

ख. प्रमाण से प्रमाण का फल भिन्न होता है या अभिन्न, स्पष्ट करें?

3. वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. प्रमाण का विषय क्या है?
2. वेदान्त के अनुसार प्रमेय का स्वरूप कैसा है?
3. वस्तु का लक्षण क्या है?
4. प्रमाण का साक्षात् फल क्या है?
5. प्रमाता का स्वरूप क्या है?
6. जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु .... है।
7. नैयायिक प्रमाण और प्रमाणफल को .... मानते हैं।
8. अवग्रह प्रमाण का फल ...... है।
9. जैनदर्शन के अनुसार प्रमाण और प्रमाण फल में ..... है।
10. अन्ययोगव्यवच्छेदिका के रचनाकार ..... हैं।

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–16 : अनुमान प्रमाण, व्याप्ति, हेतु स्वरूप

संरचना

16.0 प्रस्तावना
16.1 उद्देश्य
16.2 अनुमान प्रमाण
16.3 अनुमान के भेद
16.4 अनुमान के अवयव
16.5 हेतु का स्वरूप
16.6 हेत्वाभास
16.7 हेतु लक्षण
16.8 साध्य लक्षण
16.9 पक्ष का स्वरूप
16.10 सारांश
16.11 अभ्यास प्रश्नावली

16.0 प्रस्तावना

परोक्ष प्रमाण के पांच भेदों में से स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और आगम की चर्चा आप पिछले पाठ में पढ़ चुके हैं। प्रस्तुत पाठ में हम परोक्ष प्रमाण का मुख्य भेद अनुमान, जिसे चार्वाक को छोड़कर सभी दर्शनों ने एक स्वर से स्वीकार किया है, उसकी चर्चा करेंगे।

16.1 उद्देश्य– इसके अध्ययन से अनुमान प्रमाण का ज्ञान कर सकेंगें।

16.2 अनुमान प्रमाण– आचार्य हेमचन्द्र ने प्रमाण का लक्षण करते हुये लिखा—

साधनात् साध्य विज्ञानम् अनुमानम् ॥7॥

साधन से साध्य का ज्ञान करना अनुमान कहलाता है।

अनुमान न्यायशास्त्र का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है। अनुमान शब्द अनु और मान इन दो शब्दों के योग से निष्पन्न हुआ है। 'अनु' अर्थात् पश्चात् और 'मान' अर्थात् ज्ञान। अनुमान में प्रयुक्त 'अनु' पद प्रतियोगी की अपेक्षा रखता है। जो ज्ञान अपनी उत्पत्ति से पूर्व अन्य ज्ञान की अपेक्षा रखता है, वह अनुमान है। पूर्वज्ञान से यहां व्याप्तियुक्त पक्षधर्मता रूप एक विशिष्ट ज्ञान अभिप्रेत है। अत: इस विशिष्ट ज्ञान के पश्चात् होने वाला ज्ञान अनुमान है। न्यायसूत्र में भी अनुमान को प्रत्यक्षपूर्वक स्वीकार किया है।

अनुमान में मुख्य दो अंग होते हैं—साधन और साध्य। साधन प्राय: प्रत्यक्ष होता है और साध्य परोक्ष होता है। हम पहले साधन को प्रत्यक्ष देखते हैं, फिर व्याप्ति की स्मृति करते हैं और उसके बाद साध्य का ज्ञान करते हैं। उदाहरणार्थ—'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस उदाहरण में धूम साधन है और अग्नि साध्य है। जिसे सिद्ध करना होता है वह साध्य कहलाता है और जिस हेतु से सिद्ध करते हैं वह साधन कहलाता है। पर्वत पर उठता हुआ धुआं जो कि साधन है, वह हमें प्रत्यक्ष दिखाई देता है और उस धुएं को देखकर हम पर्वत पर अग्नि के होने का अनुमान कर लेते हैं। जैन परम्परा में अनुमान का लक्षण सर्वप्रथम आचार्य सिद्धसेन ने किया। साध्य के अविनाभावी साधन से साध्य का निश्चयात्मक ज्ञान अनुमान है। अनुमान की इस परिभाषा का शब्दान्तर से उत्तरवर्ती सभी जैन तार्किकों ने अनुगमन किया है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी 'साधनात् साध्यविज्ञानम् अनुमानम्' कहकर साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहा है।

16.3 अनुमान के भेद—आचार्य हेमचन्द्र ने अनुमान के भेदों का उल्लेख करते हुए लिखा—

तत् द्विधा स्वार्थं परार्थं च ॥8॥

वह अनुमान स्वार्थानुमान और परार्थानुमान के भेद से दो प्रकार का है।

स्वार्थं स्वनिश्चितसाध्याविनाभावैकलक्षणात् साधनात् साध्यज्ञानम्॥9॥

अपने द्वारा निश्चित किये हुये अविनाभावरूप एक लक्षण वाले साधन से साध्य का ज्ञान स्वार्थानुमान है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

न्याय-वैशेषिक, बौद्ध, जैन आदि सभी नैयायिकों ने अनुमान के दो भेद किये हैं—स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान। 'स्वव्यामोह निवर्तनक्षमम् स्वार्थम्' 'पर व्यामोहनिवर्तनक्षमम् परार्थम्' अर्थात् जो अपने अज्ञान की निवृत्ति करने में समर्थ हो वह स्वार्थानुमान कहलाता है और जो दूसरों के अज्ञान की निवृत्ति करने में समर्थ हो वह परार्थानुमान कहलाता है अथवा अनुमान के मानसिक क्रम को स्वार्थानुमान तथा शाब्दिक क्रम को परार्थानुमान कहा जाता है। स्वार्थानुमान में अनुमाता स्वयं अपने संशय की निवृत्ति करता है तथा परार्थानुमान में दूसरों की संशय निवृत्ति के लिये वाक्य प्रयोग के द्वारा अनुमान की प्रक्रिया निष्पन्न करता है। साधन से होने वाला साध्य का ज्ञान स्वार्थानुमान है, जैसे—किसी ने धूम देखा और दूर देश में स्थित अग्नि का ज्ञान हो गया। इस ज्ञान में पक्ष और दृष्टान्त की आवश्यकता नहीं है। दूसरे को समझाने के लिये पक्ष और हेतु का वचनात्मक प्रयोग करना परार्थानुमान है, जैसे—कोई व्यक्ति दूसरे से कहता है कि देखो उस नदी के किनारे अग्नि है, क्योंकि वहां धुआं दिखायी दे रहा है।

इस प्रकार आत्मगत ज्ञान स्वार्थ और वचनात्मक ज्ञान परार्थ होता है। वस्तुतः ज्ञान परार्थ नहीं होता। वचन में ज्ञान का आरोपण कर उसे परार्थ माना जाता है। उपचार से वचन को ज्ञान मानकर परार्थ कहा जाता है। वस्तुतः वचन ही परार्थ होता है, ज्ञान नहीं। इस पर कुछ लोगों को यह आपत्ति है कि प्रमाण ज्ञानात्मक होता है और परार्थानुमान शब्दात्मक होता है। शब्द जड़ होते हैं अतः शब्दात्मक होने के कारण परार्थानुमान प्रमाण नहीं हो सकता। इसके समाधान में यह कहा गया कि यद्यपि परार्थानुमान शब्दात्मक होता है और शब्द जड़ होते हैं अतः शब्दात्मक होने के कारण परार्थानुमान प्रमाण नहीं हो सकता। फिर भी शब्दात्मक परार्थानुमान स्वार्थानुमान का कारण है अतः कारण को उपचार से कार्य मानकर परार्थानुमान को प्रमाण माना जाता है।

ज्ञान के विषय में स्वार्थ और परार्थ की धारणा जैनों में प्राचीन काल से है। सूत्रकृतांग में ज्ञान के दो साधन बतलाये गये हैं—आत्मतः और परतः। आत्मगत ज्ञान स्वार्थ और वचनात्मक ज्ञान परार्थ होता है। मति आदि चार ज्ञान स्वार्थ होते हैं, श्रुतज्ञान स्वार्थ और परार्थ दोनों होता है। वस्तुतः ज्ञान परार्थ नहीं होता। वचन में ज्ञान का आरोपण कर उसे परार्थ माना जाता है। ज्ञान और वचन में तादात्म्य और तदुत्पत्ति सम्बन्ध नहीं है। वचन एक व्यक्ति के ज्ञान को दूसरे व्यक्ति तक संप्रेषित करता है, इसलिये उपचार से उसे ज्ञान मानकर परार्थ कहा जाता है। वस्तुतः वचन ही परार्थ होता है, न कि ज्ञान। इस प्रकार हम देखते हैं कि ज्ञान के विषय में स्वार्थ और परार्थ की धारणा जैन परम्परा में प्राचीन काल से ही है, किन्तु अनुमान के स्वार्थ और परार्थ ये दो प्रकार नैयायिक और बौद्ध-परम्परा से गृहीत हैं, ऐसा महाप्रज्ञजी का मन्तव्य है।

16.4 अनुमान के अवयव

अनुमान प्रमाण का उपयोग कोई व्यक्ति अपने लिये भी कर सकता है और दूसरों को बताने के लिये भी कर सकता है। दूसरों को समझाने के लिये जब अनुमान का आश्रय लिया जाता है तब स्वाभाविक है कि उसमें कुछ वाक्यों का प्रयोग करना होता है। इन्हीं वाक्यों को न्याय-अवयव या अनुमान-वाक्य कहा जाता है। चार्वाक के अतिरिक्त सभी दार्शनिक इस बात पर तो सहमत हैं कि अनुमान वाक्य में अवयवों का प्रयोग किया जाता है, किन्तु कितने अवयवों का प्रयोग किया जाता है इसमें मतैक्य नहीं है। सांख्य दर्शन के अनुसार प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण और उपनय इन चार अवयवों का नैयायिक के अनुसार प्रतिज्ञा, हेतु, उपनय और निगमन इन पांचों अवयवों का प्रयोग करना चाहिये।

जैन आचार्यों ने प्रत्येक विषय पर अनेकान्त दृष्टि से विचार किया है। अवयव-प्रयोग के संदर्भ में भी उनका यही दृष्टिकोण रहा है। उनके अनुसार श्रोता यदि व्युत्पन्न मति वाला है तो उसके लिये प्रतिज्ञा और हेतु का प्रयोग ही काफी है और यदि श्रोता मन्दमति वाला है तो उसके लिये प्रतिज्ञा, हेतु आदि पांचों अवयवों का प्रयोग किया जा सकता है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी प्रमाण मीमांसा ग्रन्थ में लिखा है—'बोध्यानुरोधात् प्रतिज्ञा हेतूदाहरणोपनयनिगमनानि पञ्चापि।' अर्थात् शिष्य के अनुरोध से प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन इन पांचों का प्रयोग करना चाहिये। निर्युक्तिकार ने पांच तथा दस अवयवों के प्रयोग का निर्देश भी किया है यथा—'कत्थइ पञ्चावयवं दसहा वा सव्वहा ण पडिकुट्ठं ति' अर्थात् कहीं-कहीं पांच अवयव वाला अथवा दस अवयव वाला भी परार्थानुमान होता है। संक्षेप में पंचावयव का स्वरूप इस प्रकार है—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. प्रतिज्ञा

'साध्यनिर्देश: प्रतिज्ञा' साध्य की सिद्धि के लिये उस (साध्य) का निर्देश करना प्रतिज्ञा है। यथा—'पर्वतो वह्निमान्'—पर्वत अग्निमान है।

2. हेतु

'साधनवचनं हेतु' जो निश्चित रूप से साध्य का अविनाभावी (साध्य के बिना नहीं होने वाला) होता है, उसे साधन कहते हैं और साध्य की सिद्धि के लिये साधन का निर्देश (कथन) करना हेतु है। जैसे—'धूमात्' क्योंकि वहां धूम है।

3. उदाहरण

'दृष्टान्तवचनमुदाहरणम्' जिस स्थान पर व्याप्ति को दिखाया जाता है, वह दृष्टान्त है और उसका कथन करना उदाहरण है। यथा—'यत्र-यत्र धूम: तत्र तत्र वह्नि: यथा—महानसम्' जहां-जहां धूम होता है वहां-वहां अग्नि होती है, जैसे—रसोईघर।

4. उपनय

'धर्मिणि साधनस्योपसंहार उपनय:।' साधन-धर्म का साध्य-धर्मी में उपसंहार करना उपनय है। यथा पर्वत धूमयुक्त है।

5. निगमन

'साध्यस्य निगमनम्' साध्य धर्म का धर्मी में उपसंहार करने का नाम निगमन है। यथा—इसलिये पर्वत अग्निमान् है।

इस प्रकार परार्थानुमान में इन पांच अवयवों का प्रयोग किया जाता है।

16.5 हेतु का स्वरूप

अनुमान में साधन को देखकर साध्य का ज्ञान किया जाता है। 'साधनवचनं हेतु' साधन का कथन ही हेतु कहलाता है अत: अनुमान वाक्य का मुख्य आधार हेतु है। हेतु का स्वरूप कैसा हो? इस विषय में दार्शनिकों में मतभेद पाया जाता है। जैन तार्किकों ने हेतु का एकमात्र लक्षण अविनाभाव माना है। अनुमान की प्रामाणिकता के लिये उसमें प्रयुक्त हेतु का निर्दोष होना आवश्यक है। निर्दोष हेतु के अभाव में वह हेतु फिर हेतु नहीं रहता, हेत्वाभास बन जाता है अत: निर्दोष हेतु को समझने के साथ-साथ हेत्वाभास को भी समझना आवश्यक है। क्योंकि किसी भी बात को भली प्रकार समझने के लिये उसकी अच्छाइयों के ज्ञान के साथ-साथ उसके दोषों को भी जानना आवश्यक है, इसलिये दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। जैसे दिन को समझने के लिये रात और रात को समझने के लिये दिन का ज्ञान होना आवश्यक है उसी प्रकार सद् हेतु को समझने के लिये असद्हेतु का ज्ञान भी आवश्यक है। प्राय: हम सभी व्यवहार में दोनों प्रकार के हेतुओं का प्रयोग करते हैं। सद्हेतु के प्रयोग से दुरूह बात भी सुगमता से समझी जा सकती है किन्तु असद्हेतु का प्रयोग करने पर सरल बात भी जटिल हो जाती है। उदाहरणत:—विद्या से अज्ञान तिमिर का नाश होता है। यहां विद्या सद्हेतु है अत: इसके प्रयोग द्वारा अज्ञान रूपी अंधकार का विनष्ट होना सरलतापूर्वक समझा जा सकता है। इसके विपरीत यदि यह कहा जाये कि विद्या से अज्ञान की वृद्धि होती है तो यहां विद्या असत्हेतु होगा। इस प्रकार सद्हेतु ओर असत्हेतु का प्रयोग सृष्टि के अनादिकाल से चला आ रहा है। साधारण व्यक्ति इसके लक्षण आदि से भले ही परिचित न हो, पर उनके व्यवहार में भी इनका प्रयोग अवश्य होता है। साधारण व्यवहार में असद्हेतु एवं लक्षण के प्रकारों को न जानने पर भी कार्य निर्वाह हो सकता है, किन्तु अनुमान के प्रसंग में ऐसी बात नहीं है क्योंकि असद्हेतु के द्वारा अनुमान निष्पन्न नहीं हो सकता। सम्यक् अनुमान के लिये सद्हेतु का ज्ञान आवश्यक है तथा शास्त्रार्थ में तत्त्वनिर्णय और विजय के लिये भी असद्हेतुओं का ज्ञान आवश्यक है। असत्हेतु को ही हेत्वाभास कहते हैं।

16.6 हेत्वाभास

ऐतिहासिक दृष्टि से हेत्वाभास का विवेचन सर्वप्रथम वैशेषिक सूत्र में उपलब्ध होता है। महर्षि कणाद ने स्पष्टत: अप्रसिद्ध, असत् एवं संदिग्ध इन तीन हेत्वाभासों का उल्लेख किया है। जैन परम्परा में हेत्वाभासों का स्पष्ट विवेचन सिद्धसेन दिवाकर के न्यायावतार ग्रन्थ में सर्वप्रथम उपलब्ध होता है। हेत्वाभास सामान्य

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

का लक्षण देते हुये उन्होंने लिखा है कि अन्यथानुपपन्न ही सद्हेतु का एकमात्र लक्षण है, जिस हेतु में इस लक्षण की अप्रतीति, संशय या विपरीतता प्रतिभासित होती है, उसे हेत्वाभास कहा जाता है।

हेत्वाभास की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जा सकती है। 'हेतोराभासा हेत्वाभासा:' अर्थात् हेतु के आभाास का नाम हेत्वाभास है तथा 'हेतुवद् आभासन्ते इति हेत्वाभासा:' अर्थात् जो आपातत: हेतु की तरह प्रतीत होते हैं किन्तु वस्तुत: हेतुलक्षण से शून्य होते हैं, उनको हेत्वाभास कहा जाता है। हेत्वाभासों की संख्या में दार्शनिकों में मतैक्य नहीं है, पर कम-से-कम तीन हेत्वाभासों की चर्चा सभी ने की है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी प्रमाण मीमांसा में तीन हेतुओं की चर्चा की है। 'असिद्धविरुद्धानैकान्तिकास्त्रयो हेत्वाभासा:' अर्थात् असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक ये तीन हेत्वाभास हैं।

1. असिद्ध हेत्वाभास

'अप्रतीयमानस्वरूपोऽसिद्ध:' जिस हेतु में अपने साध्य के साथ अन्यथानुपपत्ति अनिश्चित रहती है, वह असिद्ध हेत्वाभास कहलाता है। जिस हेतु का पक्ष में सर्वथा अभाव पाया जाये अथवा जिसका साध्य के साथ सर्वथा अविनाभाव न हो उसे असिद्ध कहा जा सकता है यथा—'अनित्य: शब्द: चाक्षुषत्वात्' अर्थात् शब्द अनित्य है क्योंकि वह चाक्षुष है। इस अनुमान में चाक्षुष हेतु असिद्ध है, क्योंकि चक्षु का विषय रूप है न कि शब्द।

2. विरुद्ध हेत्वाभास

'साध्यविपरीतव्याप्तो विरुद्ध:' जिसका अविनाभाव साध्य से विपरीत के साथ हो अर्थात् जो साध्य के बिना ही होता हो वह विरुद्ध हेत्वाभास है यथा—'नित्य शब्द: कार्यत्वात्' अर्थात् शब्द नित्य है क्योंकि वह कृतक है। इस अनुमान में कार्यत्वात् हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है क्योंकि कार्यत्वात् हेतु नित्यत्व साध्य से विपरीत अनित्यत्व के होने पर हो सकता है।

3. अनैकान्तिक हेत्वाभास

'अन्यथाऽप्युपपद्यमानोऽनैकान्तिक:' जो हेतु अन्यथा भी उपपद्यमान होता है अर्थात् साध्य के अतिरिक्त दूसरे साध्य में भी घटित होता है, वह अनैकान्तिक हेत्वाभास है यथा—'अनित्य शब्द: प्रमेयत्वात्' शब्द अनित्य है क्योंकि प्रमेय है। इस अनुमान में प्रमेयत्व हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास है यहां प्रमेयत्व हेतु का अविनाभाव अनित्यता साध्य के साथ सिद्ध नहीं है, क्योंकि प्रमेयत्व आकाश आदि नित्य पदार्थों में भी पाया जाता है।

इस प्रकार हेत्वाभास के स्वरूप को समझ लेने पर हेतु के स्वरूप को समझ लेना सुगम हो जाता है। जैन तार्किकों ने हेतु का एकमात्र लक्षण अविनाभाव माना है। 'साध्याविनाभावाभिनिबोधैक लक्षण' अर्थात् साध्य (अग्नि) के बिना साधन (धूम) का न होना ही हेतु का लक्षण है। इसी को अन्यथानुपपत्ति भी कहते हैं। 'अन्यथा' अर्थात् साध्य के अभाव में साधन की अनुपपत्ति (अभाव) को अन्यथानुपपत्ति कहते हैं।

16.7 हेतु लक्षण

हेतु लक्षण के विषय में बौद्धों का कहना है कि हेतु का जो लक्षण 'साध्याविनाभाव' कहा है वह ठीक नहीं है, उनके अनुसार हेतु त्रैरूप्य 1. पक्ष धर्मत्व, 2. सपक्षसत्व और 3. विपक्षासत्व से युक्त होना चाहिए। अर्थात् हेतु को पक्ष में रहना चाहिये, सपक्ष में रहना चाहिये और विपक्ष में नहीं रहना चाहिए। जिसमें ये तीनों लक्षण पाये जाते हैं वही सम्यक् हेतु है। जैसे—इस पर्वत में आग है, क्योंकि यह धूमवाला है। जहां-जहां धूम होता है वहां-वहां आग अवश्य होती है, जैसे रसोईघर। और जहां आग नहीं होती वहां धूम भी नहीं होता, जैसे तालाब। इस अनुमान में 'पर्वत' पक्ष है और आग 'साध्य' है, 'धूमवाला' हेतु है, 'रसोईघर' सपक्ष है और 'तालाब' विपक्ष है। जहां साध्य की सिद्धि की जाती है उसे पक्ष कहते हैं। जैसे इस अनुमान में पर्वत में आग सिद्ध करना है अत: पर्वत पक्ष है जहां साधन के सद्भाव से साध्य का सद्भाव दिखाया जाता है उसे सपक्ष कहते हैं जैसे रसोईघर (यहां धुएं और अग्नि का एक साथ सद्भाव देखा जाता है।) जहां साध्य के अभाव में साधन का अभाव दिखाया जाये उसे विपक्ष कहते हैं जैसे तालाब (यहां अग्नि के अभाव में धुएं का भी अभाव होता है।) ऊपर के अनुमान में

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

धूमत्व हेतु पर्वत रूप पक्ष में रहता है, सपक्ष (रसोईघर) में भी रहता है किन्तु विपक्ष (तालाब) में नहीं रहता। अतः वह निर्दोष हेतु है।

जैन तार्किकों ने हेतु के इस त्रैरूप्य लक्षण का निरसन किया और अन्यथानुपपत्ति या 'अविनाभाव' को ही एकमात्र हेतु का लक्षण माना। उनके अनुसार अविनाभाव के अभाव में हेतु का त्रैरूप्य होने पर भी वह निर्दोष हेतु नहीं हो सकता और अविनाभाव होने पर त्रैरूप्य के बिना भी हेतु गमक हो सकता है। यथा—'रोहिणी नक्षत्र का उदय होगा, क्योंकि कृतिका नक्षत्र का उदय हो चुका है' इस अनुमान में पक्ष धर्मता नहीं है क्योंकि यहां रोहिणी नक्षत्र पक्ष है और वह अभी उदित नहीं हुआ है, उसका भविष्य में उदय होना साध्य है तथा कृतिका का उदय हेतु है। 'कृतिका का उदय' हेतु रोहिणी पक्ष में नहीं रहता। अतः यहां पक्ष धर्मता संभव नहीं होने पर भी यह हेतु अविनाभाव के बल से साध्य को सिद्ध करता है।

इसी तरह सपक्षसत्त्व भी हेतु का लक्षण नहीं है। क्योंकि ऐसे बहुत से हेतु हैं जो सपक्ष में नहीं रहते, फिर भी साध्य को सिद्ध करने में समर्थ हैं जैसे—'सब जगत् क्षणिक है, क्योंकि सत् है। इस अनुमान में कोई सपक्ष नहीं है।' क्योंकि समस्त जगत् को जब पक्ष बना लिया तो कुछ बचा ही नहीं जिसे सपक्ष बनाया जा सके अतः सत् हेतु सपक्ष में नहीं रहता फिर भी यह अपने साध्य को सिद्ध करता है। यदि कोई ऐसा कहे कि यह सत् हेतु विपक्ष में नहीं रहता, अतः साध्य के साथ अविनाभाव नियम से बद्ध होने के कारण ही गमक होते हैं तो फिर उसी अविनाभाव को ही हेतु का प्रधान लक्षण मानना चाहिये। पक्ष धर्मत्व, सपक्ष सत्व आदि को नहीं। आचार्य पात्रकेसरी ने लिखा भी है—

अन्यथानुपपन्नत्वं, यत्र तत्र त्रयेण किम्?
नान्यथानुपपन्नत्वं, यत्र तत्र त्रयेण किम्?

अर्थात् जहां अन्यथानुपपत्ति है वहां हेतु का त्रैरूप्यलक्षण मानने से क्या लाभ?
जहां अन्यथा-अनुपपत्ति नहीं है वहां हेतु का त्रैरूप्यलक्षण मानने से क्या लाभ?

नैयायिकों ने बौद्धों के त्रैरूप्य की तरह पंचरूप्य को हेतु का लक्षण माना है। पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व, अबाधित विषयत्व और असत्प्रतिपक्ष। किन्तु यह लक्षण भी ठीक नहीं है। पक्षधर्मत्व आदि तीन हेतुओं की असमीचीनता हम पढ़ चुके हैं। अबाधित विषयत्व व असत्प्रतिपक्ष भी अविनाभाव के अभाव में उन्हीं के समान हेतु के लक्षण नहीं बन सकते। अतः जैन दर्शन में हेतु का एक रूप ही माना है—अविनाभाव नियम। क्योंकि जब तीन और पांच रूपों के नहीं होने पर भी कुछ हेतु गमक हो सकते हैं और अविनाभाव के अभाव में नहीं हो सकते तो उसी को ही हेतु का लक्षण मानना चाहिए।

अविनाभाव का लक्षण करते हुये आचार्य हेमचन्द्र लिखते हैं—

सहक्रमभाविनोः सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः॥10॥

सहभावियों का सहभाव नियम और क्रमभावियों का क्रमभावनियम अविनाभाव कहलाता है।

ऊहात् तन्निश्चयः॥11॥

ऊह प्रमाण से अविनाभाव-व्याप्ति का निश्चय होता है।

अनुमान हेतुमूलक होता है और हेतु अविनाभावमूलक इसलिये अनुमान का प्रधान अंग हेतु है और हेतु का प्रधान अंग अविनाभाव है। इस अविनाभाव को व्याप्ति भी कहते हैं। व्याप्ति का सामान्य अर्थ है—विशेष सम्बन्ध। विशेष का अर्थ है नियत। साधन और साध्य के बीच अनिवार्य सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। सम्बन्ध दो वस्तुओं में होता है और जिन दो वस्तुओं में व्याप्ति होती है, उनमें से एक व्यापक तथा दूसरा व्याप्त होता है। जिसकी व्याप्ति होती है वह व्यापक और जिसमें व्याप्ति रहती है वह व्याप्य कहलाता है। व्यापक का क्षेत्र बड़ा और व्याप्य का क्षेत्र छोटा होता है। जैसे आग और धूम में आग व्यापक और धूम व्याप्य है। व्याप्य कभी भी व्यापक के बिना नहीं रह सकता जबकि व्यापक के लिये ऐसा प्रतिबंध नहीं है।

व्याप्ति दो प्रकार की होती है—'समव्याप्ति और 2. विषम व्याप्ति।' जहां व्याप्य और व्यापक का क्षेत्र बराबर होता है वहां सम व्याप्ति होती है, जैसे—जो प्रमेय है वह अभिधेय भी है। यहां दोनों का क्षेत्र बराबर है अतः दोनों में से किसी को भी व्याप्य या व्यापक माना जा सकता है। सम व्याप्ति के उदाहरण

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कम प्राप्त होते हैं। जहां व्याप्य-व्यापक का क्षेत्र बराबर नहीं होता, व्याप्य का कम होता है वहां विषम व्याप्ति होती है, जैसे जहां-जहां धूम है वहां-वहां अग्नि है।

जहां अविनाभाव नहीं होता वहां व्याप्ति का निर्माण नहीं हो सकता। यह अविनाभाव सहभाव और क्रमभाव दोनों प्रकार से हो सकता है।

सहभाव

दो सहचरों और व्याप्य व्यापक का सहभाव होता है। सहचरों का सहभाव, जैसे—फल में रूप और रस सहचारी हैं। व्याप्यव्यापक का सहभाव, जैसे—वृक्षत्व व्यापक है और चन्दनत्व व्याप्य है।

क्रमभाव

पूर्वचर और उत्तरचर तथा कारण और कार्य में क्रमभाव होता है। पूर्वचर और उत्तरचर का क्रमभाव, जैसे—रविवार के पश्चात् सोमवार आता है। कारण और कार्य का क्रमभाव, जैसे—अग्नि कारण है, धूम उसका कार्य है।

व्याप्ति का ग्रहण किस प्रमाण से होता है इस विषय में दार्शनिकों में मतैक्य नहीं है। कोई प्रत्यक्ष से तो कोई अनुमान से तो कोई किसी अन्य प्रमाण से व्याप्ति का ग्रहण स्वीकार करते हैं किन्तु जैन दार्शनिक तर्क को ही व्याप्ति का ग्राहक मानते हैं। इसकी चर्चा विस्तार से आप पिछले पाठ में पढ़ चुके हैं।

इस प्रकार जैनदर्शन में हेतु का एकमात्र लक्षण अन्यथानुपपन्न या अविनाभाव मान्य है। आचार्य सिद्धसेन ने इसे प्रयोग भेद से दो प्रकार का कहा है—

1. तथोपपत्ति और 2. अन्यथानुपपत्ति। आगम ग्रन्थों (स्थानांगसूत्र, नंदीसूत्र एवं अनुयोगद्वार) तथा अकलंक भट्ट एवं माणिक्यनंदी ने दो भेद किये हैं—1. उपलब्धि और 2. अनुपलब्धि।

हेतुभेद के जितने उपविभेद जैन नैयायिकों ने किये हैं उतने बौद्ध एवं वैदिक नैयायिकों ने नहीं किये हैं प्रमाणमीमांसा ग्रन्थ में आचार्य हेमचन्द्र हेतु के पांच भेदों का उल्लेख करते हुये लिखते हैं—

स्वभावः कारणं कार्यमेकार्थसमवायि विरोधि चेति पञ्चधा साधनम्॥12॥

स्वभाव, कारण, कार्य, एकार्थसमवायि और विरोधी ये पांच प्रकार के साधन हैं।

इन पांच हेतुओं में स्वभाव, कारण, कार्य और एकार्थसमवायि ये चार विधि के साधक तथा विरोधी हेतु निषेध का साधक होता है। पांचों हेतुओं का संक्षिप्त वर्णन क्रमशः इस प्रकार है—

1. स्वभाव हेतु

जो हेतु स्वभाव अर्थात् अपनी सत्ता से भिन्न किसी अन्य हेतु की अपेक्षा नहीं रखता, वह स्वभाव हेतु कहलाता है। जैसे—यह अग्नि है, क्योंकि उष्ण है। यहां साध्य (अग्नि) अपनी सिद्धि के लिये अपने ही स्वभाव (उष्णत्व) की अपेक्षा रखती है, अन्य किसी की नहीं, क्योंकि अग्नि का स्वभाव ही उष्णत्व है।

2. कारण हेतु

कहीं-कहीं कारण भी हेतु बनता है। जैसे—वर्षा के अनुमान में विशिष्ट मेघ कारण हेतु बनते हैं। विशिष्ट मेघों को देखकर आबालगोपाल सभी वर्षा का अनुमान कर लेते हैं।

3. कार्य हेतु

जो हेतु साध्य से उत्पन्न हो, वह कार्य हेतु कहलाता है। उदाहरणतः पर्वत पर अग्नि है, क्योंकि वहां धुआं है। इस अनुमान में हेतु (धूम) कार्य हेतु है, क्योंकि वह अग्नि से उत्पन्न होता है। अतः अग्नि का कार्य है। धूम रूपी कार्य को देखकर हम अग्नि का अनुमान कर लेते हैं अतः यह कार्य हेतु है। इसी प्रकार वर्षा के अनुमान में विशिष्ट नदीपूर, चैतन्य के अस्तित्व में प्राणादि हेतु कार्य हेतु हैं।

4. एकार्थ समवायि

दृष्ट या अदृष्ट एक ही पदार्थ में समवाय से जो साधन साध्य के साथ रहता हो वह एकार्थ समवायि कहलाता है। वह एकार्थ समवायि एक ही फल में रहे हुये रूप और रस में, शकटोदय और कृतिकोदय में, चन्द्रोदय और समुद्रवृद्धि में जानना चाहिये। इन उदाहरणों में ये परस्पर एक-दूसरे के एकार्थ

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

समवायि हैं। उदाहरणतः रूप रस का और रस रूप का एकार्थ समवायि है, क्योंकि समकालभावी वस्तुओं में कार्य-कारण भाव नहीं होता।

5. विरोधी हेतु

ऊपर बताये गये स्वभावादि चार हेतु विधि के साधक हैं, किन्तु विरोधी हेतु निषेध का साधक होता है। वह अपनी विद्यमानता में दूसरे का निषेध सिद्ध करता है, अन्यथा विरोध ही सिद्ध नहीं हो सकता। उदाहरणतः यहां शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि अग्नि है। जहां अग्नि होती है वहां उष्ण स्पर्श होता है शीत स्पर्श नहीं, अतः अग्नि शीत स्पर्श का विरोधी हेतु है। इस प्रकार नाना प्रकार से हेतुओं का प्रयोग होता है।

पाठ के प्रारम्भ में आपने पढ़ा कि साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं।

16.8 साध्य लक्षण– अनुमान में साधन का जितना महत्त्व है उतना ही महत्त्व साध्य का भी है अतः साधन का लक्षण करने के पश्चात् अब साध्य का लक्षण करते हुये आचार्य हेमचन्द्र लिखते हैं—

सिषाधयिषितमसिद्धमबाध्यं साध्यं पक्षः॥13॥

वादी जिसे सिद्ध करना चाहता हो, जो प्रतिवादी को सिद्ध न हो और जो प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से बाधित न हो वह साध्य कहलाता है। साध्य को पक्ष भी कहते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में साध्य के तीन विशेषण दिये हैं—सिषाधयिषित, असिद्ध और अबाध्य। साध्य को सिद्ध करने की इच्छा सिषाधयिषित कहलाती है। इस विशेषण से यह फलित होता है कि वादी जिसे सिद्ध करना नहीं चाहता, उसका कथन कर देने पर भी वह साध्य नहीं कहलाता और वादी जिसे सिद्ध करना चाहता है उसका कथन न करने पर भी वह साध्य कहलाता है। उदाहरणतः वैशेषिक के मत में शास्त्र में शब्द नित्य है, ऐसा कहा गया है। पर यदि वे शब्द की नित्यता सिद्ध करना नहीं चाहते तो वह उनका साध्य नहीं बन सकता तथा न कहने पर भी यदि सिद्ध करने की इच्छा हो तो वह साध्य बन जाता है, यथा—न्याय मत में पृथ्वी आदि बुद्धिमान् कर्त्ता द्वारा बनाये गये हैं, क्योंकि वे कार्य हैं। इस अनुमान वाक्य में यद्यपि बुद्धिमान्कर्त्ता को साध्य शब्द से कहा गया है किन्तु फिर भी यहां पर मूल ईश्वर का अशरीरी कर्त्तृत्य सिद्ध करना है और उसी को साध्य माना गया है।

साध्य पहले से असिद्ध होना चाहिये। इस विशेषण के द्वारा यह सूचित किया गया है कि जिसमें संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय आदि हों, वही साध्य होता है। जो प्रतिवादी को पहले से ही सिद्ध है, वह साध्य नहीं हो सकता, यथा—शब्द श्रावणत्व है। यहां शब्द का श्रावणत्व होना वादी और प्रतिवादी दोनों को सिद्ध है, अतः यह साध्य नहीं बन सकता। अबाध्य विशेषण से आचार्य हेमचन्द्र का क्या तात्पर्य है इसे स्पष्ट करते हुये अगले सूत्र में लिखते हैं—

प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनप्रतीतयोबाधाः॥14॥

प्रत्यक्ष बाधा, अनुमान बाधा, आगम बाधा, लोक बाधा, स्ववचन बाधा और प्रतीति बाधा, ये सब साध्य सम्बन्धी बाधायें हैं।

जब प्रत्यक्ष आदि साध्य से विपरीत अर्थ के साधक होते हैं, तब वे बाधा कहलाते हैं। इन्हें उदाहरण से आसानी से समझा जा सकता है।

1. प्रत्यक्ष बाधा

यदि कोई यह कहे कि अग्नि उष्ण नहीं है, मधु मधुर नहीं है तो यहां अग्नि में अनुष्णता और मधु की अमधुरता प्रत्यक्ष से बाधित हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष से अग्नि उष्ण एवं मधु-मधुर प्रतीत होता है।

2. अनुमान बाधा

यदि कोई यह कहे कि शब्द नित्य है क्योंकि कृतक है तो इस अनुमान में नित्यत्व साध्य कृतकत्वात् हेतु से बाधित है क्योंकि शब्द कृतक है और जो-जो कृतक होता है वह-वह अनित्य होता है अतः शब्द की नित्यता अनुमान से बाधित है।

3. आगम बाधा

यदि कोई यह कहे कि धर्म परलोक में दुःखदायी है तो यह कथन आगम से बाधित है, क्योंकि आगम में धर्म को सुख का कारण माना गया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4. लोक बाधा

यदि कोई यह कहे कि मनुष्य के सिर की खोपड़ी पवित्र होती है तो यह लोक बाधा है क्योंकि लोक में मनुष्य की खोपड़ी को अपवित्र माना गया है।

5. स्ववचन बाधा

यदि कोई यह कहे कि मेरी माता बन्ध्या है तो यहां स्ववचन बाधा है क्योंकि बन्ध्या से पुत्र उत्पन्न नहीं हो सकता है। यदि माता है तो वह बन्ध्या नहीं हो सकती।

6. प्रतीति बाधा

यदि कोई यह कहे कि चन्द्रमा शशी नहीं है तो यह प्रतीति बाधा है, क्योंकि चन्द्रमा का शशी शब्द द्वारा वाच्य होना प्रसिद्ध है। इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने कहा कि जो सिषाधयिषित्, असिद्ध एवं अबाधित होता है वह साध्य होता है किन्तु फिर जिज्ञासा हो सकती है कि उन्होंने धर्म (अग्नि) को साध्य माना है या धर्म धर्मी के समुदाय अर्थात् अग्नि धर्म से युक्त पर्वत को साध्य माना है। इसके समाधान में आचार्य हेमचन्द्र लिखते हैं—

साध्यं साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी, क्वचित्तु धर्मः ॥15॥

साध्य धर्म से युक्त धर्मी साध्य होता है, किन्तु कहीं धर्म भी साध्य होता है।

प्रस्तुत सूत्र में आचार्य हेमचन्द्र यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि धर्म (अग्नि) भी साध्य बनता है और धर्म विशिष्ट धर्मी (पर्वत अग्निमान् है) भी साध्य बनता है। जब 'पर्वतो वह्निमान्' इस प्रकार से अनुमान वाक्य का प्रयोग किया जाता है तब साध्य धर्म से युक्त धर्मी साध्य होता है, जैसे—पर्वत अग्निमान् है, इस वाक्य में अग्निमान् धर्म से युक्त पर्वत पक्ष या साध्य है किन्तु व्याप्ति का ग्रहण करते समय केवल धर्म ही साध्य होता है। उस समय यदि धर्म को ही साध्य न बनाकर यदि धर्मी को साध्य बना लिया जाता है तो जहां-जहां धूम है वहां-वहां अग्नि है ऐसी व्याप्ति ही नहीं बन सकेगी किन्तु फिर तो जहां-जहां धूम है वहां-वहां पर्वत में अग्नि है ऐसी व्याप्ति बनने लगेगी जो कि संभव नहीं है, क्योंकि महानस आदि स्थलों में धूम के कहने पर भी वहां पर्वतत्व नहीं है।

इस प्रकार नैयायिक और बौद्धों के अनुसार जहां केवल धर्म से युक्त धर्मी पक्ष है वहां आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार ऐसा पक्ष केवल अनुमान काल में होता है, व्याप्ति काल में नहीं।

16.9 पक्ष का स्वरूप- साध्य के स्वरूप पर विमर्श करने के पश्चात् अब धर्मी के स्वरूप पर विचार करते हुये आचार्य हेमचन्द्र लिखते हैं—

धर्मी प्रमाणसिद्धः ॥16॥

धर्मी प्रमाण से सिद्ध होता है।

बुद्धिसिद्धोऽपि ॥17॥

धर्मी बुद्धिसिद्ध भी होता है।

धर्मी अर्थात् पक्ष। जिस स्थान पर साध्य को सिद्ध किया जाता है वह स्थान पक्ष कहलाता है। जैसे जब पर्वत पर अग्नि को सिद्ध करते हैं तो अग्नि साध्य और पर्वत पक्ष कहलाता है। इस सूत्र में आचार्य हेमचन्द्र यह बताना चाहते हैं कि धर्मी अर्थात् पक्ष प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध होता है। पक्ष को सिद्ध नहीं करना पड़ता है। जैसे पर्वत पर अग्नि को सिद्ध करते समय पर्वत पहले से प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध है। पर्वत को सिद्ध करने के लिये हेतु देने की आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि यदि पर्वत ही असिद्ध हो तो हम अग्निरूप साध्य कहां सिद्ध करेंगे अतः धर्मी प्रमाणसिद्ध होता है।

'बुद्धिसिद्धोऽपि' सूत्र में आचार्य हेमचन्द्र इस विषय में अपवाद का निर्देश करते हुये कहते हैं कि धर्मी एकान्ततः प्रमाण से ही सिद्ध हो, ऐसी बात नहीं है, कहीं-कहीं पर वह विकल्प बुद्धि से भी सिद्ध होता है। जैसे सर्वज्ञ है, षष्ठ भूत नहीं है इत्यादि। सर्वज्ञ और षष्ठभूत का अस्तित्व या नास्तित्व प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध नहीं है किन्तु इन्हें बुद्धिसिद्ध मानकर इनके अस्तित्व ओर नास्तित्व को सिद्ध किया जाता है।

कभी-कभी धर्मी प्रमाणसिद्ध और बुद्धिसिद्ध दोनों होते हैं यथा—'शब्द अनित्य है' यहां वर्तमान शब्द प्रत्यक्ष प्रमाण से गम्य है अतः प्रमाणसिद्ध है और भूत भविष्य कालिक शब्द बुद्धिगम्य है। अनुमान में

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

साध्य साधन के अतिरिक्त दृष्टान्त का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। फिर साध्य और साधन को ही अनुमान के अंग रूप से क्यों स्वीकार किया है। इसके समाधान में आचार्य हेमचन्द्र लिखते हैं—

न दृष्टान्तोऽनुमानाङ्ग.म् ॥18॥

दृष्टान्त अनुमान का अंग नहीं है।

साधनमात्रात् तत्सिद्धेः ॥19॥

साधन मात्र से साध्य की सिद्धि हो जाती है।

स व्याप्तिदर्शनभूमि ॥20॥

दृष्टान्त व्याप्ति को दिखलाने का स्थान होता है।

स साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां द्वेधा ॥21॥

साध्यर्म्य और वैधर्म्य के भेद से दृष्टान्त दो प्रकार का होता है।

साधनधर्म प्रयुक्तसाध्यधर्मयोगी साधर्म्य दृष्टान्तः ॥22॥

साधन धर्म की बदौलत जो साध्य धर्म वाला हो अर्थात् जहां साधन होने से साध्य पाया जाये वह साधर्म्य दृष्टान्त कहलाता है।

साध्यधर्मनिवृत्तिप्रयुक्तसाधनधर्मनिवृत्तियोगी वैधर्म्यदृष्टान्तः ॥23॥

साध्य धर्म के अभाव के कारण जहां साधन धर्म का अभाव हो वह वैधर्म्य दृष्टान्त कहलाता है।

दृष्टान्त

लोक व्यवहार को जानने वाले तथा शास्त्र में निपुण लोग जिस विषय में एकमत हो, वह दृष्टान्त कहलाता है। जैसाकि न्यायसूत्र में कहा है—'लौकिक परीक्षकाणां यास्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः' अर्थात् लौकिक पुरुष जिस अर्थ को जिस रूप में जानते हैं, परीक्षक पुरुष भी यदि उसे वैसा ही स्वीकार करते हैं तो वह दृष्टान्त माना जाता है। सर्वदर्शन संग्रह के अनुसार जिसके आधार पर व्याप्ति सम्बन्ध का ज्ञान होता है वह दृष्टान्त है या जिस स्थान विशेष पर साध्य और साधन को एक स्थान पर दिखाया जाता है वह दृष्टान्त है। दृष्टान्त के दो भेद हैं—साधर्म्य दृष्टान्त और वैधर्म्य दृष्टान्त।

1. साधर्म्य दृष्टान्त

जहां साधन के सद्भाव से साध्य का सद्भाव दिखाया जाता है वह साधर्म्य दृष्टान्त कहलाता है, जैसे—जहां-जहां धूम होता है वहां-वहां अग्नि होती है जैसे—रसोईघर। यहां रसोईघर साधर्म्य दृष्टान्त है। यहां साधन धुएं और साध्य अग्नि का एकसाथ सद्भाव देखा जाता है।

2. वैधर्म्य दृष्टान्त

जहां साध्य के अभाव में साधन का अभाव दिखाया जाता है, वह वैधर्म्य दृष्टान्त कहलाता है। जैसे—जहां-जहां अग्नि नहीं होती वहां-वहां धुआं भी नहीं होता, जैसे—तालाब। यहां तालाब वैधर्म्य दृष्टान्त है। यहां साध्य अग्नि और साधन धूम दोनों का अभाव पाया जाता है।

16.10 सारांश- इस प्रकार हम देखते हैं कि चार्वाक के अतिरिक्त अन्य सभी दार्शनिकों ने अनुमान को एक पृथक् प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है। प्रत्यक्ष प्रमाण जहां सम्बद्ध वर्तमान को ही ग्रहण करता है वहां अनुमान का क्षेत्र विशाल है। अनुमान सम्बद्ध, असम्बद्ध, सूक्ष्म, अतीन्द्रिय तथा भूत, भविष्य और वर्तमान सभी पदार्थों का बोध करने का सामर्थ्य रखता है। हमारे कार्यकलाप या व्यवहार मात्र प्रत्यक्ष पर ही निर्भर नहीं होते, अधिकांश कार्यों में हम अनुमान का सहारा लेते हैं अतः चार्वाक की तरह एकमात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानना समुचित नहीं है।

16.11 अभ्यास प्रश्नावली

1. निबंधात्मक प्रश्न

1. अनुमान प्रमाण पर एक सारगर्भित निबन्ध लिखें।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2. लघूत्तरात्मक प्रश्न

क. 'तद्द्विधा स्वार्थं परार्थं च' सूत्र की व्याख्या करें।

ख. हेत्वाभास किसे कहते हैं?

3.वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. अनुमान के कितने प्रकार हैं?
2. न्याय-अवयव किसे कहते हैं?
3. प्रतिज्ञा किसे कहते हैं?
4. जैन दर्शन के अनुसार हेतु का स्वरूप क्या है?
5. व्याप्ति का निश्चय किससे होता है?
6. सिषाधयिषित से क्या तात्पर्य है?
7. 'मेरी माता बन्ध्या है' इस वाक्य में कौन-सी बाधा है?
8. बुद्धिसिद्ध धर्मी का उदाहरण क्या है?
9. दृष्टान्त कितने प्रकार के होते हैं?
10. अनुमान का आधार स्तम्भ क्या है?

☆☆☆

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. जैन दर्शन मनन और मीमांसा: आचार्यश्री महाप्रज्ञ
2. जैन धर्म और दर्शन: डॉ. मोहनलाल मेहता
3. ज्ञान बिन्दु प्रकरण: पं. सुखलालजी संघवी
4. नंदीसूत्र: व्याख्याकार आचार्यश्री महाप्रज्ञ
5. नंदीसूत्र—व्याख्याकार—आचार्य महाप्रज्ञ, जै.वि.भा., लाडनूं
6. श्री भिक्षु आगम विषय कोश, वा.प्र. गणाधिपति तुलसी, आ. महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं-341306 (राज.)
7. नन्दी—वा.प्र. गणाधिपति तुलसी, आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं-341306 (राज.)
8. गुरु सोपान वरैया स्मृतिग्रंथ, प्रकाशक—भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद् वर्णीभवन, सागर श्रुतज्ञान व उसका वर्ण्य विषय, पंत्र कैलाश चन्द्र शास्त्री।
9. नंदी सभाष्य आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं
10. नंदी सभाष्य (सू. 26-33) आचार्य महाप्रज्ञ, प्रकाशक—जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.)
11. प्रमाणमीमांसा की प्रस्तावना—पं सुखलालजी सिंघवी, प्र.सरस्वती पुस्तक भण्डार, अहमदाबाद
12. जैन न्याय का विकास—आचार्य महाप्रज्ञ, प्र. आदर्श साहित्य संघ, चूरू
13. सागर जैन विद्या भारती—डॉ. सागरमल जैन, प्र. पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
14. जैन न्याय का विकास, आचार्य महाप्रज्ञ, प्रका. आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राज.)
15. जैन न्याय, पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली
16. नंदीसूत्र का समीक्षात्मक अध्ययन, साध्वी श्रुतयशा, अप्रकाशित
17. स्याद्वादमंजरी एक समीक्षात्मक अध्ययन, किरणबाला जैन, प्रकाशक—दिल्ली
18. जैन न्याय का विकास, आचार्य महाप्रज्ञ, प्रका. आदर्श साहित्य संघ, चुरू
19. स्याद्वादमंजरी एक समीक्षात्मक अध्ययन, किरण बाला जैन, प्रकाशक—दिल्ली
20. जैन न्याय, कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन।
21. जैन न्याय का विकास, आचार्य महाप्रज्ञ, प्र. आदर्श साहित्य संघ, चूरू
22. आर्हती दृष्टि, समणी मंगलप्रज्ञा, प्र. आदर्श साहित्य संघ, चूरू

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun